महापुरुषों की खोज

127



८१०.०९२
बना|म

बनारसीदास चतुर्वेदी

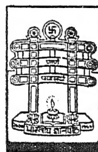
महापुरुषों की खोज में

सात दशकों की साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं क्रान्तिकारी
गतिविधियों का दस्तावेज़

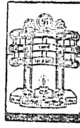
महापुरुषों की खोज में

(आत्म-चरित)

बनारसी दास चतुर्वेदी



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन



लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक 428

महापुरुषों की खोज में
(आत्म-चरित)

बनारसी दास चतुर्वेदी

प्रथम संस्करण : 1983

मूल्य : 55 रुपये

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी/45-47, कनॉट प्लेस
नयी दिल्ली-110001

मुद्रक
शान प्रिंटर्स
शाहदरा, दिल्ली-110032

आवरण शिल्पी : **कुमारिल स्वामी**

MAHAPURUSHON KI KHOJ MEIN : Autobiography by Banarasi Das Chaturvedi. Published by Bharatiya Jnanpith, B/45-47, Connaught Place, New Delhi-110001. Printed at Shan Printers, Shahdara. Delhi-110032. First Edn. 1983. Rs. 55.00

भूमिका

आत्म-चरित लिखने का मेरा कोई विचार नहीं था और जब कभी मेरे सहयोगियों ने यह प्रस्ताव मेरे सामने रखा, मैंने उसे मज़ाक में ही उड़ा दिया। सर्वप्रथम कविवर माखनलाल चतुर्वेदी ने यह सुझाव दिया था तब मैंने उत्तर दिया था, "मेरे आत्म-चरित के छपने के बाद हिन्दी जगत् में एक ऊधम-सा मच जायेगा। लोग कहेंगे, जिसे हमने भलामानस समझा था वह बड़ा धूर्त्त निकला। चलते-चलते हम लोगों को चकमा दे गया।" इस पर माखनलाल जी ने कहा, "जनाब ! आप कोई नया काम तो नहीं करेंगे। आपसे बहुत वर्ष पहले मध्य प्रदेश में एक ठाकुर साहब ने यही करिश्मा कर दिखाया था। वह ज़िन्दगी-भर लोगों से लड़ते रहे, मार-पिटाई और मुकदमेबाज़ी की भी नौबत आ गयी। अन्त में, उन्होंने एक नाटक किया। मरणासन्न होने पर उन्होंने अपने सभी विरोधियों को घर पर बुलाया और बड़े दीन भाव से बोले, 'डाक्टरों और वैद्यों ने मेरे जीवन की आशा बिल्कुल ही छोड़ दी है और अब मैं जा रहा हूँ।' आगन्तुक लोग बोले, 'ठाकुर साहब ! जो हो गया, सो हो गया, हम लोग उसे भूल चुके हैं। आप कोई पछतावा न कीजिये।' इस पर ठाकुर साहब ने कहा, 'मेरे मन को तभी सन्तोष होगा, जब आप लोग एक काम करें।' लोगों ने पूछा, 'क्या काम ?' तब ठाकुर साहब बोले, 'आप लोग एक कील लाइये और उसे मेरे कण्ठ पर रखकर धीरे से दबाते हुए छू दीजिये। तब मैं समझूँगा कि मेरा प्रायश्चित हो गया।' सब लोग ठाकुर की अन्तिम इच्छानुसार ऐसा ही करने लगे। एक उत्साही व्यक्ति ने ज़रा ज़ोर से कील ठोक दी। उससे तत्काल ठाकुर साहब का देहान्त हो गया। उन सब पर मुकदमा चला और उन सबको छः-छः महीने की जेल हुई। जेल में दुखित होकर वे सब कह रहे थे, 'ठाकुर अन्तिम चोट भी कर गया।' "

स्वर्गीय भाई हरिशंकर जी शर्मा ने भी आत्म-चरित के लिए आग्रह किया था। उसके जवाब में मैंने कहा था, "यदि मैंने अपने जीवन का सच्चा-सच्चा वृत्तान्त लिखा तो मेरे अनाचारों और दुराचारों के किस्से पढ़कर लोक-हृदय को धक्का लगेगा।" इस पर हरिशंकर जी ने कहा, "हम तो यह चाहते हैं कि आप अपने साहित्यिक कार्यों का वर्णन करें। ऊल-जलूल विषयों पर न लिखें।"

इन दोनों बन्धुओं के सिवाय अन्य मित्रों और परिचितों ने भी यही आग्रह मुझसे किया था। 'नवनीत' के भूतपूर्व यशस्वी सम्पादक श्री नारायणदत्त जी की सेवा में मैंने एक लेख 'महापुरुषों की खोज में' भेजा था। उन्होंने लौटती डाक से ओटावा (कनेडा) के विश्वविख्यात फ़ोटोग्राफर यूसुफ़ कार्श की एक पुस्तक ही भेज दी जिसमें संसार के प्रसिद्ध पुरुषों के फ़ोटोग्राफ थे। पुस्तक का नाम था, 'इन सर्च ऑफ़ ग्रेट मैन'। पुस्तक मुझे बहुत पसन्द आयी। यद्यपि फ़ोटोग्राफर साहब की कीर्ति से मैं भली-भाँति परिचित था तथापि

नामों के इस टकराव से मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने इसी नाम से एक लेखमाला आरम्भ कर दी और बोलकर कई लेख लिखा भी दिये थे। उनमें से कितने ही मेरी नब्बेवीं वर्षगाँठ पर नरेशचन्द्र चतुर्वेदी और श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी के सहयोग से पुस्तकाकार छप भी गये।

मैं कोई महापुरुष नहीं और न मैं यह आशा ही रखता हूँ कि इस पुस्तक के पाठक मुझसे कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकेंगे। हाँ, वे मेरी त्रुटियों से अवश्य ही सीख सकते हैं। सत्तर-इकहत्तर वर्षों से निरन्तर लिखते रहने के कारण मेरा नाम अवश्य ही अत्यन्त विज्ञापित हो चुका है और उससे लोगों में भ्रम उत्पन्न हो गया है कि मैं भी कोई बड़ा आदमी हूँ।

एक बात में मैं अवश्य सौभाग्यशाली रहा हूँ, वह यह कि इतने महापुरुषों को नज़दीक से जानने का मौक़ा हिन्दी के बहुत कम लेखकों को मिला होगा। मेरे इस ग्रन्थ का मूल आधार महापुरुषों के संस्मरण ही हैं।

एक बात और भी, वह यह कि विज्ञापित महापुरुषों के विषय में लिखना आसान है पर तथाकथित 'क्षुद्र' व्यक्तियों में महत्त्व की तलाश करना अपेक्षाकृत कठिन ही है। मुझे इस प्रकार के साधारण व्यक्तियों में अनेक ख़ूबियाँ दीख पड़ीं जिनका उल्लेख मैंने यथास्थान कर दिया है। मामूली व्यक्तियों के कृतज्ञतापूर्ण हार्दिक भावों को मैं महापुरुषों के आशीर्वादों से कम महत्त्व नहीं देता। एक युवा कवि ने मेरे सहयोगी श्री यशपाल जैन को पत्र लिखा था : "मैं मरणासन्न हूँ। मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि चतुर्वेदी जी के हाथ का लिखा एक पत्र तो मेरे पास हो।" मैंने लौटती डाक से पत्र लिख भेजा। उन कवि महोदय का देहान्त हो गया पर उनकी अन्तिम चिट्ठी को मैं अपने लिए सबसे बड़ा प्रमाण-पत्र मानता हूँ।

इस ग्रन्थ में जहाँ मैंने विश्वविख्यात महापुरुषों का गुणगान किया है, वहाँ एक साधारण मज़दूर बाज़ ख़ाँ को भी मैं नहीं भूला। चरित्र-चित्रण मेरा प्रिय विषय है और पचासों रेखा-चित्र मैंने प्रस्तुत किये हैं। वे रेखा-चित्र 'हमारे आराध्य', 'संस्मरण' और 'विश्व की विभूतियाँ' नामक पुस्तकों में उद्‌धृत हैं। इनके अतिरिक्त बीसियों रेखा-चित्र पत्रों की पुरानी फ़ाइलों में अलग-थलग पड़े हुए हैं।

मेरा प्रथम लेख मई-जून 1912 के 'नवजीवन' में छपा था और पिछले सत्तर वर्षों से मैं निरन्तर लिखता ही रहा हूँ। अब इक्यानवेंवाँ वर्ष समाप्त होने को है और वह समय आ गया है जब मैं अपने पिछले कार्यों पर एक विहंगम दृष्टि डालकर काम को समेट लूँ। कविवर बच्चन जी की एक कविता है—"जाल समेटा करने में भी समय लगा करता है माँझी, मोह मछलियों का अब छोड़।" पर मेरे साथ मुश्किल यह है कि नवीन मछलियों का मोह मैं छोड़ नहीं पाता। ज्योंही किसी असाधारण व्यक्तित्व की झलक मुझे मिलती है, मैं उसे अपनी क़लम की नोक पर उतारने के लिए व्याकुल हो जाता हूँ। जिस प्रकार कोई कुशल चित्रकार अपने द्वारा अंकित चित्रों को बार-बार स्पर्श करता है, ताकि उसे अन्तिम रूप दे सके, उसी प्रकार का संयोग मेरे जीवन में भी उपस्थित हो गया है।

चालीस पचास सन्दूकों और सौ-सवा सौ फ़ाइल बॉक्सों में बिखरी पड़ी सामग्री को व्यवस्थित करना कोई आसान काम नहीं। मेरी 30-35 किताबें और सम्पादित विशेषाँक छप चुके हैं और सैकड़ों ही लेख इधर-उधर पड़े हुए हैं जिनसे 10-12 ग्रन्थ तैयार हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त मेरी महत्त्वपूर्ण सामग्री दो संग्रहालयों — राष्ट्रीय अभिलेखागार, नयी दिल्ली और आगरा विश्वविद्यालय के चतुर्वेदी कक्ष केन्द्र में सुरक्षित हो चुकी है।

हिन्दी जगत् से मुझे कोई शिकायत नहीं। मुझे अपनी योग्यता से कहीं अधिक सम्मान मिल चुका है। औसतन 10-12 रुपये मासिक पाने वाले एक मुदर्रिस के पुत्र को, जो इण्टर से आगे नहीं पढ़ सका, अत्यन्त दुर्लभ अवसर मिले और अब भी मिल रहे हैं। अगर मुझे किसी से शिकायत है तो ख़ुद अपने से ही। पूरी ईमानदारी के साथ मैं यह स्वीकार करूँगा कि मेरे द्वारा अपनी शक्ति, समय और साधनों का जो घोर अपव्यय हुआ है वह सर्वथा अक्षम्य है, पर कहावत है, "जब जग जाय तभी सवेरा है।" सो अब मैं जाग्रत हो गया हूँ और यह पुस्तक 'महापुरुषों की खोज में' उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

यह भी एक आकस्मिक घटना ही समझिये कि मेरे क्षुद्र जीवन का एक बड़ा भाग दूसरों की चिन्ता करने में ही बीता। आस्ट्रिया के सुप्रसिद्ध तथा विश्व-विख्यात लेखक ज़्विग ने फ्राँस के एक लेखक वेज़ेल गेट का उल्लेख करते हुए लिखा था कि उन्होंने फ्राँसीसी प्रतिभाओं को आगे बढ़ाने में ही अपनी सारी शक्ति ख़र्च कर दी थी जब कि वह स्वयं प्रतिभाशाली लेखक थे। वेज़ेल गेट के पथ का यत्किंचित् अनुसरण करते हुए मेरे मन को जो सन्तोष मिला है वही मेरा सबसे बड़ा पारिश्रमिक है और मैं बिना संकोच के कह सकता हूँ कि यह सौदा घाटे का नहीं है।

यह ग्रन्थ कदापि तैयार न हो पाता यदि बन्धुवर डॉ० मथुराप्रसाद मानव ने बार-बार तकाज़ा करके तथा दो घण्टे प्रतिदिन इस कार्य के लिए देकर मुझसे ये संस्मरण न लिखाये होते। भाई नरेशचन्द्र जी चतुर्वेदी (कानपुर) तथा जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी (नयी दिल्ली) ने प्रारम्भ से ही मुझे सहयोग दिया है। जगदीश जी तो पत्रकारिता के क्षेत्र में मेरे वास्तविक उत्तराधिकारी हैं। मैं केवल एक बार श्रमजीवी पत्रकार संघ का प्रधान रहा और वह दो बार रह चुके हैं। श्री नरेशचन्द्र जी चतुर्वेदी तो केवल साहित्य क्षेत्र के ही नहीं राजनीतिक क्षेत्र के भी जाने-माने नेता हैं।

ज्ञानपीठ का मैं अत्यन्त ऋणी हूँ। उसी के द्वारा मेरे तीन ग्रन्थ—'रेखा-चित्र', 'संस्मरण' और 'मेरे आराध्य'—छपे थे और इस ग्रन्थ के प्रकाशित करने का अधिकार ज्ञानपीठ को ही है और उसी के द्वारा यह प्रकाश में आ रहा है।

बनारसीदास चतुर्वेदी

क्रम

● भाग : एक जगबीती ●

● भाग : दो आपबीती ●

परिशिष्ट

स्वर्गीय अनुज प्रिय पटे को

समर्पित—

भाग : एक

जगबीती

महापुरुषों की खोज में

अपने विषय में कुछ भी लिखना और सो भी तटस्थ वृत्ति से—कोई आसान काम नहीं। वह तो ऐसा ही है जैसे मनुष्य अपने अंगों की चीर-फाड़ स्वयं ही करे। यह बड़ा नाजुक काम है। विश्वप्रसिद्ध लेखक स्टीफिन ज़्विग ने आत्म-चरित 'दि वर्ल्ड ऑफ़ यस्टर्डे' में लिखा था कि आत्म-चरित साहित्य की सर्वोच्च विधा है और उसमें सफलता प्राप्त करना अत्यन्त ही कठिन है। आत्म-प्रशंसा और आत्म-निन्दा इन दोनों में सन्तुलन कैसे कायम रखा जाये, इसकी जानकारी बड़ी मुश्किल है।

महान् अमरीकी लेखक एमर्सन ने एक जगह लिखा था, "यदि कोई मुझे ऐसा कुतुबनुमा बतला दे, जो उस दिशा की ओर इशारा करता हो जिस दिशा में महापुरुष रहते हैं, तो मैं अपना घर-द्वार बेचकर उस कुतुबनुमा को खरीद लूंगा और महापुरुषों की खोज में चल पड़ूँगा।"

मुझे वह कुतुबनुमा श्रद्धापूर्ण पत्र-व्यवहार के रूप में मिल गया, पर घर-द्वार हमारे पास था ही नहीं, इसलिए बेचने का सवाल ही नहीं उठा।

सर्वप्रथम जिन महापुरुष से मैंने पत्र-व्यवहार शुरू किया वह थे दीनबन्धु सी० एफ० ऐण्ड्रूज़। 'मॉर्डन रिव्यू' में उनका एक लेख पढ़कर मैं प्रभावित हो गया था और सम्भवत: 1914 में मैंने उनसे पत्र-व्यवहार शुरू कर दिया था। 15 जून, 1914 को मैंने पं० तोताराम जी के दर्शन भारती-भवन, फीरोज़ाबाद में किये थे। दीनबन्धु के प्रथम दर्शन मैंने 1918 में कलकत्ता में तब किये जब मैं उनसे 'प्रवासी भारतवासी' की भूमिका लिखवाने गया और उसके तुरन्त बाद ही शान्ति-निकेतन में गुरुदेव के दर्शन किये। 1920-21 में चौदह महीने मैं शान्ति-निकेतन में रहा और महात्मा जी के आदेश पर बम्बई चला गया और वहाँ डेढ़-दो महीने रहकर साबरमती आश्रम आ गया। शान्ति-निकेतन और साबरमती, इन दोनों आश्रमों में अनेक महान् कार्यकर्त्ता रहते थे और विदेश से यात्री भी आया करते थे। इन आश्रमों में मुझे शास्त्री विधुशेखर भट्टाचार्य, क्षितिमोहन सेन, गुरुदेव के ज्येष्ठ भ्राता 'बड़े दादा' द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, काका साहब कालेलकर, आचार्य किशोरी लाल मशरुवाला, आचार्य गिडवानी, धर्मानन्द कौशाम्बी के दर्शन हुए थे। मिस्टर पोलक के दर्शन भी साबरमती में ही हुए थे।

पत्र-व्यवहार मेरा एक व्यसन ही रहा है और ब्रिटिश पार्लियामेंट के मज़दूर दल के सदस्य विलफ्रेड वेलॉक से मैंने 1927 में ही पत्र-व्यवहार शुरू कर दिया था। प्रवासी भारतीयों के कार्य के कारण मुझे स्वामी भवानीदयाल जी संन्यासी, मिस्टर पोलक, सर महाराज सिंह, रेवरेंड जे० डब्ल्यू० बर्टन इत्यादि

से तो पत्र-व्यवहार करना आवश्यक ही था।

चूँकि मैं सन् 1912 में ही हिन्दी में लेख लिखने लगा था और 1919 से अँग्रेज़ी में भी, इसलिए इन क्षेत्रों के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कार्यकर्ताओं से भी मेरा परिचय हो गया था। साहित्य-सम्मेलन के आठवें अधिवेशन में, जो इन्दौर में हुआ था, मैं साहित्य-विभाग का मंत्री था और श्री सम्पूर्णानन्द जी उसके प्रधान। उन दिनों हम दोनों राजकुमार कॉलेज, इन्दौर, में अध्यापक थे। 1918 के उस अधिवेशन के कुछ महीने पूर्व मैंने प्रयाग की यात्रा करके श्रद्धेय टण्डन जी के दर्शन किये थे और उन्हीं दिनों पूज्य महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के भी। तभी मैं श्रद्धेय राधाचरण जी गोस्वामी तथा श्री किशोरीलाल गोस्वामी जी की सेवा में उपस्थित हुआ था। सम्मेलन के बम्बई, कानपुर, भरतपुर, बृन्दावन, गोरखपुर, मुज़फ्फरपुर और कलकत्ते के अधिवेशनों में मैं शामिल हुआ था, इसलिए हिन्दी-क्षेत्र के कार्यकर्ताओं से मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया।

यहाँ एक बात अनुभव से कह सकता हूँ कि अँग्रेज़ी में लेख लिखने के कारण मेरा परिचय अनेक अँग्रेज़ी पत्रकारों से भी हो सका था और सर्वश्री चिन्तामणि जी, कृष्णाराम मेहता, विश्वनाथ प्रसाद, सदाशिव गोविन्द वझे, कोदण्डराव, सैयद अब्दुल्ला बरेलवी, जी०ए० नटेशन और राणा जंगबहादुरसिंह इत्यादि के सम्पर्क में आ सका। कलकत्ते में मुझे सुप्रसिद्ध विद्वान् सुनीति कुमार चटर्जी के सम्पर्क में आने का मौका मिला और वहीं मैंने अमेरिकन लेखिका पर्ल बक के दर्शन किये थे। चूँकि मैंने ऐसे विषयों को अपनाया था जो विवादग्रस्त राजनीति से दूर थे; जैसे—प्रवासी भारतीय, शहीदों का श्राद्ध और साहित्य सेवियों की कीर्ति-रक्षा; इसलिए भिन्न-भिन्न दलों के कार्यकर्ताओं और नेताओं के सम्पर्क में आने का मुझे मौका मिला। कई अँग्रेज़ बहनों के सम्पर्क में भी मैं आ सका। मिस अगाथा हेरीसन, मिस मार्जरी साइक्स, मिस म्यूरिएल लीस्टर और मिस सेफर्ड से भी मेरा परिचय हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय पत्रकार लुई फिशर से मेरा वर्षों तक सम्बन्ध रहा और सुप्रसिद्ध रूसी विद्वान् सर्वश्री चैलिशेव, बारान्निकोव और चर्नीशोव से मेरा अब भी सम्बन्ध है। किसी भी पत्रकार के लिए इस प्रकार के सम्बन्ध अनिवार्य हैं। जिनके सम्पर्क में मैं आया उनके बारे में बहुत कुछ लिखने का अवसर भी मुझे मिला।

हिन्दी और उर्दू में मैं कोई भेद नहीं करता। मैं स्व० मौलवी अब्दुल हक़ साहब को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाँति पूज्य मानता था। 'ज़माना' के सम्पादक मुंशी दयानारायण निगम के प्रति मेरी विशेष श्रद्धा थी।

मेरी महत्त्व की खोज अब भी जारी है और यावज्जीवन जारी रहेगी।

सन् 1918 एक ऐसा वर्ष था जिसने मेरे जीवन को एक और खास मोड़ दिया। सन् 1918 में ही मैंने महात्मा जी के दर्शन प्रथम बार किये और उनके साथ ही उन प्रोफेसर गीडीज़ के भी जो जनपदीय कार्य के प्रवर्तक थे और नगर निर्माण कला के विशेषज्ञ भी। उसी वर्ष मुझे अकस्मात् इन्दौर छावनी की विक्टोरिया लायब्रेरी में प्रिंस क्रोपाटकिन का आत्म-चरित दीख पड़ा—'मेमोयर्स ऑफ़ ए रिवोल्यूशनिस्ट' (एक क्रान्ति-कारी के संस्मरण)। मैं तभी से प्रिंस क्रोपाटकिन का भक्त बन गया। इकतालीस वर्ष बाद सन् 1959 में रूस की यात्रा करके मैंने उनकी समाधि पर पुष्प चढ़ाए। सन् 1918 में ही मैंने कलकत्ते में दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के दर्शन प्रथम बार किये और तत्पश्चात् गुरुदेव कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्ति-निकेतन में मुझे संस्कृत के महाविद्वान् शास्त्री महाशय विधुशेखर भट्टाचार्य और सन्त कवियों के विशेषज्ञ आचार्य क्षितिमोहन सेन के दर्शन हुए थे। सम्पादकाचार्य पं० अम्बिका प्रसाद जी वाजपेयी के दर्शन भी मुझे उन्हीं दिनों हुए थे।

मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि उच्च शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ। अपने विस्तृत जीवन में भी मैंने बहुत कम पढ़ा है। उल्लेख योग्य बात यह भी है कि मैं ज़्यादा पढ़ने में विश्वास ही नहीं रखता। जिसे चलती-फिरती किताबों, स्त्री-पुरुषों के चरित्रों का अध्ययन करने का मौका मिले वह निर्जीव सूखी किताबों को पढ़कर क्या करेगा ? एक महान् चित्रकार से किसी ने पूछा, "आप केवल मनुष्यों के चित्र क्यों बनाते हैं ?" उसने तपाक से उत्तर दिया, "इसमें वैचित्र्य की भरमार है।"

एक और बात कह दूँ। मैं केवल महापुरुषों की ही वन्दना नहीं करता, बल्कि तथाकथित क्षुद्रपुरुषों की भी करता हूँ। जहाँ कहीं भी महत्त्व के दर्शन होते हैं, मैं उसकी पूजा करता हूँ। दरअसल महापुरुषों के गुणों का वर्णन करना आसान है, जबकि साधारण पुरुषों के गुणों की खोज कठिन। विलायत के सुप्रसिद्ध रेखा-चित्रकार ए० जी० गार्डनर ने एक कलाकार का चित्रण किया है जो 40-50 फीट ऊंची दीवार पर खड़ा हुआ उस दीवार को कुदाली से सावधानीपूर्वक गिरा रहा है। उसकी कुदाली बड़ी नाप-तौल के साथ पड़ती है। यदि एक बार भी ग़लती हो जाय तो वह धड़ाम से नीचे गिर सकता है और उसकी हड्डियाँ चकनाचूर हो सकती हैं। महात्मा गांधी जी जब साउथ अफ्रीका से भारत के लिए विदा हो रहे थे, तब उनकी प्रशंसा में कई भाषण दिये गये थे। उस समय उन्होंने बड़े मार्के की बात कही थी, "आप लोग मेरे त्याग और बलिदान की प्रशंसा करते हैं, पर वह कुमारी वली अम्मा और हरवत सिंह के बलिदान के सामने नगण्य है क्योंकि वे संग्राम में शहीद हो गये।"

अब तक जो इतिहास लिखे गये हैं प्रायः महान् नेताओं को केन्द्र मानकर उन्हीं की दुंदुभी बजाते हैं। भारत के स्वाधीनता संग्राम में सहस्रों स्त्री-पुरुषों को शहादत मिली पर उनका कोई नाम नहीं जानता। अकेले चम्पारन में ही 52 व्यक्ति शहीद हुए थे, जिन्हें हम बिलकुल भूल गये। नौ गोली खाकर शहीद होने वाले फुलैना बाबू को अब कौन याद करता है ! हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने वाले सैकड़ों लेखक और कवि हुए हैं पर नाम केवल सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, और रहीम आदि इने-गिने व्यक्तियों का ही चलता है। मैंने अपने रेखा-चित्रों में छोटे-बड़े का कभी भेद नहीं किया। इनमें महात्मा गांधी और कवीन्द्र रवीन्द्र के साथ-साथ देवीदयाल गुप्त व रामधन के भी रेखाचित्र मैंने तैयार किये हैं। देवीदयाल जी सात रुपया पाने वाले मुदर्रिस थे और रामधन 'विशाल भारत' का चपरासी।

—बनारसीदास चतुर्वेदी

1

महात्मा गांधी जी

महात्मा गांधी जी का नाम मैंने तभी से सुन रखा था, जब उनका सत्याग्रह दक्षिण अफ्रीका में चल रहा था। उनसे कुछ पत्र-व्यवहार भी सन् 1917 के आसपास हुआ था। तथापि उनके दर्शन प्रथम बार सन् 1918 में ही हुए। सन् 1918 से लेकर जनवरी 1948 तक उनकी कृपा मुझ पर बराबर बनी रही। सन् 1918 में बापू ने मेरी पुस्तक (प्रवासी भारतवासी) पढ़ ली थी और उसकी मोटी ग़लतियों के बारे में उन्होंने दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ को लिखा भी था। महादेव भाई की डायरी में दीनबंधु ऐण्ड्रूज के नाम लिखा वह पत्र उद्धृत है, यद्यपि उसमें मेरे नाम का उल्लेख नहीं है। बापू का कथन सर्वथा ठीक ही था; क्योंकि प्रवासी भारतीयों के बारे में मेरा कोई व्यक्तिगत अनुभव नहीं था, फिर भी मेरा चार वर्षों का सर्वोत्तम समय 'प्रवासी भारतवासी' नामक पुस्तक लिखने में बीता। वह पुस्तक सर्वथा मिशनरी भावना से लिखी गई थी और उससे एक पैसा भी मैंने नहीं कमाया। साक्षात् परिचय होने के बाद बापू ने मेरी उस पुस्तक का उल्लेख कभी नहीं किया। हाँ, उन्होंने एक बार मुझसे कहा था, "तुम्हारी किताब में 'भारत-भक्त ऐण्ड्रूज़' ही मुझे सबसे अधिक पसन्द है।" उस पुस्तक की भूमिका की भी अपनी एक कहानी है।

1920 की कलकत्ता काँग्रेस के बाद बापू विश्राम करने के लिए शान्ति-निकेतन पधारे थे। एक दिन प्रात:काल मैंने उनकी सेवा में पहुँचकर दस मिनट का समय मांगा, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। मैं पाँच मिनट तक दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ की प्रशंसा करता रहा। बापू ने उसे सुनकर कहा, "ऐण्ड्रूज़ तो एक ऋषि है।" जब मैंने कहा, "मैं उनका जीवन-चरित लिख रहा हूँ," तब बापू ने कहा, "अवश्य लिखो।" तब मैंने निवेदन किया, "उसकी भूमिका आपको लिखनी होगी।" बापू ने कहा, "लिख दूँगा।" तब मैंने आग्रहपूर्वक कहा, "शान्ति-निकेतन से जाने से पूर्व भूमिका लिखकर आपको देनी है।" बापू ने कहा, "मैं रेल की यात्रा में भूमिका लिख दूँगा।" मैंने कहा, "नहीं बापू। लिख कर दे ही जाइए।" बापू ने मेरी ज़िद स्वीकार कर ली और दूसरे दिन जब मैं उनकी सेवा में पहुँचा तो उन्होंने पेन्सिल से लिखी हुई भूमिका मुझे देते हुए कहा, "तीन बार भूमिका लिखकर मैंने फाड़ दी, यह चौथा प्रयत्न है।" मैंने अँग्रेज़ी में ही भूमिका लिखने के लिए कहा था क्योंकि मैं अँग्रेज़ी में भी पुस्तक लिखना चाहता था। भूमिका निम्न प्रकार है :



महात्मा गांधी : प्रसिद्ध चित्रकार
कुमारिल स्वामी की दृष्टि में

भारत-भक्त ऐण्ड्रूज़

शान्ति-निकेतन
17.9.1920

मिस्टर ऐण्ड्रूज़ और मेरे बीच सगे भाइयों से भी अधिक घना सम्बन्ध है, इसीलिए उनकी जीवनी की भूमिका लिखना मेरे लिए कोई आसान बात नहीं। फिर भी यदि धृष्टता न समझी जाये तो मैं अपना यह विश्वास लेखबद्ध कर देना चाहता हूँ कि सी० एफ० ऐण्ड्रूज़ से ज़्यादा सच्चा, उनसे बढ़कर विनीत और उनसे अधिक भारत-भक्त इस भूमि में कोई दूसरा देश-सेवक विद्यमान नहीं।

उनके जीवन से शिक्षा ग्रहण कर भारतीय युवक अपनी मातृभूमि की अधिकाधिक भक्ति करने के लिए उत्साहित हों—यही मेरी हार्दिक अभिलाषा है।

—मो० क० गांधी

जब दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ कलकत्ता में अपनी अंतिम बीमारी में पड़े हुए थे, महात्मा गांधी जी शान्ति-निकेतन आये थे और कलकत्ते जाने के पहिले उन्होंने वहाँ पूछा था, "क्या बनारसीदास की लिखी ऐण्ड्रूज़ की जीवनी शान्ति-निकेतन के पुस्तकालय में है?" तब भाई हजारीप्रसाद द्विवेदी ने वह पुस्तक निकालकर उन्हें दे दी थी। तत्पश्चात् बापू कलकत्ते में दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ से मिले थे और अन्तिम क्षणों की वार्ता महादेव भाई ने प्रकाशित कर दी थी। ऐण्ड्रूज़ ने बापू से कहा था, "मोहन, स्वराज्य इज़ कमिंग," अर्थात् स्वराज्य आ रहा है। और यदि भारतीय और अँग्रेज़ मिलकर काम करें तो वह जल्दी आ सकता है। दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के स्वर्गवास के बाद महात्मा जी ने उन्हें बड़ी भावपूर्ण श्रद्धाञ्जलि अर्पित की थी।

बापू के जिस गुण ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया, वह था, उनकी लोक-संग्रह की भावना। वह अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर इतना एहसान लाद देते थे कि वह चकित रह जाता था। मैंने बीसियों ही पत्र उनकी सेवा में भेजे थे पर मुझे एक भी मौका याद नहीं आता, जब उन्होंने मेरे पत्र का उत्तर न दिया हो। दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ की मृत्यु 5 अप्रैल, सन् 1940 को हुई थी। उनकी पुण्य-तिथि के निकट आने पर कलकत्ते से मैंने एक कार्ड महात्मा जी को लिखा था: "कृपा कर एक पत्र केदार बाबू को लिखिए कि वे 5 अप्रैल को दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ की समाधि पर पुष्प चढ़ायें।" उन्होंने लौटती डाक से केदार बाबू को लिखा, "आप ऐण्ड्रूज़ की समाधि पर

फूल चढ़ावें और बनारसीदास से कह दें मैंने कि उसके आदेश का पालन किया है।"

सन् 1918 से 1947 तक, उनतीस वर्षों में न जाने मैंने अपनी फरमाइशों और सनकों से बापू को कितना तंग किया होगा। मेरी गार्हस्थिक दुर्घटनाओं में उन्होंने अपने हाथ से लिखकर सान्त्वनाप्रद पत्र भेजे थे। मेरी पत्नी की मृत्यु पर उन्होंने लिखा था, "इस दुःख में से शक्ति पैदा कर लो।" मेरे अनुज के स्वर्गवास पर उनका वाक्य था, "भाई रामनारायण जिस रास्ते गये हैं, उस रास्ते हम सभी को जाना है। केवल समय का ही फेर है।" पूज्य पिताजी के देहान्त पर उनका कथन था, "और मरता है कौन ? जीव, तो हरगिज़ नहीं, जिसके साथ हमारा सम्बन्ध था और है और रहेगा।" कक्का उम्र में बापू से सत्रह वर्ष बड़े थे और उन्होंने बापू को अपने अन्तिम पत्र में लिखा था, "आप ख़ुश रहें, तन्दुरुस्त रहें और आपकी मनोकामना पूर्ण हो।" अपने पत्र में बापू ने लिखा था, "पिताजी के अन्तिम वचन मुझे बहुत मीठे लगते हैं, और मैं उन्हें आशीर्वाद रूप में मानूँगा।" बापू की यह महानता थी कि विश्वविख्यात व्यक्ति होने पर भी उन्होंने मामूली मुदर्रिस के प्रति इतनी श्रद्धा प्रकट की थी।

चार काम

सन् 1929 में महात्मा जी आगरा आये हुए थे और फीरोज़ाबाद में पधारने वाले थे। उस समय मैं कलकत्ता में था। जब मुझे यह समाचार मिला तो मैंने एक कार्ड उन्हें लिख भेजा। उसके शब्द ये थे, "कृपया चार काम कीजिए : (1) दयालबाग देख लीजिए, (2) मेरे छोटे भाई रामनारायण को समय दीजिए, (3) फीरोज़ाबाद में मेरे पिताजी से मिल लीजिए, और (4) लाला चिरंजीलाल का नाम फीरोज़ाबाद की मीटिंग में ले लीजिए।"

महात्मा जी ने चारों काम विधिवत् किये। दयालबाग को साढ़े तीन घण्टे दिये, दयालबाग का नियम है कि वे किसी को निमन्त्रित नहीं करते पर कोई उनके बजाय किसी को निमन्त्रित कर देता है तो वे उसका हार्दिक स्वागत करते हैं। मैंने डा० कालीदास नाग तथा दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ से प्रार्थना करके उन्हें दयालबाग देखने के लिए भिजवाया था और महात्मा जी को भी। महात्मा जी ने मेरे छोटे भाई रामनारायण को बीस मिनट का टाइम दिया और जब टाइम पूरा हो गया तो कहा, "अब भाग जाओ।" फीरोज़ाबाद में जब मेरे पिताजी बापू से मिलने गये तो बापू ने उठकर उनका स्वागत किया और बातचीत में कहा, "आप सौ वर्ष ज़िन्दा रहें और स्वराज्य देखें।" फीरोज़ाबाद में जो मीटिंग हुई थी उसमें 20-25 हज़ार व्यक्ति उपस्थित थे। बापू ने वहाँ पुछवाया, "बनारसीदास के घर से कोई मीटिंग में आया है क्या ?" अकेली मेरी बहिन गई थी। फिर बापू ने कहलवाया कि लाला चिरंजीलाल कौन हैं, खड़े हो जायें, बापू उन्हें देखना चाहते हैं। लाला चिरंजीलाल को बड़ा आश्चर्य हुआ कि बापू ने ऐसा क्यों किया। बात दरअसल यह थी कि लाला चिरंजीलाल जी से मैं रुपये उधार लिया करता था। वे न कभी तकाजा करते थे और न कभी ब्याज लेते थे। ढाई सौ रुपये तक की सीमा थी। कई वर्ष बाद 1937 में मैंने चिरंजीलाल जी को ढाई सौ रुपया महाराज ओरछा से लेकर भिजवाए थे। कृतज्ञता स्वरूप ही लाला चिरंजीलाल का नाम मैंने बापू को लिख दिया था।

बापू अपने भक्तों को कभी नहीं भूलते थे। जब वह यरवदा जेल में थे तो उन्होंने एक पत्र रामानन्द बाबू को 'मॉडर्न रिव्यू' भेजने को लिखा था और पत्र के अन्त में उन्होंने लिखा था "प्लीज़ रिमेम्बर मी टू पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी" यानी बनारसीदास चतुर्वेदी को मेरी याद दिला दीजिए।

महात्माजी का स्वर्गवास 30 जनवरी, 1948 को हुआ था और उससे अठारह दिन पूर्व 12 जनवरी

को उन्होंने स्व० पंडित तोताराम जी को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए लिखा था, "उनको आश्रम में लाने का श्रेय पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी को है।"

अपने एक अँग्रेज़ी पत्र में बापू ने 'सर्वेण्ट ऑफ इण्डिया' के एडीटर सदाशिव गोविन्द वझे को लिखा था—"बनारसी दास हैज़ अननेसेसरिली इम्पावर्टेड हिमसेल्फ।" (अर्थात् बनारसीदास चतुर्वेदी ने फिज़ूल ही अपने को गरीब बना लिया है।)

बात यह हुई थी कि मैंने बापू से नाराज़ होकर लिख दिया था, "मुझे न आपकी सिफ़ारिश की ज़रूरत है और न आपसे रुपये लेने की।" जबकि बात दरअसल यह थी कि मुझे दोनों चीज़ों की ज़रूरत थी। बापू हम लोगों के लिए पितृतुल्य थे और नासमझ छोटे बच्चों की तरह हम लोग उनसे नाराज़ भी हो जाते थे।

बापू के सामने दिल खोलकर बात लिखने में हम लोगों को कोई संकोच नहीं होता था। एक बार मैंने उन्हें अपने दुराचारपूर्ण असंयत जीवन का कच्चा चिट्ठा लिख दिया था और साथ ही यह भी लिखा था कि इसे पढ़कर आपके हृदय को धक्का लगेगा। मेरे पत्र के उत्तर में बापू ने लिखा था, "हृदय को धक्का नहीं लगा। आख़िर तो आदमी जो कुछ कर सकता है वही करे। मेरी सलाह है कि तुम शादी कर लो। उससे तीन काम सिद्ध होंगे और 'विशाल भारत' का काम भी ठीक चलेगा।" बापू का वह पत्र राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित है। एक चिट्ठी में बापू ने लिखा था, "जो आदमी अपनी ग़लती को महसूस करता है और उसे दूर करने का प्रयत्न करता है उसका आधा काम तो बन गया। इतना निराश होने का कोई कारण नहीं है।"

मेरे संग्रह में महात्मा जी के एक सौ से अधिक पत्र और दस-बारह कागज़ों के पुर्ज़े भी थे। उनमें बापू के हाथ से पेंसिल से लिखा हुआ एक पुर्ज़ा है। बात यह हुई थी कि पंडित तोताराम जी की पत्नी गंगा बहिन बीमार थीं। बापू उनको देखने के लिए गये थे। सोमवार मौन-दिवस था इसीलिए कोई बात नहीं कर सके और जब रात को दो बजे उनकी नींद खुली तो उन्होंने अपने हाथ से एक पर्चा लिखा, "जुलाब की कोई ज़रूरत नहीं है, आज भी दूध देना नहीं चाहता हूँ। नारंगी का और द्राक्ष का रस पीती रहें। जितना पानी पी सकें उतना पीवें। कटि-स्नान करें और बर्फ़ की पुल्टिस कुनैन, नीबू और सोडा में दे दो।"

(बापू : 2 बजकर 5 मिनट)

यह चिट्ठी बापू ने एक महिला को जगाकर उसके हाथ पंडित तोताराम जी को भेजी थी।

एक चिट्ठी में बापू ने पंडित तोताराम जी को लिखा था, "तुम्हारा विवरण अच्छा लगा। महादेव का भजन भेजा, वह भी अच्छा है और दोनों का मेल भी मुझे बहुत प्रिय लगा। हमारा प्रत्येक कार्य में प्रभु का भजन ही होना चाहिए।

"विवरण दुबारा पढ़ लूँगा। मेरी आकांक्षा तो यह है कि हम इतने फल और इतनी भाजी पैदा करें जो हमारे लिए पर्याप्त हो। यदि गोमाता के लिए भी घास आदि पैदा करें और आश्रम के लिए अनाज तो खेती के पूर्ण आदर्श को हम पहुँचें। इसमें थोड़ा ज़्यादा ख़र्च भी हुआ तो भी मैं उसे सफल समझूँगा। लेकिन मैं जानता हूँ कि यह सब मूर्खों का बकवाद है। खेती का काम सबसे कम किया और बातें सबसे मैंने इस बारे में ज़्यादा की हैं। क्या करूँ, खेती उन चीज़ों में से है जो करने का ख़्याल मुझको आधी आयु बीतने पर आया।"

(बापू : 26-4-33)

प्रातःकाल का उठना

बारडोली जाने से पहिले बापू ने सभी आश्रमवासियों को बुलाया था और उनसे अनुरोध किया था कि वे आश्रम में आने के बाद जो उन्हें अनुभव हुए हैं उनका वर्णन करें। सबने अपने-अपने अनुभव सुनाए। एक व्यक्ति ने कहा, "जब से मैं आया हूँ तब से आश्रम

की उन्नति ही हुई है।" इस पर मज़ाक करते हुए बापू ने कहा, "इसका मतलब तो यह भी होता है कि यह उन्नति आपके आने से ही हुई है !" इस पर हम सब खिलखिलाकर हँस पड़े।

जब मेरा नम्बर आया तो मैंने कहा, "आश्रम में आये हुए मुझे तो अभी चार महीने ही हुए हैं। कोई विशेष अनुभव नहीं हुआ।" इस पर बापू ने कहा, "जो भी अनुभव हुए हों, वही सुनाओ।" मैंने उत्तर दिया, "मुझे दो अनुभव ख़ास तौर पर हुए। एक तो यह कि भाखरी रोटी मुझे नहीं पचती, दूसरा यह कि चार बजे मुझसे उठा नहीं जाता।" इस पर बापू ने कहा, "रोटी के बारे में तो मैं पीछे कहूँगा। लेकिन सवेरे उठने के बारे में मैं तुमको बतला देना चाहता हूँ कि अपने जीवन में जो कुछ मैंने सर्वोत्तम लिखा है वह सवेरे चार और छः के बीच में ही लिखा है। मुझे आश्चर्य है कि लेखक होते हुए भी तुम प्रातःकाल उठने के महत्त्व को नहीं समझते।" मैंने कहा, "चाहे जब उठने की स्वतन्त्रता शान्ति-निकेतन में थी।" इस पर बापू ने हँसकर कहा, "उसे स्वतन्त्रता नहीं स्वच्छन्दता कहना चाहिए।"

एक मराठी भाषा-भाषी सज्जन ने, जो हिन्दी ठीक-ठीक नहीं समझते थे, उस बातचीत की ग़लत रिपोर्ट अखबारों को भेज दी और उन्होंने एक वाक्य अपनी तरफ से जोड़ दिया, "शान्ति-निकेतन सांसारिक उन्नति के लिए है और मेरा आश्रम आध्यात्मिक उन्नति के लिए।" मराठी भाई की भयंकर भूल के कारण बड़ी ग़लतफ़हमी पैदा हो गयी। शान्ति-निकेतन के मित्रों को कुछ बुरा लगा। इस पर बापू ने अपने पत्र 'यंग इण्डिया' में लिखा, "बनारसीदास और मेरी जो बातचीत हुई उसकी रिपोर्ट ग़लत है। हम दोनों ही शान्ति-निकेतन के प्रशंसक हैं। और जहाँ बड़े दादा जैसे महान् आध्यात्मिक सन्त विद्यमान हों उसके बारे में मैं कोई धृष्टतापूर्ण बात नहीं कह सकता।"

आश्रम की महिलाओं की मीटिंग

बापू ने आश्रम की सभी महिलाओं को बुलाया और कहा, "लक्ष्मी को खाना बनाना कौन सिखायेगा ?" बापू ने लक्ष्मी नामक एक ढेढ़ बालिका को गोद ले लिया था। वह उसे लड़की की तरह मानते थे। उपस्थित महिलाओं ने कहा, "लक्ष्मी को हम स्नान करायेंगे, सिर गुह देंगे पर अपने चौके में नहीं बिठला सकते।" यहाँ तक कि माता कस्तूरबा तक ने मना कर दिया। इससे वातावरण कुछ गम्भीर हो गया। बापू ने कहा, "इसके मानी तो यह है कि मुझे अभी एक बड़ी लम्बी लड़ाई लड़नी है।" मेरी पत्नी भी चि० गुपलेश के साथ उस मीटिंग में गयी थी और उसने भी लक्ष्मी को चौके में ले जाना अस्वीकार कर दिया था। गुपलेश उस समय दो-ढाई वर्ष का था। उसकी मुट्ठी में तीन पैसे थे। बापू ने वातावरण की गम्भीरता को दूर करने के लिए उससे पूछा, "तुम्हारी मुट्ठी में क्या है ?" उसने कहा, "पैसे हैं।" बापू ने कहा "हमें दे दो।" गुपलेश ने कहा, "हम नहीं देंगे।" बापू ने पूछा, "तो पैसे का क्या करोगे ?" गुपलेश ने कहा, "मलाई की बर्फ़ खायेंगे।" बापू ने कहा, "हमें तो मलाई की बर्फ़ नहीं मिलती।" गुपलेश ने कहा, "हमारे साथ फीरोज़ाबाद चलो, हम खिलायेंगे।" इसके बाद गुपली ने कोई बात कही जो बापू की समझ में नहीं आई और बापू ने 'सूं' (क्यों ?) कहा। इस पर गुपली ने कहा, "बुड्ढा, सूं-सूं क्या करता है ?" इस पर सब लोग हँसने लगे। गुपली ने बापू को पैसे दिये ही नहीं। दूसरे दिन जब मुझे यह बात मालूम हुई और आश्रम की एक महिला ने मुझे बतलाया कि गुपली ने बापू को बहुत तंग किया तो मैं गुपली को लेकर बापू के पास क्षमा-याचना के लिए गया। बापू से मैंने कुछ निवेदन किया ही था कि वह बोले, "इसमें क्षमा-याचना की क्या बात है, यह तो मेरा पुराना दोस्त है।"

बारडोली जाने के पहले

बारडोली जाने से पहले बापू ने सब आश्रम-वासियों को बुलाकर कहा था, "मैं बारडोली में असफल होकर ज़िन्दा नहीं लौटना चाहता; या तो स्वाधीनता लेकर लौटूंगा या फिर मेरा शरीर वहाँ अन्त ही हो जायेगा। मैं आप सबसे यह आशा नहीं रखता कि आप सब इस सत्याग्रह में शामिल हों। पर इतनी आशा अवश्य रखता हूँ कि आप सब संयमपूर्वक रहेंगे। जब महाराणा प्रताप मृत्यु शैय्या पर थे तो उन्हें अपने पुत्र अमरसिंह के विषय में चिन्ता थी कि कहीं वह स्वाधीनता को खो न दे। जब महाराणा प्रताप के सरदारों ने उन्हें विश्वास दिलाया कि वे अमरसिंह को ठीक रास्ते पर रखेंगे तब कहीं वह शान्तिपूर्वक अपने प्राण विसर्जित कर सके। मैं भी बारडोली में मारे जाने के पहले यह सन्तोष पा लेना चाहता हूँ कि आप सभी संयमपूर्वक रहेंगे।"

महात्मा जी छोटी से छोटी बात पर अधिक से अधिक ध्यान देते थे। उन्होंने उस दिन भी, जब देश के भाग्य के निबटारे के लिए घमासान युद्ध होने वाला था, हम आश्रमवासियों से कहा था, "आप लोगों में से कितने ही पेशाब को बहाते नहीं हैं और जहाँ-तहाँ थूक देते हैं, इन बातों पर सबसे पहले ध्यान देने की ज़रूरत है।" आश्रम-भर में भी मगनलाल गांधी ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जो महात्मा जी की आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करते थे। वह कठोर नियन्त्रणकर्ता थे और उनके डर से हम लोग भी उनके नियमों का पालन मजबूरन करते थे।

महात्मा जी की हास्य-प्रवृत्ति

एक बार किसी संवाददाता ने महात्माजी से पूछा था, "क्या आपमें हास्य-प्रवृत्ति भी है?" इसका उत्तर देते हुए महात्मा जी ने कहा था, "अगर मुझमें 'सेंस ऑफ ह्यूमर' न होती तो मैंने कभी का आत्म-घात कर लिया होता।"

यहाँ मैं एक निजी घटना सुना रहा हूँ:

मेरे पास एक हॉकी-स्टिक थी और जब मैं प्रार्थना में जाता तो उसे रेती पर बाहर रखकर प्रार्थना-स्थल पर चला जाता था। एक बार ऐसा हुआ कि प्रार्थना के बाद ज्यों ही मैंने वह हॉकी स्टिक अपने हाथों में ली, बापू उधर आ निकले, और उन्होंने कहा, "लाठी तो आपने बहुत मज़बूत बाँध रखी है।" मैंने उत्तर दिया, कविवर माखनलाल चतुर्वेदी ने "इसका नाम मस्तक-भंजन रखा है।" बापू बोले, "और सत्याग्रह आश्रम में एक मस्तक-भंजन रहना ही चाहिए।"

विलायत में एक अंग्रेज़ महाशय ने उनसे कहा था, "मेरे आठ बच्चे हैं और उनके पालन-पोषण में मुझे व्यस्त रहना पड़ता है।" महात्मा जी ने उत्तर में कहा, "आई कैन रन हाफ दि रेस विद यू"—यानी मैं आपके साथ आधी दौड़ दौड़ सकता हूँ। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि महात्मा जी के चार पुत्र थे।

स्वाधीनता के पक्षपाती

प्रवासी भारतीयों के कार्य में बापू ने मुझे पूरी-पूरी स्वाधीनता दे रखी थी। आश्रम तो असहयोगियों का गढ़ था फिर भी मैं सरकार से निरन्तर सहयोग ही करता रहा था। जब अहमदाबाद कांग्रेस के प्रधान हकीम अजमल खाँ साबरमती आश्रम में पधारे और मेरे कमरे के सामने से गुज़रे तो काका साहब कालेलकर ने मेरा परिचय देते हुए कहा, "आश्रम में यही एक ऐसे आदमी हैं जो सरकार से सहयोग करते हैं।" महात्माजी का कहना था: "प्रवासी भारतवासियों की सेवा में आप जो भी नीति अंगीकार करना चाहें, करें। उसके प्रति आप पूर्ण स्वतन्त्र हैं। हाँ, पैसे का इन्तज़ाम मैं करूँगा।"

एक बार बापू गुजरात विद्यापीठ में पधारने वाले थे। आचार्य गिडवानी ने मुझसे कहा, "आप

कातते तो हैं नहीं, इसलिए एक कमरे में रुई धुनने के लिए बैठ जाइये।" बापू पधारे और अकस्मात् मेरे कमरे के सामने से गुज़रे और उन्होंने पूछा, "पिंजड़ करो छै," अर्थात् रुई धुन रहे हो। मैंने कहा, "हाँ साहब।" बापू के चले जाने के बाद मैंने सोचा कि यह तो बापू को धोखा देना है। क्योंकि मैं तो कभी रुई धुनता ही न था। कुछ दिनों बाद जब गुजरात विद्यापीठ का पदवी-दान समारोह हुआ तो कुलपति की हैसियत से बापू उसमें उपस्थित थे। उन्होंने कहा, "यह विद्यापीठ उन लोगों के लिए नहीं है जिनका चर्खे में विश्वास नहीं।" उस दिन मैं आश्रम में स्नान करने के बाद एक-डेढ़ मील पैदल चलकर उस समारोह में शामिल हुआ था। मेरा मस्तिष्क तरोताजा था। मैंने तुरन्त ही अपनी जेब से पैन निकाला और कागज़ के एक टुकड़े पर अपना त्यागपत्र लिख दिया। त्यागपत्र के शब्द ये थे: "श्रीमान कुलपति, गुजरात विद्यापीठ, चर्खे में श्रद्धा न होने के कारण मैं अपने पद से त्यागपत्र देता हूँ। आशा है कि यह कार्य मेरे लिए और मेरे विद्यार्थियों के लिए स्वास्थ्यप्रद होगा।" त्यागपत्र लिखकर उसे मैंने मीटिंग समाप्त होने के बाद महात्मा जी को दे दिया। तत्पश्चात् विद्यापीठ के अध्यापकों की मीटिंग प्रिंसिपल कृपलानी की अध्यक्षता में हुई। महात्मा जी भी उपस्थित थे। महात्मा जी ने मेरा त्यागपत्र पढ़कर सुनाया और कहा, "बनारसीदास ने जो काम किया, वह ठीक है। दूसरे अध्यापकों को भी, जिनका विश्वास चर्खे में न हो, उनका अनुकरण करना चाहिए।" मीटिंग समाप्त होने के बाद बापू कार में आश्रम जाने लगे। मैंने निवेदन किया, "मैं भी साथ चलूँगा।" बापू ने कहा, "बैठ जाइए।" मैं बैठ गया। मोटर चलने के बाद मैंने कहा, "बापू, आपके चर्खे के चारों ओर अन्धविश्वास इकट्ठा हो गया है। लोग यहाँ तक ख़्याल करने लगे हैं कि जो चर्खा नहीं कात सकता वह कोई त्याग नहीं कर सकता। यहाँ मैं यह निवेदन कर दूँ कि मौका आने पर मैं मामूली चर्खा कातने वाले से पीछे नहीं रहूँगा।" निस्संदेह मेरी यह बात बड़ी दम्भपूर्ण थी। चर्खा बापू को सबसे अधिक प्रिय था और उस पर आक्षेप करके मैंने बापू के हृदय को ज़बरदस्त धक्का पहुँचाया था। पर बापू अत्यन्त उदार थे। उन्होंने बड़ी शान्तिपूर्वक मेरी धृष्टता को सहन कर लिया और कहा, "आपको गुजरात विद्यापीठ से जो 130 रुपये महीने वेतन मिलता है, उसका मैं आश्रम से प्रबन्ध कर दूँगा। आप आश्रम में रहिए, और पहले की तरह अपना काम कीजिए। आपको यह ख़बर अपने घर भेजने की ज़रूरत भी नहीं कि आपने त्यागपत्र दे दिया है।"

मुझे आश्रम में रहने के लिए मकान मिला हुआ था और विद्यापीठ से 130 रुपये महीने मिलते थे। मुझे प्रति सप्ताह में नौ पीरियड हिन्दी पढ़ानी पड़ती थी। इसके सिवाय 250 रुपये महीने प्रवासी भारतीयों के कार्यों में व्यय करने के लिए अलग से मिलते थे। कार्य करने की पूरी स्वाधीनता तो थी ही पर अस्वस्थता तथा जलवायु प्रतिकूल होने के कारण मेरा मन आश्रम से उचट गया था। मैंने आश्रम छोड़ने का ही निश्चय कर लिया था। निस्संदेह मैंने बड़ा खतरा मोल लिया था। मेरे ऊपर कुटुम्ब का भार था और आमदनी का कोई भी ज़रिया न था। इस प्रकार मैंने अपने घर वालों को भी संकट में डाल दिया था। तत्पश्चात् तीन वर्ष कितने कष्टों में बीते उसकी कल्पना करके अब भी कँपकँपी आ जाती है। आगे चलकर जब महामना मालवीय जी से बातचीत हो रही थी तो सम्पूर्ण वृत्तान्त जानने पर उन्होंने मुझसे कहा, "आपने साबरमती आश्रम छोड़कर ठीक काम नहीं किया। मनु भगवान ने कहा है:

वृद्धौ च माता पितरौ सती भार्या सुतः शिशु।
अपकार्य शतं कृत्वा भर्तव्य मनुरब्रवीत॥

—यानी वृद्ध माता-पिता, सती स्त्री और छोटे

बच्चों का पालन-पोषण करने के लिए अगर आदमी को सौ अकारज भी करना पड़े तो करना चाहिए।"

आश्रम में टाइपराइटर

पहले आश्रम में कोई टाइपराइटर मशीन न थी। हाथ से लिखकर अथवा साइकिलोस्टाइल द्वारा ही काम चला लिया जाता था। चूँकि मुझे अपने लेख कई पत्रों को भेजने पड़ते थे इसलिए टाइपराइटर की सख़्त ज़रूरत थी। मैंने एक पत्र युगाण्डा (पूर्व अफ्रीका) के प्रमुख उद्योगपति श्री नानजी भाई कालिदास मेहता की सेवा में भेजा कि वह मेरे लिए एक टाइपराइटर का प्रबन्ध कर दें। उन्होंने तुरन्त 500 रुपये तदर्थ भेज दिए तथा मैंने महात्माजी की सेवा में उपस्थित होकर निवेदन किया, "मैं एक टाइपराइटर ख़रीदना चाहता हूँ।" महात्माजी ने कहा, "तुम्हारे अक्षर तो बहुत अच्छे हैं। तुम टाइपराइटर लेकर क्या करोगे?" मैंने कहा, "मुझे अपने लेख की 8-8, 10-10 प्रतियां प्रचारार्थ तैयार करनी पड़ती हैं। इसीलिए टाइपराटर की ज़रूरत है।" इस पर बापू ने कहा, "मुझे टाइप की आवाज़ ही खटकती है। क्यों फिज़ूल पैसा ख़र्च करना चाहते हो।" तब मैंने उन्हें बतलाया कि नानजी भाई कालिदास मेहता ने पूर्व अफ्रीका से 500 रुपये टाइपराइटर ख़रीदने के लिए भेज दिये हैं। महात्माजी ने कहा, "तब तुम ख़रीद सकते हो।" मैंने टाइपराइटर ख़रीद लिया। इस प्रकार आश्रम में पहले टाइपराइटर का प्रवेश हुआ। आश्रम छोड़ते समय वह टाइपराइटर मैं अपने साथ लेता आया। फीरोज़ाबाद में उसके बाद दूसरों की कितनी ही चीज़ें टाइप करनी पड़ीं और तब मुझे भी टाइपराइटर की आवाज़ बापू की तरह ही खटकने लगी।

चाय पर मज़ाक

डच गयाना से एक भारतीय पधारे थे और वह महात्मा जी के दर्शन करना चाहते थे। उसके लिए उन्होंने मुझसे आग्रह किया कि मैं उनके साथ चलूँ। मैं तैयार हो गया और मैंने इसकी सूचना बापू के पास भेज भी दी। जब मैं उन प्रवासी भाई के साथ वर्धा स्टेशन पर पहुँचा तो मुझे वहाँ मद्रास के हिन्दी प्रचारक हरिहर शर्मा दीख पड़े। मैंने उनसे पूछा, "आप यहाँ कैसे पधारे?" वह बोले, "बापू ने मुझे आपका स्वागत करने के लिए भेजा है। पहले वह किसी और को भेजने वाले थे पर उन्होंने आपको कभी देखा भी न था। तब उन्होंने मुझे भेजा।" मुझे यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि मैं कोई अजनबी आदमी तो था नहीं। हम लोग आश्रम पहुँचे तो बापू के आदेशानुसार हम लोगों के लिए चाय का प्रबन्ध कर दिया गया। रात को साढ़े आठ बजे बापू से मिलने का समय था। निश्चित समय पर हम लोग उपस्थित हुए। बापू ने तुरन्त ही कहा, "ख़ूब आराम से चाय पीना।" मैंने कहा, "क्या आपको मेरे चाय पीने की बात मालूम हो गई है?" बापू ने कहा, "हाँ, काका साहब ने मुझे बतला दिया है कि तुम चाय पीने लगे हो।" मैंने पूछा, "मिस्टर ऐण्ड्रूज़ आपके छोटे भाई हैं?" बापू ने कहा, "हाँ।" मैंने कहा, "और आप उनके बड़े भाई हैं?" बापू ने कहा, "हाँ।" मैंने कहा, "मैं छोटे भाई की बात मानता हूँ, बड़े की नहीं।" बापू ने तुरन्त ही उत्तर दिया, "तब तो मैं ऐण्ड्रूज़ को लिख दूँगा कि तुमको अच्छा शिष्य मिल गया है।" तत्पश्चात् बापू ने मुझे आधा घण्टा टाइम दिया और कहा, "सवेरे डेढ़ बजे का उठा हुआ हूँ और दिन में केवल घण्टा-डेढ़ घण्टा विश्राम किया है। और अब नौ बज रहे हैं।" मुझे इस बात से बड़ा आश्चर्य हुआ कि बापू को कितना परिश्रम करना पड़ता है। बाहर आकर जब यह बात मैंने हरिहर शर्मा से पूछी कि बापू इतनी मेहनत क्यों करते हैं तो वह बोले, "हम लोग आलसी हैं, इसीलिए बापू को इतनी मेहनत करनी पड़ती है।"

दूसरे दिन डच गयाना के प्रवासी भारतीय को मैंने बापू से मिलाया और उन्होंने बापू से एक संदेश

देने की प्रार्थना की। बापू ने मुझसे कहा, "लिख दीजिए।" ज्यों ही मैंने जेब से पैन निकाला, बापू ने कहा, "डच गयाना वाले कहेंगे इनके पास घर की क़लम भी नहीं है। इसलिए क़लम से लिखिए।" उन्होंने तुरन्त ही नेजा और चाकू मँगवा दिया। मैंने क़लम बना ली। मुझे उन दिनों अच्छे काग़ज़ पर लिखने का शौक़ था। मैंने जेब से बैंक पेपर निकाला। बापू ने मज़ाक उड़ाते हुए कहा, "ऐसा बढ़िया काग़ज़ तो चाय पीने वालों को मिल सकता है। हम लोग तो शुद्ध पानी पीने वाले हैं। हमें ऐसा पेपर कहाँ से मिल सकता है!" फिर उन्होंने हाथ का बना हुआ काग़ज़ मँगा कर दिया और हाथ की बनी हुई कलम भी रखवा दी। तत्पश्चात् बापू का सन्देश मैंने हाथ के बने काग़ज़ पर क़लम से ही लिख दिया। उसका ब्लाक मैंने 'विशाल भारत' में भी छापा था।

बापू की सावधानी

बापू ने जो सन्देश डच गयाना के प्रवासी भारतीयों के लिए लिखाया था उसमें मेरा नाम भी था। मैंने जान-बूझकर, उसके आगे श्री नहीं लिखा था। बापू ने स्वयं उसे पढ़ा और 'श्री' अपने हाथ से जोड़ दिया।

फिर चाय का मज़ाक

शाम के वक्त हम लोग बापू के साथ भोजन के लिए बैठे। श्रीमती सरोजिनी नायडू की पुत्री पद्मजा नायडू भी साथ बैठी थीं। उनके लिए दक्षिण के भोजन का प्रबन्ध था। उनके थाल में कॉफी का कप भी था। मुझे मज़ाक सूझा और मैंने कहा, "बापू, मेरी वोट बढ़ रही है, पद्मजा जी कॉफी पीती हैं, 'बा' भी चाय पीती हैं और मैं भी चाय पीता हूँ।" बापू ने कहा, "बुरी चीज़ों के प्रचार के लिए वोट की ज़रूरत नहीं पड़ती। वे तो अपने आप फैलती हैं।"

भंसाली भाई उसी पार्टी में बैठे थे। उन्होंने इशारे से कहा, "पहले तो तुम दुबले-पतले थे और अब मोटे हो गये हो।" मैंने बापू से शिकायत की कि भंसाली भाई मेरा मज़ाक उड़ा रहे हैं। बापू बोले, "वह यह भी कहते हैं कि आप चाय पीकर बहुत मोटे हो गये हैं।"

चाकलेट-काण्ड

स्वर्गीय उग्र जी ने एक पुस्तक लिखी थी जिसका नाम 'चाकलेट' था। उसमें उन्होंने अप्राकृतिक दुराचारों का मनोमोहक चित्रण किया था। उसमें कई वाक्य अत्यन्त अनुचित थे। एक व्यक्ति के मुख से कहलाया गया था कि "महाकवि तुलसीदास ने भगवान राम के बालरूप का जो वर्णन किया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह भी इस दुराचार के शिकार रहे होंगे।" इस वाक्य से मेरे हृदय को इतना धक्का लगा कि मैंने इस विषय पर एक लेख अंग्रेज़ी में महात्मा जी के 'यंग-इण्डिया' के लिए लिख भेजा और 'चाकलेट' पुस्तक भी साथ में भेज दी। महात्मा जी ने 'चाकलेट' पुस्तक को पढ़ा और मुझे एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने लिखा था कि उन पर पुस्तक का वैसा प्रभाव नहीं पड़ा था जैसा कि मुझ पर पड़ा। लेखक ने अप्राकृतिक दुराचार के प्रति घृणा उत्पन्न करने का ही प्रयत्न किया है। महात्मा जी ने मेरा लेख नहीं छापा। तब मुझे कलकत्ता से वर्धा की यात्रा करनी पड़ी। वहाँ जो बातचीत हुई उसका विवरण यहाँ दे रहा हूँ। उन्होंने कहा था, "आपने अच्छा किया कि यहाँ आये, नहीं तो मैं ग़लत चीज का समर्थन कर देता।"

2

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर

"क्या शान्ति-निकेतन न देखोगे ?" यह प्रश्न दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ ने 3 मई, सन् 1918 को किया था। मैं उनके दर्शनार्थ कलकत्ता गया था और वह कविवर के जोड़ासाँको वाले मकान पर ठहरे हुए थे।

मैंने उत्तर दिया, "शान्ति-निकेतन तो हम लोगों के लिए तीर्थ-स्थान की तरह है। अवश्य ही वहाँ की यात्रा करूँगा।"

इस प्रकार आज से चौंसठ वर्ष पूर्व मुझे शान्ति-निकेतन जाने का अवसर प्रथम बार मिला था। सौभाग्य से दूसरे दिन बुधवार था और वहाँ प्रत्येक बुधवार को प्रार्थना-मन्दिर में गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रवचन हुआ करता था। मन्दिर में एकत्रित थे विद्यार्थी-समाज, अध्यापकगण तथा अतिथि लोग और वे गुरुदेव की प्रतीक्षा कर रहे थे। धीरे-धीरे वह पधारे और वेदी के निकट बैठ गये। गुरुदेव का व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक था। उनका दिव्य मुख-मण्डल दर्शक को मंत्रमुग्ध-सा कर देता था। दीनबाबू और उनकी पार्टी ने बड़े मधुर स्वर में गुरुदेव का कोई गीत गाया, और तत्पश्चात् गुरुदेव का प्रवचन हुआ। वाणी की वह तेजस्विता, स्वर का वह उतार-चढ़ाव और शब्दों का वह चयन, सभी चीज़ें निराली थीं। ऐसा प्रतीत होता था मानो हम उपनिषद्-काल के ऋषि का प्रवचन सुन रहे हों। बँगला भाषा मैं थोड़ी ही जानता था, इसलिए उसका सारांश ही समझ पाया।

दूसरे दिन जब मैं गुरुदेव की सेवा में उपस्थित हुआ और चरण-स्पर्श करके उनकी आज्ञानुसार बैठ गया तो गुरुदेव ने अंग्रेज़ी में पूछा, "मेरा कल का भाषण क्या आप समझ सके ? मैंने प्रार्थना-मन्दिर में उसी समय सोचा था कि सम्भवतः आप मेरी बँगला न समझ पा रहे होंगे।"

मैंने निवेदन किया, "गुरुदेव, विद्यासागर और बंकिम की बँगला तो मैं कुछ समझ लेता हूँ, पर आपकी बँगला का तो सारांश ही मैं समझ पाया।" गुरुदेव ने मुसकराकर कहा, "वे लोग संस्कृतमय भाषा लिखते थे और मैं बोल-चाल की भाषा का व्यवहार करता हूँ।"

बातचीत के प्रसंग में मैंने गुरुदेव को सत्य-नारायण कविरत्न के स्वर्गवास का खेदप्रद समाचार सुनाया। गुरुदेव ने कहा, "वह कवि तो अभी युवक ही थे। अपनी सुंदर कविता में 'रवि' और 'इन्द्र' किस चतुरता से लाए थे, इसका मुझे अब भी स्मरण है। उनकी असामयिक मृत्यु की बात सुनकर मैं दुःखित हूँ।"

सन् 1914 में जब गुरुदेव आगरा पधारे थे तो

सत्यनारायण कविरत्न ने उनकी अभ्यर्थना के लिए एक कविता लिखी थी, 'रवीन्द्र-वन्दना'। उसमें एक जगह पर ये पंक्तियाँ आयी थीं :

रवि इन्द्र मिले दोउ एक जहँ, तउ अचरज कैसो अहै।
यह हिन्दी प्यारी चातकी तव रस कों तरसत रहै।।

उस बार मैं शान्ति-निकेतन में केवल तीन-चार दिन ही रह सका, पर उसके दो वर्ष बाद सन् 1920-21 में तो चौदह महीने तक वहाँ रहने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ और तब गुरुदेव के दर्शन प्रायः नित्य ही हुआ करते थे। उनसे वार्तालाप करने के अनेक अवसर भी प्राप्त हुए। मुझे इस बात का पछतावा है कि मैंने उसी समय गुरुदेव की सभी बातचीतों को लिखा नहीं। हाँ, कुछ के तो मैंने तभी लिपिबद्ध कर लिया था।

दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के निवास-स्थान वेणुकुंज में गुरुदेव पधारे थे। दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ से उनकी बातचीत चल रही थी, तत्पश्चात् गुरुदेव ने मेरी ओर देखकर कहा, "मैं तुमसे हिन्दी सीखना चाहता हूँ। मैं हिन्दी कुछ-कुछ तो जानता ही हूँ। हिन्दी भाषा में स्त्री-लिंग-पुलिंग का जो भेद है वह मुझे सबसे अधिक कठिन प्रतीत होता है। क्या तुम कुछ समय मेरे लिए निकाल सकोगे?"

मैंने निवेदन किया, "यदि आपकी कुछ सेवा कर सकूँ तो उसमें मैं अपना परम सौभाग्य ही समझूँगा।"

गुरुदेव: "मैं अपनी शान्ति-निकेतन पुस्तक-माला में से कुछ का अनुवाद स्वयं ही हिन्दी में करना चाहता हूँ। मुझे आशा है कि थोड़ा-सा प्रयत्न करने पर मैं यह कर सकूँगा।"

मैंने कहा, "हम हिन्दी-भाषी आपकी किसी हिन्दी रचना को पाकर अपने को धन्य मानेंगे और हम लोग उस पर अभिमान भी करेंगे।"

शाल वृक्षों के कुंज के नीचे गुरुदेव टहल रहे थे और मैं उनके पीछे-पीछे चल रहा था। अंग्रेज़ी में



विश्वकवि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर

एकाध बात मैंने निवेदन की। गुरुदेव ने मुड़कर कहा, "आप मुझसे अंग्रेज़ी में बातचीत क्यों करते हैं? जब मैं आपसे हिन्दी सीखना चाहता हूँ तो हिन्दी में वार्तालाप कीजिए, नहीं तो बँगला में।"

जब मैंने निवेदन किया कि बँगला समझ तो लेता हूँ पर बोल नहीं सकता तो गुरुदेव ने कहा, "तब आप बँगला बोलना सीखिए।"

मैंने प्रार्थना की, "विधिवत् बँगला पढ़ने का अवसर मुझे नहीं मिला। हिन्दी-बँगला शिक्षक से छः-सात वर्ष पूर्व जो कुछ सीखा था उसी से काम चलाता रहा हूँ।"

गुरुदेव ने कहा, "तब आप विधिवत् बँगला सीखिये। मैं पढ़ाऊँगा।" अत्यन्त व्यस्त होने पर भी गुरुदेव ने मुझे और पूर्व अफ्रीका से लौटे हुए एक गुजराती सज्जन श्री पटेल को बँगला पढ़ाना प्रारम्भ किया। दुर्भाग्यवश यह क्रम बहुत दिनों तक नहीं चल सका, क्योंकि मुझे शान्ति-निकेतन छोड़कर बम्बई चले

जाना पड़ा। परन्तु एक चिट्ठी मैंने अपनी टूटी-फूटी बँगला में उन्हें अवश्य भेजी थी और उसके उत्तर में गुरुदेव ने लिखा था, "आपनार बाँगला चिठि खानि सुन्दर होइया छे—दुइ एकटि जा भूल आछे ताहा यत्सामान्य।" (आपने सुन्दर बँगला चिट्ठी लिखी है। जो दो-एक भूलें हैं, वे मामूली हैं।)

गुरुदेव के एक जन्म-दिन के समारोह का मुझे अब तक स्मरण है। कवीन्द्र की वर्षगाँठ का दिन था। सघन आम्रवृक्षों के नीचे एक चौक पूरा गया था। उसमें गुरुदेव के बैठने के लिए स्थान बनाया गया था। आम की डालियों में पतली डोरियों से चारों ओर कमल-पुष्प बाँधे गये थे। कवीन्द्र पधारे और श्री विधुशेखर शास्त्री महाशय ने निम्नलिखित कविता पढ़ी। नमूने के रूप में कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :

स्वस्ति साधु सकलैः सभागतै-
र्गीयतां सहृदयैः समन्ततः
श्रीमतः समुदितो महाकवेः
वर्षवृद्धिदिवसः समृध्यताम्।
....
मंगलं भवतु ते जगत्कवे
मंगली भवती ते प्रियस्य नः,
मंगलं भवतु नस्त्वदाश्रयाद्
मंगलं भवतु विश्वतोमुखः।

शास्त्री महाशय विधुशेखर भट्टाचार्य के उस मुस्कराते हुए चेहरे की याद मुझे इस समय आ रही है, जब वह गुरुदेव के हाथ में राखी बाँध रहे थे या माथे पर चन्दन लगा रहे थे।

अनेक हिन्दी लेखकों तथा कवियों को गुरुदेव के दर्शन कराने मैं ले गया था और अत्यन्त व्यस्त होने पर भी उन्होंने समय देने से कभी इन्कार नहीं किया। दिन-भर काम करने के बाद चाहे वह कितने ही थक गये हों, मेरे लिए पंद्रह-बीस मिनट सदैव निकाल लेते थे और मैंने भी यह नियम बना लिया था कि जहाँ कोई हँसी की बात आई और गुरुदेव ने उल्लास के साथ कोई मज़ाक किया कि उसके बाद मैं इंटरव्यू को समाप्त करते हुए नमस्कार करके शीघ्र ही चल देता था। 'मधुरेण समापयेत्' की नीति का मैंने निरन्तर अवलम्बन किया। इस बात का हमेशा ख़याल रखा कि गुरुदेव ऊबने न पावें।

गुरुदेव बड़ा मधुर मज़ाक करते थे। हिन्दी लेखकों के एक दल के सामने बातचीत आरम्भ करते हुए उन्होंने अंग्रेज़ी में कहा : "आई होप यू विल एक्सक्यूज़ मी फार नॉट बीइंग एबल टू स्पीक इन यूअर लैंग्वेज, हिन्दी; एज़ आई एक्सक्यूज़ बनारसीदास फॉर नॉट बीइंग एबल टू स्पीक इन माई लैंग्वेज, बंगाली।"

अर्थात् "मुझे आशा है कि आप मुझे हिन्दी न बोलने के कारण उसी प्रकार क्षमा कर देंगे जैसे मैंने बनारसीदास को बंगला न बोलने के लिए कर दिया है।" पौने घण्टे की बातचीत में एक बार फिर उन्होंने मुझ पर मधुर व्यंग्य किया, "पचास वर्ष पहले जब मैं हिन्दी सीखना चाहता था, तब इन महाशय का, जो मेरे दाहिने हाथ की ओर बैठे हैं, जन्म भी नहीं हुआ था।"

इस मज़ाक को सुनकर हम सबको हँसी आ गई। दाहिनी ओर मैं ही बैठा हुआ था।

पर इससे यह न समझना चाहिए कि गुरुदेव हिन्दी जानते न थे। उन्होंने अनेक हिन्दी ग्रन्थ पढ़े थे। जब हिन्दी-शब्द-सागर निकला था तो उन्होंने न जाने उसके कितने पृष्ठों पर निशान लगा दिये थे। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के लेख भी वह बड़ी सरलता से पढ़ लेते थे। मुझे भली भांति स्मरण है कि 'विशाल भारत' के प्रथम अंक में प्रकाशित 'प्रेमचन्द का गद्य काव्य' नामक लेख को उन्होंने प्रारम्भ से अन्त तक पढ़ा था। वह लेख श्री रामदास गौड़ का लिखा हुआ था। जब मैं शान्ति-निकेतन गया तो गुरुदेव ने उस लेख का ज़िक्र किया और श्री प्रेमचन्द जी से मिलने की इच्छा भी

प्रकट की। स्वयं मेरी भी यह बड़ी अभिलाषा थी कि मैं इन दोनों महान् कलाकारों के संभाषण को सुन सकूँ, पर बहुत प्रयत्न करने पर भी मैं अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सका।

इस बार मैंने गुरुदेव की सेवा में अपनी इस असफलता का ज़िक्र करते हुए कहा, "प्रेमचन्द जी बड़े संकोचशील हैं, शायद इसी कारण वह शान्ति-निकेतन नहीं पधार सके।" इस पर गुरुदेव ने मुसकराते हुए कहा, "प्लीज़ डोण्ट फारगेट दैट आई एम ए पोएट एण्ड आई ट्र एम वैरी शाई बाई नेचर, दो आई हैव हैड टू ट्रेवल ऑल ओवर दि वर्ल्ड।"

(कृपया यह न भूलिये कि मैं कवि हूँ, और मैं भी स्वभावतः बहुत संकोचशील हूँ यद्यपि मुझे तमाम दुनिया की यात्रा करनी पड़ी है।)

गुरुदेव हिन्दी भाषा के लचीलेपन पर मुग्ध थे और उन्होंने कई बार 'आँख की किरकिरी' ('चोखेर वाली' के हिन्दी अनुवाद) की प्रशंसा की थी। उन्होंने एक बार बन्धुवर श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी से कहा था, "तुम्हारी भाषा बड़ी शक्तिशाली है। खेद इसी बात का है कि इस युग में उसे कोई वैसा ही शक्ति-शाली आदमी नहीं मिला।"

गुरुदेव हिन्दी के परम शुभचिन्तक थे और न जाने कितने परामर्श उन्होंने श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा श्री भगवतीप्रसाद चंदोला को हिन्दी ग्रन्थों के लिखने-लिखाने के विषय में दिये थे। हिन्दी बोलने में उन्हें संकोच इसलिए होता था कि उन्हें बार-बार यह आशंका बनी रहती थी कि कहीं उनसे कोई भूल न हो जाये। किसी भी भाषा को अशुद्ध बोलने में उनकी अन्तरात्मा हिचकती थी।

गुरुदेव हिन्दी का प्रचार चाहते थे और ख़ूब चाहते थे, यद्यपि उनकी कार्य-पद्धति भिन्न थी। उन्होंने एक बार कहा था: "डू नॉट रेस्ट कन्टेण्टेड विद दी एक्सीडेंटल एडवांटेज ऑफ यूअर नम्बर। एट्रैक्ट पीपल बाई क्रिएटिंग ग्रेट लिटरेचर।"

(आप लोग इस बात से संतुष्ट न रहें कि हमारी भाषा हिन्दी के बोलने वाले इतने ज़्यादा हैं, क्योंकि संख्या का अधिक होना आकस्मिक ही है। आप लोग उच्च साहित्य की सृष्टि करके अन्य भाषा-भाषियों को अपनी ओर आकर्षित करें।)

पारस्परिक सहयोग की भावना

जब श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार तथा उनकी पार्टी शान्ति-निकेतन गई थी, उस समय गुरुदेव ने 40-45 मिनट तक बड़े आनन्दपूर्वक हम सबके साथ वार्तालाप किया था। इस बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा था: "हम लोग एक-दूसरे को बहुत ही कम जानते हैं। हम एक-दूसरे की मनोवृत्ति को नहीं समझते, निकट सम्पर्क में नहीं आते और वस्तुतः एक-दूसरे से अलग रहते हैं। इस अज्ञान से असत्य धारणाएँ उत्पन्न होती हैं और वे ही सर्वव्यापी प्रान्तीयता के मूल में हैं। प्रान्तीयता की यह भावना मूर्खतापूर्ण ही नहीं, धूर्तता-पूर्ण भी है। जैसा कि मैंने कहा है, इसकी जड़ अज्ञान में है। हम आपको नहीं जानते, मानो आप हमारे लिए विदेशी हों। हमें एक-दूसरे से परिचित होना चाहिए।"

जब कविवर श्री माखनलाल चतुर्वेदी तथा जैनेन्द्र जी गुरुदेव के दर्शनार्थ शान्ति-निकेतन गये थे, तब उन्होंने कहा था: "मैं हिन्दी भाषा-भाषी लोगों के निकट सम्पर्क में आने के लिए उत्सुक हूँ। यहाँ हम लोग संस्कृति-प्रचार के लिए जितना कुछ भी कर सकते हैं, कर रहे हैं। हम चाहते हैं कि हिन्दी-भाषी लोग यहाँ आयें, हमारे अनुभव में हिस्सा बंटाएँ और अपने अनुभव से हमें लाभान्वित करें।" इस पर जब मैंने कहा, "हम लोगों को तो यहाँ तीर्थ-यात्रा के विचार से भी आना चाहिए," तो गुरुदेव ने तुरन्त उत्तर दिया, "हम तो यह चाहते हैं कि हिन्दी कवि और लेखक यहाँ पधार कर हमारे साथ रहें, न कि सिर्फ़ तीर्थ-यात्रा के ख़्याल

से यहां आवें। मैं हिन्दी को आश्रम में एक सजीव भाषा बनाना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है कि शान्ति-निकेतन समस्त भारतीय संस्कृतियों का एक केन्द्र बने। मेरी अभिलाषा है कि शान्ति-निकेतन में समस्त भारतीय भाषाओं और एशिया की संस्कृतियों के बीच सरलतापूर्वक पारस्परिक सहयोग तथा आदान-प्रदान हो।"

गुरुदेव के इस आदेश को ध्यान में रखकर हमने वहाँ शान्ति-निकेतन में हिन्दी-भवन बनवाने का निश्चय किया था। तीन वर्ष के प्रयत्न के बाद हमारा वह स्वप्न सत्य सिद्ध हुआ। हलवासिया ट्रस्ट की ओर से हिन्दी-भवन का निर्माण हो गया। यह बात ध्यान देने की है कि उसकी नींव दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ ने रखी थी और उस भवन का उद्‌घाटन श्रीमान् पं० जवाहरलाल नेहरू ने किया था। इस महान् यज्ञ में श्रीमान् भागीरथ जी कानोड़िया तथा सीताराम जी सेक्सरिया ने बड़ी मदद दी थी।

अनेक हिन्दी भाषा-भाषियों को शान्ति-निकेतन की तीर्थ-यात्रा और गुरुदेव के दर्शन कराने का ज़िम्मा मेरा ही था। एक बार मैंने मज़ाक में गुरुदेव से कहा, "गुरुदेव, आई एम दि पाण्डा ऑफ शान्ति-निकेतन एज़ वैल एज़ ऑफ वर्धा।" (अर्थात् गुरुदेव, मैं शान्ति-निकेतन और वर्धा दोनों का पंडा हूँ।)

गुरुदेव ने तुरन्त उत्तर दिया, "एण्ड यूअर ट्रेड इज़ फ्लोरिशिंग दीज़ डेज़ वेरी मच।" (अर्थात्, आजकल आपकी पंडागिरी का यह व्यापार ख़ूब चमक भी रहा है।)

बात यह हुई कि मैं उन्हीं दिनों अनेक साहित्यिकों को गुरुदेव के दर्शन कराने ले गया था। भाई हजारीप्रसाद जी द्विवेदी मेरे असिस्टेंट पंडा ही नहीं थे, वह हिन्दी-भवन की आत्मा भी थे।

एक बार मैंने गुरुदेव से प्रार्थना की, "कृपा कर आप अपनी उस सुन्दर बँगला कविता को, जो आपने दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के स्वागत में सन् 1913 या 1914 में लिखी थी, मेरे लिए अपने अक्षरों में नकल कर दीजिए।"

गुरुदेव ने पूछा, "आपको वह कविता मिल कहाँ गयी?" निवेदन किया, "यहीं की एक पुरानी हस्तलिखित पत्रिका में।"

गुरुदेव ने कहा, "अच्छा लाइये, मैं पुनः लिख देता हूँ।"

गुरुदेव के अक्षरों की लिखी हुई वह कविता आज भी मेरे संग्रहालय की शोभा बढ़ा रही है :

प्रतीचिर तीर्थ हते प्राण रसधार।
हे बन्धु, ऐनेछ तुमि, करि नमस्कार।
प्राची दिल कंठे तव वरमाल्य तार,
हे बन्धु, ग्रहण कर, करि नमस्कार।
खुलेछे तोमार प्रेमे आमादेर द्वार,
हे बन्धु, प्रवेश कर, करि नमस्कार।
तोमारे पेयेछि, मोरा दानरूपे जार,
हे बन्धु, चरणे तार करि नमस्कार।

—श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

गुरुदेव के दर्शन मैंने अनेक परिस्थितियों में किये थे। उन्हें शान्ति-निकेतन के लिए आर्थिक चिन्ताओं से युक्त देखकर हृदय को बड़ा क्लेश होता था। एक बार निजी बातचीत में उन्होंने कहा था—

"देश के एक बड़े नेता ने मुझसे पूछा, 'आपको शान्ति-निकेतन के लिए कितना रुपया चाहिए,' मैंने कहा, 'यही पांच-छः लाख रुपये पर्याप्त होंगे।' उन्होंने कहा, 'बस, केवल इतने ही?'

"इतनी छोटी रकम बतला कर मैं उनकी इज़्ज़त में गिर गया, पर वह कुछ भी सहायता न कर सके।"

यद्यपि नेता महोदय शान्ति-निकेतन को कुछ न दिला सके, तथापि आगे चलकर महात्मा गांधी जी ने एक अच्छी रकम उन्हें दिलाकर उस समय चिन्ता-मुक्त कर दिया था। यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि हमारे स्वर्गीय राष्ट्रपति श्रद्धेय बाबू राजेन्द्र

प्रसाद जी ने विशेष रूप से उस दिशा में प्रयत्न किया था। उन्होंने पटना से आकर महात्मा गांधी जी की सेवा में शान्ति-निकेतन के आर्थिक संकट की बात रखी थी।

गुरुदेव का आत्म-दान निरन्तर चलता ही रहता था। अपनी भाषा, अपने देश और फिर संसार को उन्होंने क्या नहीं दिया ? अपने ग्रन्थों की समस्त आय वह शान्ति-निकेतन को ही अर्पित कर देते थे और सबसे अधिक श्रम उन्हें तब पड़ता था, जबकि वृद्धावस्था में भी उन्हें चन्दा मांगने के लिए देश-विदेश की यात्रा करनी पड़ती थी। सैंकड़ों, सहस्रों शिक्षकों तथा विद्यार्थियों के जीवन को विकसित करने में उन्होंने अपूर्व सहायता दी थी। घी, स्याही इत्यादि बीसियों चीज़ों के उन्हें प्रमाणपत्र देने पड़ते थे। एक बार किसी आश्रमवासी ने गुरुदेव की प्रवृत्ति की आलोचना की तो मुसकराकर उन्होंने कहा, "देखो, एक चीज़ के लिए मैं कभी प्रमाणपत्र न दूँगा—यानी सेफ्टी रेज़र के लिए।"

एक बार लोकमान्य तिलक ने गुरुदेव से प्रार्थना की थी, "आप विलायत की यात्रा कीजिए।" उन्होंने उत्तर दिया, "मैं तो कोई राजनैतिक नेता नहीं। मेरी यात्रा से क्या लाभ होगा ?" लोकमान्य तिलक ने तुरन्त ही कहा, "विलायत में आपकी उपस्थिति ही हमारे स्वराज्य-संग्राम में सहायता प्रदान करेगी।"

गुरुदेव का ज़िक्र करते हुए स्वर्गीय रामानंद चट्टोपाध्याय का स्मरण आ जाना स्वाभाविक ही है। बड़े बाबू ने शान्ति-निकेतन के लिए क्या-क्या नहीं किया ? उन्होंने लिखा था कि गुरुदेव ने 67-68 वर्ष तक अपनी साहित्य सेवा निरन्तर जारी रखी थी और मुद्रित रूप में उनकी रचानएँ बड़े रायल आठपेजी साइज़ के 17-18 हज़ार पृष्ठों में आवेंगी।

जब गुरुदेव स्वर्गवासी हुए थे तो बड़े बाबू ने लिखा था, "मेरी आकांक्षा थी कि कवि के सामने ही मेरी मृत्यु हो। रवीन्द्र-विहीन जगत् की कल्पना मैं कभी न की थी।" निस्सन्देह बड़े बाबू गुरुदेव के ब भक्त थे। यही बात दीनबन्धु सी० एफ० ऐण्ड्रूज़ विषय में भी कही जा सकती है। उन्होंने भी शान्ति निकेतन के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया था।

उन दिनों का स्मरण करके हृदय में एक हूक-स उठती है जबकि गुरुदेव, ऐण्ड्रूज़ और बड़े दादा त्रिमूर्ति के दर्शन प्रायः नित्यप्रति शान्ति-निकेतन होते थे।

गुरुदेव के अन्तिम दर्शन करने का सौभाग्य मु 1940 में प्राप्त हुआ था। उस समय उनके नेत्रों क ज्योति मन्द हो चली थी। गुरुदेव ने मज़ाक में कहा "तुम्हारी लम्बाई से ही मैंने अनुमान कर लिया कि तुम बनारसीदास हो।"

जब मैंने यह बात बंधुवर सियारामशरण ज गुप्त को लिखी तब उन्होंने उत्तर में लिखा, "जि नेत्रों ने इतना देखा और हम लोगों को इतन दिखलाया, उनकी ज्योति का मन्द होना अत्यन दुर्भाग्य की बात है।"

शान्ति-निकेतन में गुरुदेव के चरणों के निक बिताए हुए दिनों की अनेक मधुर स्मृतियाँ इस सम मेरे दिमाग में चक्कर काट रही हैं।

गुरुदेव अपनी 'सेकाल' शीर्षक कविता (आमि यदि जन्म नितेम कालिदासेर काले'—यदि मैं कालि दास के समय में जन्म लेता) पढ़ रहे हैं और श्रोताग उसका आनन्द ले रहे हैं। द्वार पर खड़ा हुआ मैं भ उनके शब्दों की ध्वनि से मुग्ध होकर सुन रहा हूँ औ आधीपद्धी जो कुछ बँगला समझ में आ रही है उस से अपना सन्तोष कर रहा हूँ। (मालूम नहीं कि उ कविता को गुरुदेव की वाणी में टेप रिकार्ड पर ले लिया गया था या नहीं।)

अपने मारवाड़ी मित्रों को लेकर मैंने शान्ति निकेतन की यात्रा की है और उनमें से किसी ने गुरु देव से प्रार्थना की है, "गुरुदेव, आप गायत्री मन्त्र पढ़

कर सुनाइए।" गुरुदेव उनकी इस फर्माइश को पूरा कर रहे हैं। उसी समय मैंने भी धृष्टता करके एमर्सन का एक अँग्रेज़ी जीवन-चरित गुरुदेव के हस्ताक्षरों के लिए आगे बढ़ा दिया है और गुरुदेव ने उस पर एक वेद-मन्त्र लिख दिया है :

यो विद्यात् सूत्रं वितताम् यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥
(अथर्ववेद)

— **रवीन्द्रनाथ ठाकुर**

असहयोग आन्दोलन के दिन हैं और गुरुदेव अभी अमेरिका की यात्रा से लौटे हैं। कुछ उत्साही, किन्तु नासमझ असहयोगियों द्वारा उन पर दबाव डाला जा रहा है कि वह आन्दोलन के पक्ष में अपना सहयोग प्रदान करें। उन्हीं दिनों एक विदेशी यात्री शान्ति-निकेतन आए हुए हैं और गुरुदेव उनसे कह रहे हैं, "इस देश में जब भगवान गौतम बुद्ध पधारे थे तब सब लोगों ने उन्हें अपनी सर्वोत्तम चीजें भेंट की थीं। उसी तरह महात्मा गांधीजी के आगमन पर मैं अपनी सर्वोत्तम वस्तु, शान्ति-निकेतन, उन्हें भेंट करना चाहता हूँ। वसन्त के आगमन पर प्रत्येक वृक्ष या पौधा अपना विशेष फल या पुष्प भेंट करता है। कोई यह नहीं चाहता कि गुलाब का पौधा जूही का पुष्प प्रदान करे या गेंदे का पौधा चमेली दे दे। फिर मुझसे अन्य किसी दान की आशा क्यों की जाती है?"

मैं भी दूर खड़ा-खड़ा छिपकर इस बातचीत को सुन रहा हूँ।

अपने प्राचीन नियमानुसार मैं अतिथिशाला में दोपहर का विश्राम कर रहा हूँ कि किसी ने आकर मुझे जगा दिया है : "गुरुदेव आपको याद कर रहे हैं।" मैं उठकर उनकी सेवा में उपस्थित होता हूँ। गुरुदेव कहते हैं, "मैं आपके मारवाड़ी मित्रों से अपील करना चाहता हूँ कि वे हमारे महिला विद्यालय के छात्र-निवास के लिए एक-आध कमरा बनवा दें। क्या यह ठीक होगा?" और मैं आग्रहपूर्वक कह रहा हूँ, "नहीं गुरुदेव, आपको 'हिन्दी-भवन' के लिए ही माँग करनी चाहिए।" गुरुदेव मेरी प्रार्थना पर वैसे ही कर रहे हैं। वह दृश्य अब भी मेरी आँखों के सामने है जब मैं मारवाड़ी बालिका विद्यालय की छात्राओं के साथ श्री सीतारामजी सेक्सरिया को गुरुदेव की सेवा में ले गया था और गुरुदेव ने उनसे 'हिन्दी-भवन' के लिए सहायता की प्रार्थना की थी। वस्तुतः शान्ति-निकेतन के 'हिन्दी-भवन' की नींव उसी दिन पड़ी थी।

और उस रात की बात मुझे अब भी याद है जब लगभग बारह बजे मैंने अपनी पुस्तक 'भारत-भक्त ऐण्ड्रूज़' को समाप्त किया था, जिसकी भूमिका बहुत महीने पहले महात्मा जी ने लिख दी थी और बाद में गुरुदेव ने भी लिखी। शान्ति-निकेतन के उन प्रातः-कालों की याद मुझे अब भी आ रही है जब चिड़ियों के चहचहाने के साथ-साथ विद्यार्थी अपना गान गाते हुए निकलते थे। आश्रम के शाल वृक्ष, लताएँ, अशोक और आम्रवृक्षों तथा लताओं और पारिजात के पुष्पों की स्मृति भी ज्यों-की-त्यों ताज़ा है।

15 जून, सन् 1920 को दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के आदेश का पालन करके डेली कॉलेज (इन्दौर) की प्राध्यापकी छोड़कर चौदह महीने मुझे शान्ति-निकेतन में रहने और गुरुदेव के नित्यप्रति दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इसे मैं अपने पूज्य माता-पिता के आशीर्वाद अथवा पूर्वजन्म के पुण्यों का फल ही मानता हूँ।

3

दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़

पुस्तकालयों से मुझे प्रेम रहा है। जहाँ कहीं भी मैं रहा सप्ताह में तीन-चार बार स्थानीय लाइब्रेरी में समाचार-पत्र पढ़ने के लिए अवश्य जाया करता था।

दीनबन्धु का परिचय मुझे फर्रुखाबाद की सार्वजनिक लाइब्रेरी में मिला। 'मॉडर्न रिव्यू' के एक अंक में मैंने यह पढ़ा कि जब मिस्टर ऐण्ड्रूज़ अफ्रीका गये थे तो डरबन स्टेशन पर अनेक भारतीय उनके स्वागतार्थ पधारे थे। तब तक रेडियो का आविष्कार नहीं हुआ था। यह बात 1913 की है। मि० ऐण्ड्रूज़ का अनुमान था कि सभी लीडर जेल में होंगे। पोलक साहब को स्टेशन पर देखकर मिस्टर ऐण्ड्रूज़ ने पूछा, "आप यहां कैसे आ गये ?" पोलक ने जवाब दिया, "हम सब जेल से छूट चुके हैं।" मि० ऐण्ड्रूज़ ने कहा, "तो मि० गांधी कहाँ है ?" गांधी जी वहीं खड़े हुए थे। उन्होंने कहा, "मैं ही गांधी हूँ।" मि० ऐण्ड्रूज़ ने तुरन्त ही झुककर उनके चरण स्पर्श किये और चरण-रज माथे पर लगा ली। इससे यूरोपियन लोगों में तहलका मच गया। कई पत्रों ने ऐण्ड्रूज़ की कठोर आलोचना की। मैं तब तक महात्मा जी का भक्त बन चुका था। दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ की इस श्रद्धा का मेरे ऊपर ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा और उस समय मैंने अपने मन में कहा, "यह व्यक्ति दरअसल अभिनन्दनीय है जो शासक जाति का होते हुए भी हमारे एक गण्यमान्य नेता का इतना सम्मान करता है। इसके दर्शन कभी न कभी अवश्य करूँगा।" यह बात सन् 1914 की है। उस दिन भी मैंने कल्पना नहीं की थी कि दीनबन्धु का प्रथम जीवन-चरित मेरे द्वारा ही लिखा जायेगा और उनके जीवन की महत्त्वपूर्ण सामग्री, जिसमें उनके 290 पत्र हैं, राष्ट्रीय अभिलेखागार में मेरे द्वारा ही सुरक्षित हो जायेगी।

आगे चलकर होरेस अलेक्ज़ेण्डर तथा मिस अगाथा हेरीसन के अनुरोध पर मैंने मिस मार्जरी साइक्स के साथ मिलकर दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ का जीवन-चरित अँग्रेज़ी में लिखा। ग्रन्थ तो दरअसल कुमारी साइक्स का ही लिखा हुआ है, यद्यपि उन्होंने मेरा नाम भी अपने साथ जोड़ दिया है। हाँ, मेरे द्वारा संगृहीत सामग्री का उपयोग उन्होंने अवश्य किया था।

हाल ही में लंकास्टर यूनीवर्सिटी के प्रोफेसर रिंकर साहब ने दीनबन्धु का एक नवीन जीवन-चरित 'ऑर-डील ऑफ लव' के नाम से लिखा है। पहले उनका विचार दीनबन्धु का नवीन जीवन-चरित लिखने का नहीं था पर राष्ट्रीय अभिलेखागार में मेरे संग्रह को देखकर वह इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने मि० ऐण्ड्रूज़ की एक नवीन जीवनी लिखने का निश्चय कर लिया।



कुछ आत्मीय क्षण : दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के साथ लेखक

दीनबन्धु से मेरा पत्र-व्यवहार तो 1914 से ही हो रहा था पर उनके दर्शन उन्नीस सौ अठारह में हुए। तत्पश्चात् बाईस वर्ष तक उनसे मेरा निकट सम्पर्क रहा। एक प्रसिद्ध लेखक ने लिखा था, "भारत में जितने अँग्रेज़ आये उनमें केवल तीन का ही नाम ख़ास तौर पर स्मरण किया जायेगा। उनमें दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ का नाम सर्वोपरि है। शेष दो के विषय में मत-भेद हो सकते हैं। महात्मा गांधी उन्हें अपने छोटे भाई के समान ही मानते थे और मेरी पुस्तक की भूमिका में उन्होंने लिखा था, "दीनबन्धु से बढ़कर सच्चा, विनम्र, और भारत-भक्त दूसरा व्यक्ति देश में विद्यमान नहीं है।"

बाईस वर्षों में दीनबन्धु से मिलने और बातचीत करने के सैकड़ों ही अवसर मुझे मिले। जितना ऋणी मैं उनका हूँ उतना किसी दूसरे का नहीं। उन्हींके कारण मैं गुरुदेव कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के चरणों के निकट पहुँच सका और तत्पश्चात् महात्मा गांधी जी के आश्रम में भी जाकर चार वर्ष रहा। दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के जीवन की मुख्य घटनाएँ अनेक हिन्दी-अँग्रेज़ी ग्रन्थों में छप चुकी हैं। उनको यहाँ दुहराने की ज़रूरत नहीं। महात्मा जी ने एक बार लिखा था, "जब तक अँग्रेज़ जाति में एक भी ऐण्ड्रूज़ विद्यमान है तब तक हम अँग्रेज़ों से घृणा नहीं कर सकते।" गांधी जी के इस कथन की पुष्टि बड़े आश्चर्य-जनक ढंग से हुई। सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी अर्जुनलाल सेठी अहमदाबाद काँग्रेस में पधारे थे और उन्होंने साबरमती पहुँचकर मुझे भी दर्शन दिये थे। उन्होंने मुझे कहा, "हम लोग मि० ऐण्ड्रूज़ को मार डालना चाहते थे।" मेरे हृदय को धक्का लगा। मैंने पूछा, "ऐसा क्यों?" वह बोले, "ऐण्ड्रूज़ जैसे व्यक्ति के जीवित रहते हम अँग्रेज़ों से घृणा नहीं कर पाते, वह हमारे मार्ग में बाधक हैं।" जब मैंने यह घटना दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ को सुनाई तो वह हँसकर बोले, "श्री अर्जुनलाल सेठी के लड़के को तो मैंने ही शान्ति-निकेतन में भर्ती कराया था।"

मि० ऐण्ड्रूज़ के जीवन की एक घटना मुझे याद आ रही है। पंजाब में मार्शल लॉ उठ जाने के बाद वह सर्वप्रथम पंजाब गये। जगह-जगह घूम-घूमकर उन्होंने ब्रिटिश सिपाहियों के अत्याचारों के बारे में छान-बीन की। उस समय एक सिख सिपाही उनके सामने आया और उसने अपने ऊपर हुए अत्याचारों का विवरण सुनाया, "किसी एक गाँव में तार कट गये थे। ब्रिटिश सिपाहियों ने उस गाँव को घेर लिया और मुझे, चूंकि मैं नम्बरदार था, पकड़कर पेड़ से

बाँध दिया और मेरे चूतड़ों पर कोड़े लगाए।" इतना कहकर उस सिख नम्बरदार ने अपनी धोती खोलकर कहा, "देखिए साहब, पीठ पर कोड़े के निशान अब भी हैं। अगर कोई जहाज़ का किराया दे दे तो मैं ब्रिटेन के बादशाह के पास जाकर कहूँ, देखिये आपके सिपाहियों ने मेरे साथ क्या बर्ताव किया है।" वह सिख सिपाही ब्रिटिश फौज में काम कर चुका था। यह सुनकर मि० ऐण्ड्रूज़ का हृदय द्रवित हो गया और उन्होंने झुककर उस सिपाही के चरण छू लिये। वह बोला, "साहब यह आप क्या करते हैं?" मि० ऐण्ड्रूज़ ने कहा, "मैं अँग्रेज हूँ और मेरी जाति वाले ने आपका यह अपमान किया।" वह सिख सिपाही ऐण्ड्रूज़ से ऊँचा था। उसके आँसू टपक कर ऐण्ड्रूज़ के कंधे पर गिरने लगे। वह बोला, "इतने महीने बाद मुझे तसल्ली की यह बूँद मिली है।" मि० ऐण्ड्रूज़ को उसके ये दो शब्द 'तसल्ली की बूँद' याद रह गये थे।

ऐण्ड्रूज़ का जन्म इंग्लैंड में 12 फरवरी, 1871 ई० में हुआ था और 1904 में वह भारत पधारे थे। उस दिन को वह अपना द्वितीय जन्म-दिवस मानते थे। भारत की पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव उन्होंने सन् 1910 में जनता के सामने रखा था। पं० जवाहर लाल नेहरू ने अपने आत्म-चरित में इसका उल्लेख भी किया है। यद्यपि दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ ने पूरे छत्तीस वर्ष तक विभिन्न क्षेत्रों में भारत की सेवा की तथापि उन्हें भारतीय समझना भूल होगी। वह तो एक विश्व नागरिक थे।

मैं इसे अपने जीवन का परम सौभाग्य मानता हूँ कि मैं उनके निकट सम्पर्क में आ सका। यद्यपि मेरी महापुरुषों की खोज की यात्रा क्रोपाटकिन से ही आरम्भ हो चुकी थी तथापि मुझे मार्गदर्शन मिला, दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के सम्पर्क से।



4

ऋषिवर रामानन्द चट्टोपाध्याय

कलकत्ता कांग्रेस का अवसर था। महात्मा गांधी जी ने मुझे शाम को पन्द्रह मिनट का वक्त दिया था। मैं ठीक समय पर पहुँचा भी। महात्मा जी ने कहा, "मुझे जीवन लाल अलम्यूनियम वाले के घर जाना है। तुम रास्ता जानते हो, साथ-साथ चलो। बातचीत भी हो जायेगी।" मैं ठीक-ठीक रास्ता तो नहीं जानता था, फिर भी साथ हो लिया। हम लोगों के भटक जाने से आधा घंटा ज़्यादा टाइम लग गया। मैंने काफी बातचीत की। प्रसंगवश रामानन्द बाबू का ज़िक्र आ गया तो महात्मा जी ने तुरन्त ही कहा, "रामानन्द बाबू तो ऋषि हैं।"

इस वाक्य में बापू ने बड़े बाबू के सम्पूर्ण चरित्र को मानो चित्रित ही कर दिया था। बड़े बाबू की भव्य मूर्ति अत्यन्त आकर्षक थी। वह लम्बी साधना तथा निरन्तर तपस्या की प्रतीक थी और उसका जादू जैसा प्रभाव पड़ता था। जब फ्रांस के महान् कलाकार रोमां रोलां ने उन्हें पहली बार देखा था तो इस आशय का पत्र लिखा था, "स्वभाव से वह (रामानन्द चटर्जी) कितने सहृदय हैं! जिस क्षण कोई उनका दर्शन करेगा, उसी क्षण से उन्हें प्रेम करने लगेगा। उनसे मानो प्रेम तथा सज्जनता की किरणें फूटती हैं और कितनी सादगी तथा विनम्रता है उनमें! उनकी भव्य मूर्ति मुझे टालसटाय की याद दिलाती है, पर उनमें माधुर्य तथा करुणा टालसटाय से अधिक ही है।"

ऐसे महामानव के चरणों के निकट दस वर्ष तक बैठने का सौभाग्य मुझे कब और कैसे प्राप्त हुआ उसकी कहानी शायद दूसरों के लिए मनोरंजक हो। सन् 1917 ई० की बात है। उन दिनों मैं 'अभ्युदय' में काम करता था और श्रीकृष्णराम मेहता जी की कृपा से लीडर भवन में एक कमरा मुझे रहने के लिए मिल गया था। शाम को टहलते-टहलते मैं श्री रामरखसिंह सहगल के 'चाँद' कार्यालय पर जा निकला। वहाँ श्री सहगल जी ने मुझे बतलाया कि 'मॉडर्न रिव्यू' आफ़िस से एक हिन्दी मासिक पत्र निकलने वाला है। मैंने उनसे पूछा कि यह ख़बर उन्हें कहाँ से मिली? तब उन्होंने श्री रामदास जी गौड़ का नाम लिया जो कायस्थ पाठशाला में रामानन्द बाबू के अधीन काम कर चुके थे।

मैं सीधे पण्डित सुन्दरलाल जी के निवास-स्थान पर गया। उनसे मेरा परिचय सन् 1917 से ही था और वह मेरे लिए गुरुतुल्य पूज्य रहे हैं। पण्डित जी ने मुझे तुरन्त ही आदेश दिया कि मैं उस पत्र के सम्पादक पद के लिए अर्जी भेज दूँ, वह सिफारिश कर देंगे। यद्यपि मुझे आशा नहीं थी कि मुझे वह कार्य मिल ही

जायेगा, तथापि पण्डित जी की आज्ञा का पालन मैंने कर दिया। पण्डित सुन्दरलाल जी ने अलग से, अपनी चिट्ठी में क्या लिख दिया, इसका मुझे पता नहीं, पर श्रद्धेय रामानन्द बाबू ने उनकी बात मान ली। पण्डित जी का उनका बहुत पुराना परिचय था और पण्डित जी के हृदय में रामानन्द बाबू के प्रति अत्यन्त श्रद्धा रही है।

उस वक्त मैंने जो धृष्टतापूर्ण पत्र श्रद्धेय रामानन्द बाबू की सेवा में भेजा था, उसकी प्रति अकस्मात् मेरे पुराने काग़ज़ों में रह गई। यह चिट्ठी अँग्रेज़ी में 17-5-27 को फीरोज़ाबाद से लिखी गई थी। उसका सारांश यह था।

"···यद्यपि मैं आपके 'मॉडर्न रिव्यू' को सर्वोत्तम मासिक पत्र मानता हूँ, तथापि मैं यह नहीं चाहता कि 'विशाल भारत' उसका अनुवाद मात्र हो। मुझे विश्वास है कि आप भी ऐसा न चाहते होंगे। हमारे हिन्दी पत्र का अपना अलग ही व्यक्तित्व होना चाहिए। निस्संदेह कुछ वर्षों तक उसे 'मॉडर्न रिव्यू' की सामग्री पर निर्भर रहना पड़ेगा फिर भी उसका व्यक्तित्व भिन्न ही रहे, ताकि वह 'मॉडर्न रिव्यू' से बहुत कुछ लेकर उसे कुछ दे भी सके। आपकी जानकारी के लिए मैं इतना और भी निवेदन कर दूँ कि मेरा सम्बन्ध किसी भी राजनैतिक दल से नहीं है और मैं अपने हृदय के अन्तस्तल में साम्प्रदायिकता से घृणा करता हूँ। मुझे शान्ति-निकेतन में (जो आपके सुपुत्र मुलू का निवास-स्थान था) स्वाधीनता मिली थी और मैं उसकी रक्षा के लिए अत्यन्त इच्छुक हूँ। यदि आपने अपनी हिन्दी पत्रिका को सम्पादित करने का अवसर मुझे प्रदान किया तो मैं आपका कृतज्ञ होऊँगा क्योंकि मेरा विश्वास है कि आपके अधीन काम करते हुए मुझे अपने सिद्धान्त बेचने नहीं पड़ेंगे। मि० ऐण्ड्रूज़ का मेरे प्रति वैसा ही स्नेह है जैसा किसी माता का अपने पुत्र के प्रति होता है और यदि मुझे काम करने का मौका मिला तो उन्हें अत्यन्त हर्ष होगा। वह मेरी बढ़िया से बढ़िया सिफारिश कर सकते हैं, लेकिन मैं आपको धर्मसंकट में नहीं डालना चाहता।

"आप सम्पादक की जगह के लिए पत्रों में विज्ञापन छपा सकते हैं, और फिर अपने मन का आदमी चुन सकते हैं।"

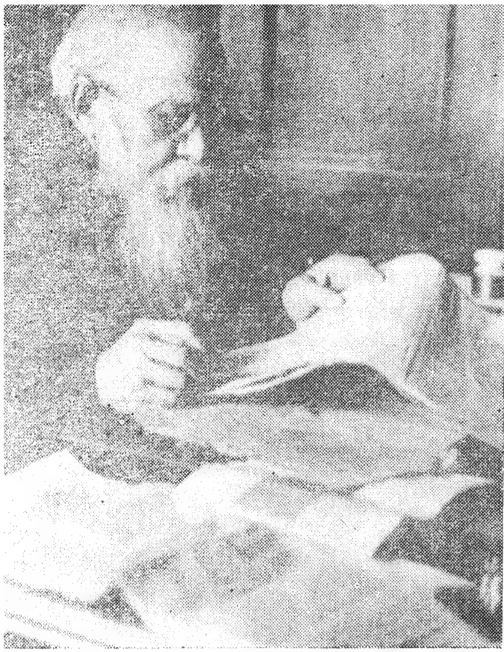
छियालीस वर्ष पहले की अपनी चिट्ठी को पढ़कर मुझे आज लज्जा आती है। तब मैं कुल जमा 34-35 वर्ष का ही था और अपनी अनुभवहीनता के कारण मैंने ऐसा हिमाकत-भरा पत्र लिख भेजा था। पर बड़े बाबू बहुत सुलझे हुए दिमाग के व्यक्ति थे और उन्होंने मेरी बचपने की धृष्टता को क्षमा कर दिया होगा।

मेरा यह भी अनुमान है कि अपने स्वर्गीय पुत्र मुलू (प्रसाद) के नाम के उल्लेख ने उनके हृदय को स्पर्श कर लिया होगा।

रामानन्द बाबू बड़े स्नेही जीव थे और प्रसाद की पवित्र स्मृति को वे कभी नहीं भूले। उन्होंने निजी व्यक्तियों को भेंट देने के लिए 'प्रसाद' पर एक पुस्तिका छपवाई थी, जिसकी प्रति सन् 1920 में मुझे दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ से प्राप्त हुई थी।

जब मेरा कलकत्ता जाना करीब-करीब तय हो चुका था तो मैंने एक मूर्खता और भी कर दी। मैंने अपने रिश्तेदार से सुन रखा था कि कलकत्ते का जलवायु अच्छा नहीं है और इसी भ्रम में पड़कर मैंने रामानन्द बाबू को अस्वीकृति का पत्र भेज दिया।

यही नहीं, उनकी सेवा में एक चिट्ठी बन्धुवर जयचन्द्र जी विद्यालंकार की जोरदार सिफारिश करते हुए भेज दी। उस पर रामानन्द बाबू ने पण्डित सुन्दरलाल जी को लिखा और उनका आग्रहपूर्ण पत्र मुझे मिला। मैं उन दिनों पचास रुपये महीने पर बन्धुवर हरिशंकर जी शर्मा के अधीन 'आर्यमित्र' में सहायक सम्पादक का कार्य कर रहा था और 175 रुपया मासिक की 'विशाल भारत' की नौकरी मैंने



अध्ययन में व्यस्त : रामानन्द चट्टोपाध्याय

अस्वीकृत कर दी थी। भाई हरिशंकर जी ने भी 'विशाल भारत' के कार्य को स्वीकार कर लेने पर ज़ोर दिया और इस प्रकार मैंने 31 अक्तूबर, 1928 को कलकत्ते पहुँचकर 'विशाल भारत' का कार्य प्रारम्भ कर दिया। मैं वहां 10 अक्तूबर, 1937 तक रहा और उन दस वर्षों को मैं अपने पत्रकारिता जीवन के सर्वोत्तम वर्ष मानता हूँ।

स्व० रामानन्द बाबू के, जिन्हें हम सब बड़े बाबू के नाम से पुकारते थे, जीवन के विषय में बहुतों ने लिखा है, इसलिए मैं केवल अपने अनुभव की बात ही लिखूंगा।

रामानन्द बाबू स्वयं बड़े स्वाधीनता प्रेमी थे। उन्होंने दस वर्षों में मुझे पूरी स्वाधीनता दी, यहाँ तक कि जब मैंने उनके हिन्दू महासभा के प्रधान बनने पर उन्हीं के पत्र में उनके विरोध में लिखा तो उन्होंने बड़ी सज्जनतापूर्वक उस आलोचना को सहन किया।

जब सूरत में हिन्दू महासभा के अधिवेशन का सभापतित्व करके वह लौटे तो 'विशाल भारत' के कमरे में आकर उन्होंने मुझसे कहा, "पण्डित जी, अगर हिन्दी पत्रों ने मेरे भाषण पर कुछ लिखा हो तो मुझे बतलाइये।"

मैंने कहा, "आपके पत्र 'विशाल भारत' ने जो लिखा है, कृपया उसे पढ़ लीजिए।" और 'विशाल भारत' की प्रति मैंने उन्हें दे दी। उसमें लिखा था कि हिन्दू महासभा जैसी साम्प्रदायिक संस्था का सभापतित्व किसी राष्ट्रीय विचारधारा वाले व्यक्ति को नहीं करना चाहिए। बड़े बाबू ने मेरे नोट को पढ़ लिया और पूछा, "क्या आप इसका उत्तर अपने पत्र में छाप सकेंगे?" मैंने कहा, "अवश्य छाप दूंगा।" इस पर बड़े बाबू बोले, "मैं हिन्दी बोल तो लेता हूँ पर हिन्दी लिख नहीं सकता। क्या आप मेरे अँग्रेज़ी लेख को अनुवाद सहित छाप सकेंगे?" मैंने यह बात स्वीकार कर ली। बड़े बाबू ने बड़ा तर्कपूर्ण करारा उत्तर अँग्रेज़ी में लिख भेजा और मैंने उसे अनुवाद सहित छाप दिया। उनका वह पत्र 19 अप्रैल, 1929 को लिखा गया था और चवालीस वर्ष बाद उसे पढ़कर मुझे अपनी धृष्टता पर लज्जा आती है। आज तो मैं इस प्रकार की आलोचना—और सो भी वैसे महान् पत्रकार के विषय में—करने की कल्पना भी नहीं कर सकता। उस समय पूज्य द्विवेदी जी तथा पं० पद्मसिंह जी ने उस नोट को नापसन्द किया था। पूज्य द्विवेदी ने तो यहाँ तक कहा, "हम तो रामानन्द बाबू को गुरुतुल्य मानते हैं। नोट लिखना हमने उन्हीं से सीखा है। आपको उनकी आलोचना नहीं करनी चाहिए थी।"

पर मेरे उस नोट का एक अच्छा प्रभाव भी पड़ा। उसने यह स्पष्टतया प्रमाणित कर दिया कि बड़े बाबू कितने स्वाधीनता-प्रेमी थे। प्रेस कमीशन

के सामने गवाही देने वाले किसी सुयोग्य पत्रकार ने इस घटना का उल्लेख अपनी गवाही में किया था। यही नहीं, कितने ही लेखकों ने इसका ज़िक्र किया था। स्वर्गीय केदारनाथ चट्टोपाध्याय, श्री रंगील दास कापड़िया और पं० सुन्दरलाल जी ने भी रामानन्द बाबू के स्वर्गवास के बाद इस घटना पर लिखा था। जब महासभा के मन्त्री श्री पद्मराज जैन ने बड़े बाबू से यह शिकायत की कि स्वयं उनके पत्र 'विशाल भारत' में हिन्दू महासभा के विरुद्ध नोट क्यों छपा है, तो उन्होंने सिर्फ़ इतना ही कहा, "मैं पण्डित जी को अपने समान ही स्वाधीन मानता हूँ और उनकी स्वतंत्रता में बाधा नहीं डाल सकता।"

अपने दस वर्षों के कार्यकाल में मुझे एक भी ऐसा मौका याद नहीं आता जब कि बड़े बाबू ने मुझ पर कुछ भी नियन्त्रण किया हो। मैं चाहे जब आफ़िस जाता था, चाहे जब लौट आता था, जो चाहे वही लिखता था और अपने कार्यालय में चाहे जिसको नियुक्त कर सकता था। केवल एक बात की स्वाधीनता मुझे नहीं थी, किसी अधीनस्थ की नौकरी छुड़ाने की। बड़े बाबू इस मामले में बड़े सावधान थे। छोटे से छोटे चपरासी की भी बरख़ास्तगी वह सहन नहीं कर सकते थे।

एक बार अवश्य बड़े बाबू ने मुझे बुलाया था। 'विशाल भारत' में नाटक में काम करने वाली नर्तकियों के चित्र छप गये थे। उस पर उन्होंने कहा था : "···मैं आपकी स्वाधीनता में बाधक नहीं हो सकता, पर चूँकि मेरा अनुभव आपसे कुछ अधिक है, इसलिए यह सुझाव दे सकता हूँ कि नर्तकियों के चित्र आप 'विशाल भारत' में न छापें। वे प्रायः चरित्रहीन होती हैं।"

धृष्टतावश मैं उनसे बहस करने लगा। मैंने कहा, "कोई सम्पादक किस-किसके चरित्र की खोज-बीन कर सकता है? चरित्र तो बहुत से लीडरों और लीडरानियों के भी शायद अच्छे नहीं हैं।" इस पर बड़े बाबू ने केवल इतना ही कहा, "नेता और नेत्री मंच पर चढ़कर अपने हाव-भाव से जनता को पथभ्रष्ट तो नहीं करते, जब कि नर्तकियाँ वैसा करती हैं।"

बड़े बाबू ने यद्यपि मुझे इस बारे में भी स्वाधीनता दे दी थी, पर स्वयं विचार करने के बाद मैंने उनकी बात मान ली। कुछ दिनों बाद श्री राखाल दास बनर्जी (सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता) हमारे कार्यालय में पधारे और जब मैंने उन्हें बड़े बाबू की उक्त बात सुनाई तो उन्होंने हँसकर कहा, "मैं भी अपना एक किस्सा सुना दूँ। प्रयाग में मैं एक बार केदार बाबू से मिलने गया हुआ था। वह भी विद्यार्थी थे और मैं भी। गलती से एक ऐक्ट्रेस का चित्र, जो मेरे पास था, बड़े बाबू की मेज़ पर ही छूट गया। दूसरे दिन जब मैं वहाँ पहुँचा तो वह चित्र चार टुकड़ों में बँटा हुआ, जहाँ का तहाँ रक्खा दीख पड़ा। मैंने केदार बाबू से पूछा कि क्या मामला है? उन्होंने कहा, 'यह शिक्षा आपको बड़े बाबू ने ही दी है। बड़े बाबू प्राचीनतावादी विचारों के हैं। आपको उनसे बहस नहीं करनी चाहिए।' यह बात ध्यान देने योग्य है कि बड़े बाबू ने अपने जीवन में न कोई नाटक देखा था, न कोई फ़िल्म। हाँ, शान्ति-निकेतन में विद्यार्थियों के नाटक उन्होंने अवश्य देखे थे।"

'विशाल भारत' छोड़ने के बाद भी जब मैंने सन् 1939 में उस पत्र में अराजकवाद तथा अराजकवादियों पर नोट तथा लेख लिखे तो बड़े बाबू ने मुझे रोका नहीं, सिर्फ़ इतना ही कहा कि इस बात का ख़्याल रखना चाहिए कि वैसे लेख वर्तमान क़ानून के शिकंजे में तो नहीं आते।

बड़े बाबू यह हर्गिज़ नहीं चाहते थे कि 'विशाल भारत' में बँगला अथवा बंगालियों के पक्ष में कोई प्रचार-कार्य हो और इसके लिए उन्होंने एक पत्र लिखकर मुझे सावधान भी कर दिया था।

यहाँ एक दुर्घटना का ज़िक्र कर देना प्रासंगिक होगा। उत्तर प्रदेश के एक हिन्दी पत्र ने अपने

3 दिसम्बर, 1935 के अंक में एक लेख छापा था, जिसका शीर्षक था 'हिन्दी शोषक एजेन्सियाँ' और उसमें 'विशाल भारत' पर यह इलज़ाम लगाया था कि वह हिन्दीवालों का पेट काटकर बंगालियों का पेट भरता है, उसका बायकाट होना चाहिए। प्रारम्भ से अन्त तक वह सर्वथा निराधार आक्षेपों से परिपूर्ण था। उन सम्पादक महोदय ने अपने उस लेख की प्रति रामानन्द बाबू को भी भेज दी थी। बड़े बाबू उस लेख को पढ़कर बड़े दुखी हुए और उन्होंने मुझे अपने घर बुला भेजा। फिर कहा, "पण्डित जी! आप जानते ही हैं कि हम लोग 'विशाल भारत' में हज़ारों रुपये प्रतिवर्ष का घाटा देते रहते हैं। फिर भी यदि हिन्दीवाले हमें 'शोषक' मानते हैं तो यही उत्तमतर होगा कि पत्र को बन्द कर दिया जाये।"

बड़े बाबू की इस बात से मैं चिन्तित हो गया और मैंने समझ लिया कि अब तो आठ वर्ष के 'विशाल भारत' का ख़ातमा ही हो रहा है। फिर भी मैंने हिम्मत करके दृढ़ता तथा नम्रतापूर्वक निवेदन किया, "बड़े बाबू, यह मेरी इज़्ज़त का सवाल है। अगर 'विशाल भारत' अभी बन्द कर दिया गया तो मैं तो कहीं का नहीं रहूँगा। इसलिए आप साल-भर का टाइम मुझे दीजिए। यदि इस बीच वह उन्नति न करे, तो आप उसे बन्द कर सकते हैं।"

बड़े बाबू ने कृपा कर मेरी बात मान ली। फिर उन्होंने उक्त सम्पादक का परिचय पूछा तो मैंने नाम बतला दिया। वह महानुभाव बड़े बाबू के एक भूतपूर्व शिष्य के पुत्र थे। इससे बड़े बाबू को और भी खेद हुआ। 'विशाल भारत' की जान उस वक़्त बच गई और उसके बहुत वर्ष बाद तक वह निकलता रहा। एक बार रामानन्द बाबू ने 'मॉर्डन रिव्यू' में लिखा भी था कि 'विशाल भारत' में हमें हज़ारों का घाटा हुआ है।"

बड़े बाबू मितभाषी तथा अत्यन्त संकोचशील व्यक्ति थे। वह बहुत कम बातचीत करते थे। जब वह सत्तर वर्ष के हुए तो लोगों ने उनका सार्वजनिक सम्मान करना चाहा, पर इसके लिए वह तैयार नहीं हुए। बहुत आग्रह करने पर वह केवल इस बात के लिए राज़ी हुए कि उनके प्रवासी प्रेस के कर्मचारी प्राइवेट तौर पर दो-चार मित्रों को बुलाकर एक मीटिंग कर सकते हैं। वह छोटी-सी निजी मीटिंग बंगीय साहित्य परिषद् के कार्यालय में हुई थी। प्रवासी प्रेस के मित्रों ने मुझे ही उसका प्रधान बना दिया था। मेरे लिए वह बड़ा गौरवपूर्ण अवसर था, यद्यपि मैं उसका अधिकारी नहीं था। इस मीटिंग के दो-चार दिन बाद मैंने दृढ़तापूर्वक बड़े बाबू से भी पूछा, "इस उम्र में भी आप इतना परिश्रम कैसे कर लेते हैं?"

उन्होंने उत्तर दिया, "मैं क्या परिश्रम करता हूँ। परिश्रम तो डॉ० सण्डरलैण्ड (अमेरिकन लेखक) करते हैं, जो नब्बे वर्ष की आयु में भी 'मॉर्डन रिव्यू' के लिए बराबर लेख भेजते रहते हैं। हाँ, कभी मैं भी परिश्रम करता था। सबेरे चार-पाँच घण्टे, दोपहर को घण्टा भर विश्राम करके तीन-चार घण्टे और फिर रात को भी दो घण्टे। अब इतना नहीं कर पाता।"

बड़े बाबू का सर्वोत्तम चित्र

जब तक उनका स्वास्थ्य ठीक रहा, बड़े बाबू अपने लेखों तथा नोटों के अन्तिम प्रूफ़ ख़ुद ही आफ़िस आकर देखते थे। अन्तिम वर्षों में दिल की कमज़ोरी के कारण वह सीढ़ियां चढ़ नहीं पाते थे और नीचे के तल्ले में बैठकर ही प्रूफ़ देखते थे। एक दिन वह प्रूफ़ देख रहे थे और मैंने बिना उनके जाने उनका एक चित्र ले लिया। जब उस फ़िल्म को डेवलप करने भेजा तो कोडक वालों ने लिख भेजा कि उस चित्र को बृहदाकार में बनवा लेना चाहिए। अकस्मात् बड़े बाबू का वह चित्र सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुआ।

उस चित्र का बृहदाकार डॉ० कालीदास नाग के घर पर टँगा हुआ था। उसे देखकर एक अतिथि ने पूछा, "क्या यह किसी जर्मन फोटोग्राफर का लिया

हुआ है।" उन्होंने मुसकराते हुए कहा, "हाँ, एक जर्मन पण्डित का, जो टीकमगढ़ में रहता है।" श्री केदार बाबू ने भी कहा था, "बड़े बाबू की भव्य मूर्ति चित्र के लिए बहुत उपयुक्त थी, पर उनका सर्वोत्तम चित्र तो आपका ही है।"

दस वर्ष में मैंने उनसे क्या सीखा, क्या नहीं—मैं यहाँ ईमानदारी के साथ स्वीकार करूँगा कि मैं दस वर्षों की लम्बी अवधि में बहुत कुछ सीख सकता था पर सीख नहीं पाया। पहला असाधारण गुण, जो उनमें मुझे दीख पड़ा, वह था उनका सामंजस्ययुक्त जीवन। उन्होंने जहाँ देश के प्रति अपने कर्त्तव्य का भली भाँति पालन किया, वहाँ अपने माता-पिता, पत्नी और पुत्रियों के प्रति भी पूरा-पूरा ध्यान दिया। उनके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के साधन उन्होंने प्रदान किये। श्री केदारनाथ तथा श्री अशोक को उन्होंने विलायत से उच्च से उच्च शिक्षा दिलवाई तथा लड़कियों को भी सुशिक्षित कर दिया। अनेक महा-पुरुष ऐसा नहीं कर पाते। उनका बहुत बढ़िया जीवन-चरित उनकी पुत्री श्रीमती शान्ता देवी नाग ने ही लिखा है। एमर्सन का यह कथन कि "तुम्हारा प्रेम दूसरों से है, द्वेष घर वालों से" उन पर चरितार्थ होता है। पर रामानन्द बाबू इस विषय में सर्वथा निर्दोष थे।

द्वितीय गुण जो उनमें था वह यह था कि दूसरों से अहसान वह बहुत कम लेते थे, पर दूसरों पर अपने अहसान अधिक लाद देते थे। अपने विस्तृत जीवन में उन्होंने केवल दो ही व्यक्तियों से आर्थिक सहायता ली—श्री चिन्तामणि घोष से और दूसरे मेजर वामनदास बसु से और वह सहायता सिर्फ़ इस रूप में थी कि वह श्री चिन्तामणि को प्रवासी की छपाई का बिल वर्ष के अन्त में देते थे और बसु जी अपनी पुस्तक की छपाई के पैसे पेशगी भेज दिया करते थे।

कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के वह अनन्य भक्त थे और उनकी सेवा करने का कोई अवसर उन्होंने नहीं छोड़ा, पर उन्होंने शान्ति-निकेतन अथवा विश्वभारती से कोई अहसान नहीं लिया। गुरुदेव की किताबों के हिन्दी अनुवाद के अधिकार भी उन्होंने रायल्टी देकर ही लिए थे। एक बार मुझे कुछ ब्लाकों की ज़रूरत थी, जो विश्वभारती वालों के पास थे। मैंने विश्वभारती से माँगना चाहा तो बाबू जी ने कहा, "अगर न माँगो तो ठीक हो।"

तीसरा गुण जो उनमें था वह था, अपने ऊपर कम से कम ख़र्च करना और सादे से सादा जीवन व्यतीत करना। काग़ज़ के टुकड़ों का भी वह उपयोग कर लेते थे। अपने समय तथा शक्ति के क्षण-क्षण और कण-कण की भी वह रक्षा करते थे। सन् 1927 तक वह सार्वजनिक मीटिंग में नहीं जाते थे। पर लीग ऑफ नेशन्स के निमन्त्रण पर जब उन्हें विलायत जाना पड़ा तो उन्हें अपना नियम तोड़ देना पड़ा। लोग कहते, "जब आप विलायत जा सकते हैं तो हमारे यहाँ क्यों नहीं चलते हैं?" इसका कोई समुचित उत्तर उनके पास नहीं था।

लीग ऑफ नेशन्स के निमन्त्रण पर वह गये अवश्य, पर उन्होंने एक पैसा भी मार्गव्यय आदि के लिए नहीं लिया। इस प्रकार कई हज़ार रुपयों का घाटा उन्होंने सहर्ष सह लिया। उनका तर्क था कि यदि मैं पैसे लूँगा तो मेरे अवचेतन मस्तिष्क पर उसका असर पड़ सकता है और तब शायद मैं स्पष्ट सम्मति प्रकट न कर सकूँ।

विलायत से लौटने पर जब उन्होंने लीग ऑफ नेशन्स की कठोर आलोचना की तो लाहौर के 'सिविल एण्ड मिलिटरी गज़ट' ने लिखा था, "यह लीग के आतिथ्य का दुरुपयोग है।"

इसका बड़ा करारा उत्तर बड़े बाबू ने दिया था। उसमें लिखा था, "क्या मैं 'सिविल एण्ड मिलि-टरी गज़ट' के सम्पादक को बतला सकता हूँ कि लीग ऑफ नेशन्स का मैं चाय के एक प्याले के लिए भी

ऋणी नहीं हूँ।"

सम्पादकीय अधिकार के मामले में वह बड़े सावधान थे—चाहे कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर का लेख हो या लाला हरदयाल का। उनका कहना था कि तमंचा दिखाकर यदि कोई लेखक अपना लेख ज्यों-का-त्यों छपाना चाहे तो उसके लिए एक ही जवाब हो सकता है, "लेख नहीं छपेगा।"

सुनते हैं कि एक बार बड़े बाबू काशी में गंगा-स्नान करते हुए डूबने लगे तो एक बंगाली युवक ने उन्हें बचा लिया। बड़े बाबू ने उस युवक को अपना कलकत्ते का पता बतलाकर कहा कि अगर आपका कभी कलकत्ते आना हो तो मेरी सेवा योग्य कार्य बतलाना। वह युवक जब कलकत्ता पहुँचा तो अपनी एक कविता लेकर 'प्रवासी प्रेस' आया और बड़े बाबू को कविता दे दी। कविता बहुत मामूली-सी थी। बड़े बाबू ने कहा, "आपकी इस कविता को तो मैं नहीं छाप सकता, अगर चाहो तो आप मुझे हुगली में डुबा सकते हो।"

लाला हरदयाल ने अपना एक लेख 'मॉडर्न रिव्यू' तथा लाहौर के किसी उर्दू पत्र को साथ-साथ भेजा था। बड़े बाबू ने उसका सम्पादन करके उसे छापा, जब कि उर्दू पत्र पर सरकार ने मुक़दमा चला दिया। बड़े बाबू को गवाही के लिए लाहौर जाना पड़ा था। गुरुदेव ने मि० ब्रेल्सफोर्ड की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'रेबेल इण्डिया' की आलोचना लिखकर भेजी थी, पर बड़े बाबू ने उसके कुछ अंशों को कानून की दृष्टि से आपत्तिजनक समझा और गुरुदेव को स्पष्टतया लिख भेजा, "यह मेरी लाचारी है। इस प्रकार की अस्वीकृति से मेरी नींद हराम हो जाती है, पर मौजूदा कानूनों के शिकंजे में मैं फंसना नहीं चाहता।"

बड़े बाबू अत्यन्त अध्ययनशील थे। बिना प्रमाण के कोई बात लिखना वह नहीं चाहते थे। शहीदों तथा क्रान्तिकारियों पर जितना उन्होंने लिखा उतना शायद ही किसी अन्य मासिक ने लिखा हो। 'मॉडर्न रिव्यू' की पुरानी फाइलों के लेखक तथा नोट इस बात के प्रमाण हैं। श्री जोगेश चन्द्र चटर्जी ने मुझसे स्वयं कहा था कि जब जेल में उनपर अमानुषिक अत्याचार हुए थे तो उनके बारे में बड़े बाबू ने उनके कुटुम्बियों से पूछताछ कर 'मॉडर्न रिव्यू' में एक ज़ोरदार नोट लिखा था। अंडमान द्वीप में एक बंगाली युवक श्री इन्द्रभूषण ने जब फाँसी लगा ली थी तो उसका विवरण भी सन् 1912 के 'मॉडर्न रिव्यू' के एक अंक में दिया गया था। जाने कितनी बार 'मॉडर्न-रिव्यू' आफ़िस की तलाशी ली गई थी। डॉ० जे०टी० सण्डरलैण्ड की 'इण्डिया इन बॉण्डेज' के ज़ब्त हो जाने से बड़े बाबू को बहुत घाटा उठाना पड़ा। उन्होंने सब प्रतियां पुलिस के हवाले कर दीं। सुना जाता है पुलिस वाले उन प्रतियों को चालीस-चालीस रुपयों में बेचकर पैसा कमाते रहे।

एक साधनहीन युवक ने अपने पत्र 'मॉडर्न रिव्यू' को विश्व के सर्वश्रेष्ठ पत्रों के मुकाबले में कैसे खड़ा कर दिया इसकी कहानी बड़ी लम्बी और स्फूर्तिप्रद है। डॉ० सण्डरलैण्ड ने एक बार लिखा था, "अमरीका में तो 'मॉडर्न रिव्यू' के मुकाबले का कोई पत्र है ही नहीं और मुझे शक है कि यूरोप में भी शायद ही कोई निकले।"

जब 'मॉडर्न रिव्यू' के दो-चार अंक ही निकल पाये थे तब विलायत के एक पत्र ने लिखा था, "ऐसा गम्भीर तथा विविध विषय सम्पन्न पत्र हमारे देश में भी शायद ही कोई हो।"

बड़े बाबू निष्काम कर्मी थे। 'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते' के उपदेश के अनुयायी थे। एक बार सी० वाई० चिन्तामणि जी ने उनके बारे में बोलते हुए 'नोबलेस्ट, एबलेस्ट एण्ड दि बेस्ट' इत्यादि कई गुण-वाचक संज्ञाओं का प्रयोग किया था। बड़े बाबू ने मुझे बुलाकर कहा, "आप तो चिन्तामणि जी को जानते हैं। आप उन्हें लिखिये, कि उन जैसा अनुभवी सम्पादक ऐसी असन्तुलित भाषा क्यों लिखता है?"

मैंने बड़े बाबू की बात सुन तो ली पर चिन्तामणि जी को लिखने की हिम्मत मुझे नहीं हुई। यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'लीडर' के प्रारम्भिक दिनों में चिन्तामणि जी रामानन्द बाबू से प्रायः मिलते रहते थे और बड़े बाबू उनका पथ-प्रदर्शन भी किया करते थे।

जब उन्होंने 'मॉर्डन रिव्यू' निकाला था तो तीन वर्ष के लिए पहले से मसाला इकट्ठा कर रखा था। उनके पत्रों की सफलता का श्रेय अनेक अंशों में उनकी धर्मपत्नी (सर्वश्री केदार बाबू, अशोक बाबू, शान्ता बहन तथा सीता बहन की पूज्य माताजी) को मिलना चाहिए। वह पत्रों के प्रबन्ध-विभाग में भरपूर सहयोग देती थीं पर प्रसाद की असामयिक मृत्यु ने उनके हृदय को ज़बरदस्त धक्का दिया और तब से उनका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया।

यह बात बहुत कम लोगों को ज्ञात होगी कि 'सरस्वती' के निकालने का सुझाव बड़े बाबू ने ही श्री चिन्तामणि घोष को दिया था। आज भी 'मॉर्डन रिव्यू' की पुरानी फाइलें भारत के विषय में एक विश्वकोष का काम कर रही हैं। संसार के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में वे पाई जाती हैं।

बड़े बाबू में कितने ही ऐसे गुण थे जो भारतीय पत्रकारों के लिए अनुकरणीय हैं। वह बड़े संयम-नियम से काम लेते थे। अपने अधीनस्थ लोगों से वह नियम (डिसिप्लिन) के अधीन काम करने की आशा रखते थे और जब वह शान्ति-निकेतन आश्रम में आचार्य थे तो दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ तक को वह अनियमितता नहीं बरतने देते थे। आत्मनियंत्रण उनके जीवन की सफलता की कुंजी थी और शक्ति तथा ईमानदारी और कर्त्तव्यशीलता उनके लिए स्वाभाविक गुण बन गये थे। बड़े बाबू विनम्र होते हुए भी बड़े स्वाभिमानी थे।

ऐसे महापुरुषों के चरणों के निकट बैठने का सौभाग्य मुझे दस वर्ष तक मिला। मैं इसे पूर्व जन्म के पुण्यों का परिणाम मानता हूँ।

5

क्रान्तिकारी लाला हरदयाल

"लाला हरदयाल भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ सपूतों में से थे, उनकी बौद्धिक शक्ति अद्भुत तथा विलक्षण थी और अगर शान्तिमय मौका उन्हें मिल जाता तो अपनी बुद्धि द्वारा वह आश्चर्यजनक काम कर सकते थे। क्योंकि जितने महान् से महान् मस्तिष्क मेरे देखने में आये हैं, उनमें लाला हरदयाल का दिमाग भी एक ही था और उनका चरित्र भी सत्यपूर्ण तथा पवित्र।"[1]

—सी० एफ० ऐण्ड्रूज़

अपने अन्तिम दिनों में जब दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ बीमार पड़े हुए थे, मैंने एक धृष्टता की। उन्हें लाला हरदयाल की याद दिला दी और साथ ही यह प्रार्थना भी कर दी कि स्वस्थ होने पर वह लालाजी के विषय में कुछ लिख भेजें। दीनबन्धु ने तुरन्त ही उस बीमारी की हालत में अपनी श्रद्धाञ्जलि एक लेख के रूप में अर्पित कर दी। उसी में से उपर्युक्त वाक्य लिया गया है।

मैं ख़ुद लालाजी का बहुत वर्षों से भक्त रहा हूँ, और उनकी पुस्तक 'हिंट्स फॉर सेल्फ कल्चर' (आत्म संस्कृति के उपाय) को प्रायः प्रातःकाल में पढ़ता रहा हूँ। वह मेरा स्वाध्याय ग्रन्थ है। जिन दिनों सन् 1910-11-12 में लाला हरदयाल जी के लेख 'मॉडर्न रिव्यू' में निकल रहे थे, उनकी धूम मच गई थी। उनका हिन्दी-अनुवाद श्री नारायणप्रसाद जी अरोड़ा ने किया था और हिन्दी जगत् में भी उनके बहुत-से प्रशंसक बन गये थे। 'मॉडर्न रिव्यू' की पुरानी फाइलों में आज भी वे लेख पढ़े जा सकते हैं। उनमें ताज़गी ज्यों-की-त्यों मौजूद है। क्या भाषा और क्या भाव, उनके लेख दोनों दृष्टियों से अपना सानी नहीं रखते और उनके प्रवाह का क्या कहना। उनके लेख 'कार्ल मार्क्स—ऋषि' का अनुवाद स्व० ब्रजमोहन वर्मा ने 'विशाल भारत' के लिए किया था और वह पुस्तकाकार में प्रकाशित भी हुआ था।

हम लाला जी के पुराने सहपाठी और अनन्य मित्र वयोवृद्ध लाला हनुमन्त सहायजी से बातचीत कर रहे थे। उन्होंने लाला जी के विद्यार्थी जीवन के अनेक संस्मरण सुनाये। लाला जी की स्मरणशक्ति

1. Lala Hardayal was one of India's noblest children and in happier times would have done wonders with his gigantic intellectual power. For his mind was one of the greatets I have ever known and his character also was true and pure. —C.F.Andrews

अद्भुत थी और प्रत्येक परीक्षा में वह सर्वप्रथम ही उत्तीर्ण नहीं हुए थे, बल्कि उन्होंने इतने अच्छे नम्बर पाये थे कि आज तक कोई दूसरा उनसे आगे नहीं बढ़ सका ।

अपनी आश्चर्यजनक स्मरणशक्ति के चमत्कार उन्होंने एक दिन लाहौर के विद्यार्थी-समाज के सम्मुख दिखाये । उनके दर्शकों में थे पण्डित सुन्दर-लाल जी जो उन दिनों लाहौर में ही पढ़ रहे थे । दो दिन पूर्व एक महाराष्ट्रीय सज्जन श्री सहस्रबुद्धे ने कुछ चमत्कारों का प्रदर्शन किया था, इस पर लाला जी ने कहा—"इसमें क्या है ? ये तो मैं भी कर सकता हूँ ।" और विद्यार्थियों द्वारा चुनौती दिये जाने पर उसके दूसरे-तीसरे दिन ही हरदयाल जी ने उनसे बढ़कर करिश्मे कर दिखाये । लाला हरदयाल जी सरकारी वज़ीफा लेकर ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिए विलायत गये । कहा जाता है कि वहाँ वह बिलकुल तपस्वियों जैसा जीवन व्यतीत करते थे । उन दिनों दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ ऑक्सफ़ोर्ड में उनसे मिले थे । उन्होंने लिखा है :

"लाला हरदयाल ने अपनी आवश्यकताओं को कम से कम कर लिया था और वह एक बहुत छोटे-से कमरे में, जिसमें सजावट का कोई नामोनिशान न था, रह रहे थे । वह स्वभाव से ही तपस्वी थे ।"

उनकी इस तपस्यापूर्ण साधना का उल्लेख एक अमरीकन लेखक वान विक ब्रुक्स ने भी अपनी पुस्तक 'सीन्ज़ एण्ड पोर्ट्रेट्स' में किया है । दरअसल मि० ब्रुक्स ने लालाजी का जैसा रेखाचित्र खींचा है, वैसा किसी भारतीय से नहीं बन पड़ा । लाला जी उन दिनों कैलीफ़ोर्निया में सिर्फ़ रूखी रोटी और दूध पर ही रहते थे । वह ज़मीन पर सोते थे और सिरहाने के लिए तकिया वगैरह कुछ भी नहीं रखते थे । उन्होंने अपने एक पत्र में मि० ब्रुक्स को लिखा था :

"आई एम ए रिवोल्यूशनिस्ट फर्स्ट एण्ड एवरी-थिंग एल्स आफ्टरवर्ड्स ।" (मैं सर्वप्रथम क्रान्तिकारी



प्रसिद्ध क्रान्तिकारी लाला हरदयाल

हूँ, उसके बाद और कुछ ।)

उन्होंने रूस के प्रसिद्ध अराजकतावादी बाकूनिन के नाम पर 'बाकूनिन इन्स्टीट्यूट' स्थापित किया था। उसका मुख्य कार्य था — क्रान्तिकारियों को तैयार करना । उन्होंने ख़ास तौर पर प्रिंस क्रोपाटकिन और लुई माइकेल नामक अराजकवादियों तथा कार्ल मार्क्स के जीवन-चरित पढ़ने की सिफारिश अपने ग्रन्थ में की थी । जब वह विलायत में रह रहे थे, मैंने उनकी सेवा में दो पत्र भेजे थे, जिनका उन्होंने तुरन्त ही उत्तर दिया था । अपने 12 जुलाई, सन् 1936 के पत्र में उन्होंने ऐजबेयर, इंग्लैण्ड, से लिखा था :

"यहां स्वीडन देश के पत्र-पत्रिकाओं के लिए लेख लिखने में मेरा बहुत-सा समय चला जाता है । मेरा स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं है । सो 'विशाल भारत' की सेवा करने के लिए समय निकालना कठिन ही होगा । क्षमा करें ।

"लाउस माइकेल का जीवन-चरित अंग्रेज़ी में

नहीं लिखा गया है। फ्रांसीसी भाषा में उन पर पुस्तकें हैं। वह आदर्श महिला थीं।

"यदि आप कभी लन्दन आयें, तो ज़रूर दर्शन दें। कृपा होगी। सेवक—
हरदयाल"

उनका एक अन्य पत्र भी, जो उन्होंने स्व० पण्डित पद्मसिंह जी शर्मा को लिखा था, यहाँ उद्धृत किया जाता है :

"मान्यवर श्रीमान् पण्डितजी के चरणकमलों में नमस्कार स्वीकार हो। मैं आपका बहुत ही कृतज्ञ और अनुगृहीत हूँ कि आपने बिहारी सतसई मेरे पास भेजी है। यह आपने बड़ी कृपा की है। मैंने पहले यह कविता पढ़ी थी, जब मैं जर्मनी में था, परन्तु टीका न होने से भली भांति समझ में नहीं आई थी। अब आपकी टीका की सहायता से ख़ूब समझ में आ जायेगी। आपकी तुलनात्मक समालोचना सर्वथा प्रशंसनीय है। हिन्दी साहित्य में अब इसकी बहुत आवश्यकता है। आपकी पुस्तकों से मुझे बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ है, और होता रहेगा। मैं काव्य का बहुत प्रेमी हूँ।

"यदि मैं यूरोप में आपकी कुछ सेवा कर सकता हूँ तो लिखियेगा। मैं कुशल से हूँ।

अप्लीकेन (स्वीडन) सेवक—
8-4-25 हरदयाल

जीवन की कुछ घटनायें

लाला जी का जन्म दिल्ली के एक कायस्थ परिवार में सन् 1885 में हुआ था। बी० ए० तक वह दिल्ली में ही पढ़े। वह सेण्ट स्टीफन्स कॉलेज के विद्यार्थी थे। एम० ए० की परीक्षा उन्होंने फ़ोरमेन क्रिश्चियन कॉलेज, लाहौर, से पास की थी। 1906 में उन्हें पंजाब सरकार से 200 पौण्ड प्रतिवर्ष की छात्रवृत्ति ऑक्सफ़ोर्ड जाने के लिए मिली थी। वह वहाँ सेण्ट जॉन्स कॉलेज में भर्ती हो गये। विलायत में वह सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा के सम्पर्क में आये और उनकी विचारधारा में पूर्ण परिवर्तन हो गया। साल भर बाद उन्होंने छात्रवृत्ति ठुकरा दी और भारत लौट आये। यहाँ पहुँचकर वह साधु वेश में रहने लगे और उन्होंने लाहौर में एक आश्रम स्थापित किया, जहाँ वह राजनैतिक संन्यासी बनने के लिए विद्यार्थियों को शिक्षित करते थे। उनके साथियों में दो सज्जन थे—एक श्री जे० चटर्जी देहरादूनवाले और दूसरे डा० ताराचन्द्र जी। उन्होंने पर्याप्त राजनैतिक कार्य भी किया। परिणाम यह हुआ कि वह भारत सरकार की आँखों में काँटे की तरह चुभने लगे। इस बात की पूरी-पूरी आशंका थी कि वह गिरफ्तार कर लिये जायेंगे। इसलिए वह देश छोड़कर फ्रांस के लिए रवाना हो गये। यह बात शायद सन् 1908 की है और उसके बाद फिर उन्हें मातृभूमि भारत के दर्शन नसीब नहीं हुए।

अनुसन्धान की आवश्यकता

लाला जी का 30-31 वर्ष का प्रवासी जीवन भारतीय इतिहास का एक ऐसा अध्याय है कि जिसके अनुसन्धान के लिए कई सुयोग्य इतिहासज्ञों की आवश्यकता है।

लाला जी ने रूसी, मिस्री, तथा आयरिश क्रान्तिकारियों से किस प्रकार परिचय प्राप्त किया, अमेरिका की ग़दर पार्टी में कितना हिस्सा लिया, प्रथम युद्ध के ज़माने में उनके द्वारा क्या-क्या कार्रवाहियां हुईं, अमेरिका से उन्हें किस तरह निर्वासित होना पड़ा, स्वीडन में कैसे रहे इत्यादि प्रश्नों पर प्रकाश डालने के लिए काफी खोजबीन करनी पड़ेगी।

विदेशों में लाला जी ने जिस तपस्यापूर्ण ढंग पर अपना जीवन व्यतीत किया और जो-जो कष्ट उन्हें सहने पड़े उनका वृत्तान्त पढ़कर आश्चर्य तथा खेद होता है। भारतवर्ष से उन्हें बहुत कम सहायता मिली। कुछ रकम समय-समय पर उन्हें उनके दिल्ली

निवासी मित्र लाला हनुमन्त सहाय जी ने भिजवाई थी। चूँकि लालाजी ने पन्द्रह वर्ष स्वीडेन में बिताये थे, सो वहाँ के कुछ मित्र पुस्तकों द्वारा उनकी मदद कर देते थे।

उन्होंने स्वामी सत्यदेव जी को कई पत्र इस विषय में लिखे थे, जिन्हें स्वामी जी ने अपनी पुस्तक 'जर्मन यात्रा' में छापा भी था। लालाजी ने स्वामी जी को लिखा था : "भारतीय देशभक्तों के पास रुपये की कमी नहीं, परन्तु मैंने विदेशी मित्रों और परिचितों की दानशीलता पर अपना निर्वाह किया है। यह स्थिति उत्साहवर्द्धक नहीं। मेरे त्याग और व्यक्तित्व की तारीफ़ तो बहुत-से लोग करते थे, परन्तु रुपये-पैसे से परदेश में मेरे काम में या मेरी निजी सहायता किसी ने नहीं की।"

लाला जी हिन्दी-उर्दू में यूरोप और अमेरिका के प्रजातंत्रीय आन्दोलनों के विषय में तथा वहाँ के बड़े-बड़े नेताओं के जीवन-चरितों पर ग्रन्थ लिखना चाहते थे और राजनैतिक तथा समाजशास्त्र की प्रसिद्ध यूरोपियन किताबों का अनुवाद भी करना चाहते थे। अर्थाभाव के कारण यह सम्भव न हुआ।

लाला जी की विद्वत्ता का कुछ अनुमान उनके उन ग्रन्थों से, जो उन्होंने विलायत में प्रकाशित किये, लगाया जा सकता है। हमें इस बात में शक है कि 'हिंट्स फॉर सेल्फ कल्चर' जैसा ग्रन्थ भारत का कोई अन्य विद्वान् इतनी सफलतापूर्वक लिख सकता। बोधिसत्त्व सिद्धान्त पर अपना अन्वेषण ग्रन्थ लिखकर उन्होंने लन्दन विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की उपाधि ली थी। उनका एक ग्रन्थ था 'ट्वेल्व रिलीजंस एण्ड मॉर्डन लाइफ' (बारह धर्म और आधुनिक जीवन)।

भाई परमानन्द, कर्नल वैजवुड, दीनबन्धु सी० एफ० ऐण्ड्रूज़, मि० ब्रेल्स फ़ोर्ड और डॉक्टर सप्रू इत्यादि ने लालाजी को भारत आने का अनुमति दिलाने के लिए बहुत प्रयत्न किया और उन्हें नवम्बर 1938 में अनुमति मिल भी गयी। तत्पश्चात् वह अमेरिका गये और कुछ महीने वहाँ रहकर वह भारत आना चाहते थे। उनके मित्र मि० ब्रुक्स ने एक स्थान पर लिखा है : "लाला हरदयाल ने इंग्लैण्ड में मॉडर्न कल्चर इंस्टीट्यूट (सांस्कृतिक विद्यापीठ) की स्थापना की थी और ज्यूलोजी, बोटैनी तथा फिज़िक्स, (जीव-शास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, भौतिक शास्त्र) इत्यादि वैज्ञानिक विषयों का वह अध्ययन कर रहे थे। वह अमेरिका इसलिए पधारे थे कि यहाँ पर उन्हें कुछ भाषण देने थे। एक दिन वह मेरे घर भी आये थे और मेरी पत्नी के लिए लाल गुलाब के फूल लाये थे। उन्हें भारत जाने की अनुमति मिल चुकी थी। पर उन्हें पूरा-पूरा यकीन नहीं हो रहा था। वह बोले,'दि रोड टू इण्डिया इज़ ओपन' अर्थात् भारत के लिए रास्ता साफ है। इस कथन के दस दिन बाद ही फिलेडैलफिया में हृदय की गति रुक जाने से उनका स्वर्गवास हो गया। उस समय वह 54 वर्ष के थे।"

4 मार्च, 1939 को लाला जी परलोक सिधारे पर रॉयटर ने भारतवर्ष को यह समाचार तार से भेजना ज़रूरी न समझा। यहाँ यह ख़बर महीने-भर बाद मिली। लाला लाजपतराय ने एक जगह लिखा था : "लाला हरदयाल लाखों भारतीयों की आँखों के तारे हैं और उनका व्यक्तित्व अनुपम है।"

जब श्रीमान् पण्डित जवाहरलाल नेहरू अमेरिका गये थे, तो मि० ब्रुक्स ने उनसे पूछा था, "क्या आपको लाला हरदयाल की याद है?" तो उन्होंने उत्तर दिया, "वी ऑल रिमेम्बर हरदयाल" (अर्थात् लाला हरदयाल को हम सभी याद करते हैं)।

ब्रुक्स लिखते हैं, "लाला हरदयाल को कैसे याद करते हैं, यह मैंने जान-बूझकर नहीं पूछा।"

पुरानी दिल्ली में एक गली है, जहाँ लाला हरदयाल का जन्म हुआ था। दिल्ली निवासियों ने उस गली का नाम बिना एक धेला ख़र्च किये 'हरदयाल गली' रख दिया है। यही गली उस महान् क्रान्तिकारी की एकमात्र यादगार है।

6

नेताजी सुभाष के सम्पर्क में

प्रातः स्मरणीय नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के सम्पर्क में आने का सौभाग्य मुझे अकस्मात् ही प्राप्त हुआ। बात यह हुई कि कलकत्ते में 1928 के दिसम्बर में काँग्रेस का अधिवेशन होने वाला था। उस अवसर पर 'लोकमान्य' के सम्पादक भाई रामशंकर त्रिपाठी ने यह निश्चित किया कि तत्कालीन प्रचलित प्रथा के अनुसार एक राष्ट्रभाषा कान्फ्रेंस भी होनी चाहिए। वह मेरे पास पधारे और उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि मैं महात्मा जी की सेवा में एक पत्र भेज कर, उनसे राष्ट्रभाषा परिषद् के सभापति होने की प्रार्थना करूँ। मैंने उनके आदेशानुसार महात्मा जी की सेवा में पत्र भेज दिया और उन्होंने सभापति बनना स्वीकार भी कर लिया। तत्पश्चात् यह सवाल उठा कि स्वागतकारिणी का प्रधान किसे बनाया जाये। त्रिपाठी जी की राय नेता जी सुभाषचन्द्र के पक्ष में थी। मैंने कहा कि वह मुझसे परिचित न होंगे, उनसे प्रार्थना कौन करे ! तब त्रिपाठी जी ने कहा, "यह काम आप हम पर छोड़ दीजिए। हम उन्हें राजी कर लेंगे।" नेता जी ने वह उत्तरदायित्व संभाल लिया। अब सवाल उठा उनसे भाषण लिखाने का। नेता जी उस समय स्वयंसेवकों के कप्तान थे और उन्हें अत्यन्त व्यस्त रहना पड़ता था। मैं साहस करके उनकी सेवा में उपस्थित हुआ और स्वागतकारिणी के सभापति का भाषण लिखाने का अनुरोध किया। नेता जी हिन्दी बख़ूबी बोल लेते थे, वह बोले, "आप देखते ही हैं। मेरे पास तो समय है ही नहीं। आप स्वयं मेरे लिए भाषण लिख दें। मैं कुछ प्वाइण्ट्स बतला सकता हूँ। पहला प्वाइण्ट तो यह है कि बंगालियों ने भी हिन्दी भाषा के प्रचार के लिए कुछ काम किये हैं। दूसरा यह है कि हम बंगाली लोग अपनी मातृभाषा के उत्कट प्रेमी भी हैं। तीसरा यह है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी सरल और सुबोध होनी चाहिए, यों कहिए कि हिन्दुस्तानी। बस इन्हीं प्वाइण्ट्स को बढ़ाकर मेरा भाषण तैयार कर दीजिए। एक बात और, जो भी पत्र-व्यवहार आप आवश्यक समझें, उसे मेरे नाम से कर सकते हैं। मेरे हस्ताक्षर के लिए मेरे पास आने की ज़रूरत नहीं। आप स्वयं ही मेरे हस्ताक्षर कर दिया करें।" संकोचवश मैंने कहा, "यह तो अनुचित प्रतीत होता है।" तब वह बोले, "जब मैं यह अधिकार आपको देता हूँ तो इसमें अनौचित्य कहाँ रह जाता है?" फिर मैंने निवेदन किया, "मैं कांग्रेस अधिवेशन देखना चाहता हूँ। कृपया श्री विधान बाबू को पत्र लिखकर मुझे पास दिलवा दीजिये।" सुभाष बाबू ने उसी समय एक पत्र श्री विधानचन्द्र राय को लिख दिया। मूल पत्र तो

श्री विधान बाबू की सेवा में भेज दिया गया पर उसकी नकल मैंने अपने पास रख ली। उसे यहां उद्धृत कर रहा हूँ :[1]

कांग्रेस स्वयंसेवक समिति

(बंगाल स्वयं सेवक)

मख्यालय, कलकत्ता
दि० 19-12-28 ई०

मेरे प्रिय डॉ० राय,

यह पत्र मैं श्रीयुत बनारसीदास चतुर्वेदी का परिचय देने के लिए लिख रहा हूँ जिनके बारे में आपने सुना ही होगा। वह एक प्रसिद्ध पत्रकार हैं, 'विशाल भारत' के सम्पादक हैं और प्रवासी भारतीयों के विषय के विशेषज्ञ भी। उन्होंने प्रेस टिकट के लिए प्रार्थना-पत्र भेजा है। कृपया यह उन्हें दिलवा दीजिए।



नेताजी सुभाषचन्द्र बोस

वह राष्ट्रभाषा कान्फ्रेंस की स्वागतकारिणी कमेटी के मंत्री भी हैं—जिसका कि मैं प्रधान हूँ। हम लोगों को कान्फ्रेंस करने के लिए 28 तारीख को सबेरे काँग्रेस का पण्डाल चाहिए। हम लोग दो-तीन घंटे से ज्यादा समय न लेंगे। कृपा करके तद-नुसार काँग्रेस पण्डाल की व्यवस्था कर दीजिए। सम्भवत: यह तो आप जानते ही होंगे कि महात्मा जी राष्ट्रभाषा कान्फ्रेंस के सभापति हैं और उन्होंने यह आदेश दिया है कि परिषद् की कार्यवाही संक्षिप्त और विषयानुसार ही हो। इसलिए काँग्रेस की कार्य-वाहियों के बीच कोई बाधा पड़ने की सम्भावना नहीं है क्योंकि वह कार्यवाही तीसरे पहर होगी। हम लोग राष्ट्रभाषा कान्फ्रेंस का कार्य प्रातःकाल ही झंडा अभिवादन के बाद शुरू कर देंगे।

आपका—
सुभाषचन्द्र बोस

Congress Volunteer Corps

Head quarter,
Calcutta.
Dated the 19-12-28

My dear Mr. Roy,

This is to introduce Sh. Banarasi Das Chaturvedi of whom you have heard. He is a prominent Journalist, Editor of 'Bishal Bharat' and an expert in colonial and over-seas topics. He wants a press ticket which he has applied for. Please see that he gets one.

He is also secretary of reception committee of 'Rashtriya Bhasha Conference' and I am its humble chairman. We want Congress Pandal for the morning of 28th inst. for our Rashtriya Bhasha Conference. It won't take more than 2 or 3 hours. Kindly book the Pandal for us and oblige You probably know that Mahatma Gandhi is the president of the conference and he has ordered that proceedings should be short and business like. So there is no danger of our encroaching on the convention proceedings in the afternoon. We shall begin the proceedings after the flag-hoisting in the morning.

Your V. Sincerely
(Sd.) Subhas C. Bose

राष्ट्रभाषा कान्फ्रेंस की तिथि तो निश्चित हो चुकी थी पर बीच में ही एक बाधा आ गयी । 28 तारीख़ की प्रातःकाल ही काँग्रेस की कार्यकारिणी में भारत की स्वाधीनता के प्रस्ताव पर विचार करने का निश्चय किया गया था । जब यह समाचार बापू तक पहुँचा तो उन्होंने तुरन्त ही कहा, "मैं तो 28 तारीख़ का सवेरे का वक्त बनारसीदास को दे चुका हूँ । अगर वह मुझे बन्धन मुक्त कर दें तो मैं तुम्हारे यहाँ आ जाऊँगा । काँग्रेस की ओर से मेरे पास फ़ोन आया और मैंने तुरन्त ही उत्तर में कहा, "राष्ट्र की स्वाधीनता का सवाल पहले है, राष्ट्रभाषा का पीछे। हम अपनी कान्फ्रेंस कल कर लेंगे ।" ऐसा ही हुआ । कान्फ्रेंस दूसरे दिन की गयी । कार्य आरम्भ होने के आध घंटा पहले हम लोग पण्डाल में पहुँच गये थे । थोड़ी देर बाद सुभाष बाबू भी पधारे । महात्मा जी के आने में अभी 15-20 मिनट बाकी थे । सुभाष बाबू को मैंने उनका भाषण दिया । तब तक उन्होंने उसे पढ़ा भी नहीं था । उन्होंने कहा, "मैं आपके सामने पढ़कर सुना दूँ ?" मैंने कहा, "अवश्य ।" उन्होंने उसे प्रारम्भ से अन्त तक पढ़ा और पूछा, "मैं ठीक से पढ़ तो सकता हूँ न ।" मैंने कहा, "आपने बिलकुल ठीक पढ़ा ।" महात्मा जी के आगमन पर उन्होंने यह भाषण ज्यों का त्यों सुना दिया ।

एक बार मैंने बंगाली बन्धुओं को हिन्दी पढ़ाने की क्लास खोलने के लिए उन्हें निमंत्रित किया था और वह पधारे भी थे। स्वनामधन्य नेता जी से केवल इतना ही परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य मुझे मिला ।

7

माननीय श्रीनिवास शास्त्री

सर शिव स्वामी अय्यर ने एक बार कहा था : "यद्यपि माननीय श्रीनिवास शास्त्री बहुत उच्च कोटि के भाषणकर्ता (orator) हैं तथापि उनके मुकाबले का ओरेटर भारतवर्ष में एकाध और भी हो सकता है पर पत्र-लेखन-कला में तो वह अद्वितीय ही हैं।" माननीय शास्त्री जी को पत्र-लिखने का व्यसन ही था और छोटे-छोटे पत्र तो उन्होंने सहस्रों ही लिखे होंगे । मुझे भी उनसे तीस-पैंतीस उत्कृष्ट पत्र प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था । वे सभी पत्र राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित हैं। इस प्रसंग में मुझे एक घटना याद आ रही है ।

मेरे एक मित्र स्व० विश्वनाथ गुप्त उर्फ बाबूराम को महान् पुरुषों से मिलने का शौक था। इस प्रकार वह उनका समय नष्ट करते रहते थे। एक बार उन्होंने बम्बई में मेरा नाम लेकर शास्त्री जी से समय माँगा । शास्त्री जी ने उन्हें बुला लिया । विश्वनाथ जी गुप्त ने उन्हें यह समाचार सुना दिया कि चिरंजीव बुद्धिप्रकाश ने एम० ए० में फ़र्स्ट क्लास और सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया है । शास्त्री जी ने तुरन्त ही मुझे एक कार्ड भेजा जिसमें चिरंजीव बुद्धिप्रकाश की सफलता पर हम दोनों को बधाई दी गई थी । अकस्मात् शास्त्री जी का वह पत्र पड़ा रह गया और मैं उसकी प्राप्ति-सूचना भी न भेज सका । आठ दिन बाद माननीय शास्त्री जी का दूसरा पत्र आया जिसमें उन्होंने लिखा था : "यह अजीब बात है कि मेरे पिछले पत्र की पहुँच भी आपने नहीं भेजी। परीक्षा में आपके सुपुत्र की सफलता ऐसी है कि आप दोनों ही बधाई के पात्र हैं ।"

परीक्षाओं की सफलताओं को मैं विशेष महत्त्व नहीं देता और स्वयं शास्त्री जी को उस बारे में लिखने की कल्पना भी नहीं कर सकता था पर माननीय शास्त्री जी इतने सहृदय और घरेलू तबियत के आदमी थे कि उन्होंने उसके बारे में दो पत्र भेजे । गुणग्राहकता उनका सबसे बड़ा गुण था । उनके पत्रों का एक संग्रह मद्रास में छप गया था। पर उसमें मेरे केवल दो पत्र ही आ सके ।

उनमें एक पत्र पोशाक के बारे में था । मैंने एक चिट्ठी मज़ाक में उन्हें भेजी थी, जिसका आशय यह था—'मुझे विदेश यात्रा करनी है पर मेरे सामने एक कठिनाई यह है कि मैं अँग्रेज़ी पोशाक विधिवत् नहीं पहन पाता' इत्यादि । इस पत्र का जो उत्तर माननीय शास्त्री जी ने दिया वह इतना महत्त्वपूर्ण था कि सर्वश्रेष्ठ पत्र-संग्रह में उसे स्थान मिल सकता है। उसे

यहाँ अनुवाद सहित उद्धृत किया जाता है :[1]

गोविन्द भवन शंकरपुर
बसावनगुड़ी डाक०, बंगलौर सिटी
10 दिसम्बर, 1924

मेरे प्रिय बनारसी दास,

अपनी औपचारिक पोशाक के बारे में अपने हृदय को पीड़ित मत करो। यदि आप काफी लम्बे अर्से तक जीवित रहें और पर्याप्त प्रसिद्धि भी प्राप्त कर लें, और अपने को अनिवार्य रूप से आवश्यक बना दें तो आप किसी दिन चाहे जितनी छोटी और मौलिक पोशाक पहिन सकते हैं। श्री गांधी जी को देखिये, उनकी पोशाक का विकास उनकी प्रसिद्धि के अनुरूप हो रहा है। फर्क़ इतना ही है कि ज्यों-ज्यों प्रसिद्धि बढ़ती जाती है, पोशाक छोटी होती जाती है। लेकिन उनकी अपेक्षा कोई छोटा मनुष्य उनके साथ नहीं चल सकता। दास और नेहरू अब भी अपने शरीरों के एक बड़े भाग को ढके रहते हैं। यदि आप भारत के बाहर जावें तो औपचारिकता का उल्लंघन नहीं कर सकते, हाँ अगर आपको अपने विशेष उद्देश्य की कोई चिन्ता न हो और औपचारिकता का विरोध आपका उद्देश्य बन जाए तो उससे लोगों का ध्यान आपकी ओर अवश्य आकर्षित हो सकता है। बनारसी दास! यह दुनिया बड़ी अजीब है। पहले उसके सामने झुकना होगा और महान् बनना होगा तब कहीं आप दुनिया को अपने सामने झुका सकते हैं। क्या गांधी जी ने शुरू से ही ऐसी पोशाक पहनी थी? यदि वह वैसा करते तो उनका अन्त भी दूसरा ही होता। यह छोटा-सा लेक्चर जो मैंने तुम्हें दिया उसके लिए अपने प्रेमी श्रीनिवास को क्षमा कर दीजिये।

—वी० एस० श्रीनिवासन

माननीय शास्त्री जी के साथ पहली मुलाकात की भी एक बात मुझे याद आ रही है। वह शिमला जा रहे थे और आगरा स्टेशन पर मिलने के लिए मुझे बुलाया था। मैंने आगरे से मथुरा तक का फ़र्स्ट क्लास का टिकट ख़रीदा और स्टेशन पर ट्रेन की प्रतीक्षा करने लगा। ट्रेन के आते ही शास्त्री जी के सेक्रेटरी मिस्टर कोदण्डराव उतरे और उन्होंने मुझे अनुमान से पहचान लिया। मैं शास्त्री जी के डिब्बे में उपस्थित हुआ। शास्त्री जी ने मेरा बड़े प्रेम से स्वागत किया। थोड़ी देर की बातचीत के बाद उन्होंने कुछ मिठाई और नमकीन मेरे सामने रख दिया और कहा, "इनके प्रति न्याय कीजिए।" मैंने उनकी आज्ञा का अक्षरशः पालन किया। तत्पश्चात् शास्त्री जी ने कहा, "मेरी पत्नी यह जानना चाहती हैं कि आपको और क्या परोसा जाये?" मैंने सहज भाव से कह दिया, "लड्डू।" इस पर शास्त्री जी ख़ूब हँसे। 'ब्राह्मणो मधुरः प्रियः' उक्ति उन्हें याद थी। बड़ी ख़ुशी के साथ श्रीमती शास्त्री जी ने मुझे लड्डू परोस दिये। हम लोगों की बातचीत

---

1. Govind Bhawan Shankarpur
Besavangudi P.O., Bangalore City,
10 December, 1924

Mr dear Banarasi Das,

Don't break your heart over your conventional dress. If you live long enough and become famous enough and make yourself indispensible; you can dress someday as scantily and as originally as ever you please. Look at Mr. Gandhi whose dress is evolving in proportion to his fame. Only as the latter inereases the former decreases. But no small man dares keep step with him in that respect. Even Das and Nehru still cover a great part of their bodies. When you go out of India, you can not afford to defy convention at all, unless you don't care for your specific mission and consider it sufficient just to defy convention and earn what notice that brings. It is funny world Mr. Banarasi Das, we have to live in, bend first to it and become great then you can make it bend to you. Did Gandhi always dress like this? If he had begin so he would have ended differently. Forgive me for a lecture from one who loves you.

—V.S. Shrinivasan



श्रीनिवास शास्त्री

किसी के बारे में होती रहीं कि इतने में मथुरा स्टेशन आ गया। मैं ट्रेन से उतर पड़ा और शास्त्री जी भी बाहर आ गये। मुझसे एक ग़लती हुई कि मैं तुरन्त ही जाने लगा, इस पर शास्त्री जी ने मेरे कन्धे पर हाथ रखकर कहा, "यंग मैन, लेट माई ट्रेन डिपार्ट फ़र्स्ट," (अर्थात् युवक ! पहले मेरी ट्रेन तो छूट जाने दो।) मैंने उनकी आज्ञा का पालन किया। शास्त्री जी के साथ बिताये उस एक घण्टे की याद मेरे मस्तिष्क में अब भी ताज़ा है।

युवकों के साथ व्यवहार करने में वह अत्यन्त कुशल थे। एक बार मुझे उनके साथ बम्बई से दिल्ली की यात्रा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। बात यह हुई थी कि कनाडा, आॅस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैंड की यात्रा से लौटने पर बम्बई में लिबरल पार्टी की ओर से उनका स्वागत हुआ था। मैं भी उसी मीटिंग में शामिल होने के लिए साबरमती से बम्बई गया था। मीटिंग समाप्त होने पर शास्त्री जी मंच से उतरकर श्रोताओं के बीच खड़े मेरे पास चलकर आये। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। पाँच-सात मिनट तक बातचीत होती रही। शास्त्री जी ने कहा, "आप मेरे साथ दिल्ली चलिये।" मैंने उत्तर दिया, "शास्त्री जी, मैं तो गुजरात नेशनल कालिज में अध्यापक हूँ और केवल दो दिन की छुट्टी लेकर आया हूँ।" शास्त्री जी ने पूछा, "आपके प्रिंसिपल कौन हैं ?" मैंने कहा, "आचार्य गिडवानी जी।" तब शास्त्री जी ने कहा, "आप प्रिंसिपल साहब को लिख दीजिये कि श्रीनिवास शास्त्री मुझे दिल्ली ले जाना चाहते हैं। कृपाकर चार दिन की छुट्टी और दे दीजिये। मुझे विश्वास है कि वह आपको छुट्टी अवश्य दे देंगे।" मैंने गिडवानी जी की सेवा में पत्र भेज दिया और अपने कमरे पर लौट आया। दूसरे दिन भारत सेवक समिति के सदस्य ठक्कर बापा मेरे निवास स्थान पर आये और बोले, "आपको गिरफ्तार किया जाता है।" मैंने कहा, "कृपया मेरा अपराध भी तो बताइये।" इस पर उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, "शास्त्री जी का हुक्म है कि मैं आपको गिरफ्तार करके स्टेशन ले जाऊँ। और फ़र्स्ट क्लास के डिब्बे में बिठला दूँ।" मैं सहर्ष उनके साथ चल दिया।

उन दिनों बम्बई से दिल्ली का फ़र्स्ट क्लास का टिकट पचपन रुपये में आता था। और ठक्कर बापा को शास्त्री जी ने साठ रुपये दिये थे। बापा साहब ने बाकी बचे पाँच रुपये के सन्तरे ख़रीदकर मेरे डिब्बे में रख दिये थे। शास्त्री जी कुछ दूर एक अलग केबिन में अपनी सुपुत्री के साथ बैठे थे। भोजन के समय शास्त्री जी ने अपने डिब्बे में ही मुझे बुला लिया था। जब ट्रेन दिल्ली पहुँची तो स्टेशन पर तत्कालीन लाॅ मेम्बर श्री तेज बहादुर सप्रू का सेक्रेटरी शास्त्री जी के स्वागतार्थ उपस्थित हुआ था। शास्त्री जी ने उनसे पूछा, "मेरे साथ एक व्यक्ति और भी हैं। क्या उनके ठहरने का प्रबन्ध भी हो सकेगा ?" उन्होंने उत्तर दिया, "बड़ी ख़ुशी से।

इस प्रकार मैं भी सर तेज बहादुर सप्रू का अतिथि बन गया था। एक अलग कमरे में मुझे ठहरा दिया गया। मैंने एक ग़लती की थी कि जाड़े के कपड़े, रज़ाई इत्यादि, अपने साथ नहीं ले गया था। शास्त्री जी ने बम्बई में कहा भी था, "दिल्ली में काफ़ी ठण्ड होगी," पर मैंने व्यर्थ में कह दिया था, "शास्त्री जी मैं जानता हूँ, मैं आगरे का निवासी हूँ।" दिल्ली पहुँचकर मुझे अपनी ग़लती महसूस हुई और तुरन्त चांदनी चौक में बैजनाथ चौबे कम्पनी के यहाँ गया और सर्दी के कपड़े ले आया। जब मैं लौटकर आया तो सप्रू साहब के एक नौकर ने कहा, "हमारे मालिक दो बार आपके कमरे पर आ चुके हैं।" मेरा यह कर्त्तव्य था कि मैं सप्रू साहब के घर पर पहुँचने के बाद सर्वप्रथम उनके दर्शनार्थ जाता पर संकोचवश मैं न जा सका। सप्रू साहब 'लीडर' के पाठक थे और मेरे नाम से परिचित भी थे। उस समय की बातें तो मैं भूल गया पर दो बातों की मुझे अब भी याद है। सप्रू साहब ने कहा था, "'लीडर' में आपके प्रवासी भारतीय विषयक लेख देखता रहता हूँ। इस बारे में मुझसे कोई काम लेना हो तो बिना किसी संकोच के लिख दीजिये।" दूसरी बात जो मुझे याद आ रही है वह यह कि सप्रू साहब के यहाँ भोजन बहुत ही स्वादिष्ट था। चार तरह की दालें थीं। कश्मीरी लोगों का भोजन उच्चकोटि का होता ही है। शास्त्री जी की कृपा से सप्रू साहब से साक्षात्कार का सौभाग्य मुझे प्राप्त हो सका।

एक बार शास्त्री जी कानपुर आये हुए थे और वहाँ उन्होंने मुझे मिलने के लिए बुलाया था। मैं फीरोज़ाबाद से वहाँ उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। घण्टे-भर प्रवासी भारतीयों के विषय में बातचीत होती रही। उसके सम्बन्ध में माननीय शास्त्री जी ने 'सर्वेण्ट ऑफ़ इण्डिया सोसाइटी' के सदस्य श्री सदाशिव गोविन्द बझे को एक पत्र में लिखा था :

"दिस टाइम बनारसीदास केम वेरी डीसेण्टली ड्रेस्ड। ईवन मिसेज़ सरोजिनी नायडूज़ आर्टिस्टिक आई शुड हैव हैड प्लीज़्ड।" (अर्थात् इस बार बनारसीदास बड़ी अच्छी पोशाक में आये। यहाँ तक कि श्रीमती सरोजिनी नायडू की कलापूर्ण दृष्टि भी प्रसन्न हो गई होगी।)

यद्यपि माननीय श्रीनिवास शास्त्री जी एक विश्वविख्यात महापुरुष थे, और उनके भाषणों को सुनकर बड़े-बड़े अँग्रेज भी दाँतों तले उँगली दबाते थे तथापि छोटे से छोटे कार्यकर्ता के साथ उनका बर्ताव अत्यन्त सहृदयतापूर्ण होता था। अपने स्वर्गवास के पहले उन्होंने अपने मित्रों और परिचितों को एक गश्ती चिट्ठी भेजी थी जिसमें लिखा गया था कि न तो उनका कोई स्मारक बनाया जावे और न उनका कोई जीवन-चरित लिखा जाये। एक बार दिल्ली में जब मैंने कहा कि मैं उनका रेखाचित्र प्रस्तुत करना चाहता हूँ तो उन्होंने कहा था, "किसी मानव की प्रशंसा करके सरस्वती माता का अपमान क्यों करना चाहते हो?" उनकी यह उक्ति महाकवि तुलसीदास की उक्ति के अनुरूप ही थी :

कीन्हेसि प्राकृत जन गुनगाना,
सिर धुनि गिरा लागि पछताना।

8

कर्मवीर पण्डित सुन्दरलाल

सन् 1910 की बात है। उन दिनों मैं गवर्नमेन्ट हाईस्कूल, आगरा का विद्यार्थी था। हमारे अध्यापक श्री रघुनाथ प्रसाद जी ने मुझसे पूछा, "कौन-कौन-से अख़बार पढ़ते हो?" मैंने पण्डित सुन्दरलाल जी के पत्र 'कर्मयोगी' का नाम ले दिया। मास्टर साहब ने कहा, "क्यों जेल जाने की तैयारी कर रहे हो?" फिर भी मैं 'कर्मयोगी' बराबर पढ़ता रहा और पं० सुन्दर लाल जी का भक्त बन गया। पण्डित जी के दर्शन सर्वप्रथम मुझे सन् 1917 में हुए जबकि मैं इन्दौर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्य के लिए इन्दौर से प्रयाग गया हुआ था। तभी से मैं उनका कृपा पात्र रहा हूँ और उन्हें मैं गुरु-तुल्य पूज्य मानता था। आगे चलकर सन् 1927 में पं० सुन्दरलाल जी ने ही सम्पादकाचार्य रामानन्द बाबू को पत्र लिखकर मुझे 'विशाल भारत' की सम्पादकी दिलवा दी थी। मेरा अनुमान है कि मैं ही पण्डित जी का सबसे पुराना शिष्य हूँ, भाई श्रीनारायण जी चतुर्वेदी तथा विश्वम्भरनाथ जी पाण्डे सम्भवत: मुझसे बाद के हैं।

पण्डित जी पहले उग्र दल के समर्थक थे, लोकमान्य तिलक तथा अरविन्द के भक्त; पर आगे चलकर वह महात्मा गांधी जी के अनुयायी हो गये। महर्षि अरविन्द के 'कर्मयोगी' पत्र से प्रेरणा लेकर उन्होंने भी उसी नाम का एक पत्र निकाला था और वह पत्र हिन्दी जगत् में अत्यन्त लोकप्रिय हो गया था। उनकी लिखी 'भारत में अँग्रेज़ी राज' तो देश-भर में प्रसिद्ध हो गयी थी। नर्म दल के आदमी उनके नाम से डरते थे। इस प्रसंग में मुझे एक घटना याद आ रही है :

स्व० माता रामेश्वरी नेहरू ने अपने अप्रकाशित आत्म-चरित में लिखा था "मैंने 'स्त्री-दर्पण' में प्रकाशित एक लेख के लिए दस रुपये का मनीआर्डर पं० सुन्दरलाल जी को भेजा था। जब उस मनीआर्डर की रसीद आई तो पूज्य पं० मोतीलाल नेहरू ने उसे देखकर कहा था, "सुन्दरलाल को पैसा भेजकर हमें कौन आफत में फँसाना चाहता है?" फिर भी मैंने मनीआर्डर भेजना जारी रखा। यह बात ध्यान देने योग्य है कि पण्डित जी उन दिनों मॉडरेट (नर्मदल) में थे पर आगे चलकर तो वह अत्यन्य उग्र हो गये थे।

पण्डित सुन्दरलाल जी का जन्म सन् 1886 में हुआ था। उनका विवाह 17-18 वर्ष की उम्र में हो गया था। दो-तीन वर्ष बाद ही उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। पण्डित जी 1905 से ही काँग्रेस का कार्य करने लगे थे और बनारस काँग्रेस में सम्मिलित भी हुए थे। पत्नी के देहान्त के बाद उनकी साली के साथ उनके विवाह की चर्चा चली थी पर उसकी सगाई दूसरी जगह हो गयी और पण्डित जी ने फिर

विवाह नहीं किया। पूरे 75 वर्ष पण्डित जी ने देश-सेवा के अनेक कार्य विभिन्न क्षेत्रों में किये। वे उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश की काँग्रेस के सभापति भी रहे। मौलाना मुहम्मद अली ने एक बार उनसे कहा था, "आप तो काँग्रेस प्रेसीडेण्ट बनने की योग्यता रखते हैं।" यह बात भूलने की नहीं कि नागपुर का 'झण्डा सत्याग्रह' उन्हीं के द्वारा संचालित हुआ था। पण्डित सुन्दरलाल जी दरअसल हिन्दू-मुस्लिम-एकता के मसीहा थे। इस विषय पर उन्होंने काफी लेख तथा ग्रन्थ भी लिखे थे। इस पद और प्रतिष्ठा के लिए उनके मन में कोई मोह नहीं था। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। यदि वह चाहते तो कभी भी लोकसभा या राज्य सभा के सदस्य बन सकते थे। पर इसकी कल्पना भी उन्होंने नहीं की। अनेक बार उन्हें आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। काफी दिनों तक वह शुभ-चिन्तकों की आर्थिक सहायता पर ही जीवित रह सके। किसी भी जनोपयोगी कार्य के लिए अथवा मित्रों तथा भक्तों की सहायता के किसी भी काम के लिए वह सदैव उद्यत रहते थे।

एक बार की घटना मुझे याद आती है, एक क्रातिन्कारी श्री लद्धाराम जी की आर्थिक सहायता के लिए वह मेरे साथ श्रीमान् जुगल किशोर बिड़ला के मंत्री पं० जनार्दन भट्ट के पास गये थे। पण्डित जी उनके पूज्य पिताजी पं० बालकृष्ण भट्ट के शिष्य थे। भट्ट जी ने स्पष्ट रूप से कह दिया, "मुझे तो केवल पच्चीस रुपये तक देने का अधिकार है। वह रकम मैं आपको भेंट कर सकता हूँ।" पण्डित जी को इससे निराशा तो हुई पर उन्होंने बुरा नहीं माना और कहा, "तांगे का किराया तो आप दे ही दीजिये।" इस प्रकार तीन-चार रुपये और मिल गये। रास्ते में पण्डित जी ने कहा, "इसी तरह माँगते-माँगते मेरी सारी ज़िन्दगी बीत गयी।"

पण्डित जी संयुक्त प्रान्त उत्तर प्रदेश में उग्र राजनीति के प्रवर्तकों में से थे। 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक पं० बालकृष्ण भट्ट ही उनके आदर्श थे। पडिण्त जी लेखक तो उच्चकोटि के थे ही अनुवादक भी बहुत अच्छे थे। उन्होंने एडवर्ड कार्पेण्टर की प्रसिद्ध पुस्तक 'सिविलाइज़ेशन, इट्ज कॉज़ एण्ड क्योर' का अनुवाद भी किया था जो 'सभ्यता महारोग' के नाम से छपा था।

जब वह 'भारत में अँग्रेज़ी राज' नामक पुस्तक लिख रहे थे, तब लगभग एक महीने कलकत्ते में मेरे अतिथि रहे थे और उनके साथ महात्मा भगवानदीन जी तथा श्री विश्वम्भरनाथ जी पाण्डे भी रहे थे। वह पुस्तक मुख्यतया मेजर बी० डी० बसु के ग्रन्थ 'राइज़ ऑफ क्रिश्चियन पावर इन इण्डिया' के आधार पर लिखी गयी थी। यद्यपि उसमें बहुत मौलिक सामग्री भी है।

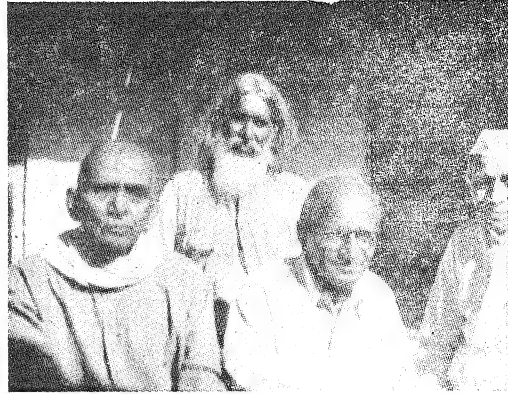
सन् 1905 से लेकर सन् 1981 तक 76 वर्षों में पण्डित जी ने अनेक सार्वजनिक आन्दोलनों में भाग लिया था। उनके अनेक कार्य भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में अमिट छाप छोड़ गये हैं। पर व्यक्तिगत तौर पर अपने मित्रों तथा भक्तों की जो सहायता उन्होंने की, उसका ब्यौरा कहीं नहीं मिलता। अपने साथियों तथा शिष्यों के व्यक्तित्व के विकास के लिए वह सदैव चिन्तित रहते थे। जब डॉक्टर किचलू वियना जा रहे थे तो पण्डित सुन्दर लाल जी ने तार देकर मुझे उनके साथ जाने का आदेश दिया था पर खेद है कि मैं जा न सका। जब पण्डित जी एक दल लेकर चीन जा रहे थे तब भी उन्होंने मुझे साथ ले जाने का आग्रह किया था। अन्य यात्रियों से उन्होंने यात्रा-व्यय के लिए चौदह सौ रुपये लिए थे पर चार टिकट फ्री रखे थे। उनमें एक वह मुझे भी देना चाहते थे। उस अवसर पर भी मैं चूक गया। इस कारण क्रुद्ध होकर उन्होंने मुझे नालायक की उपाधि दे दी थी। जब दूसरी बार मैं राज्य सभा में जाने का प्रयत्न कर रहा था तब मेरी सिफ़ारिश करने के लिए वह मौलाना आज़ाद के

निवास-स्थान पर गये थे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सन् 1934 में पण्डित जी ने ही मेरा परिचय मौलाना आज़ाद से कराया था और तभी मौलाना साहब ने मेरे द्वारा प्रकाशित 'हज़रत मुहम्मद' नामक पुस्तिका की भूमिका भी लिखी थी।

जब 1952 में मेरा नाम कांग्रेस पार्लियामेंटरी बोर्ड के सामने आया तब मौलाना आज़ाद ने, जो उक्त बोर्ड के सभापति थे, मेरे नाम का समर्थन कर दिया था। दिल्ली षड्यन्त्र केस के लाला हनुमंत सहाय से भी उन्होंने मेरा परिचय करा दिया था। हिन्दू-मुस्लिम एकता के विषय में मैं पण्डित जी का अनुयायी था और जब मेरे द्वारा सम्पादित पत्र 'विशाल भारत' के मालिक रामानन्द बाबू हिन्दू महासभा के सभापति हुए थे तो मैंने उनके इस कार्य के विषय में एक सम्पादकीय नोट छाप दिया था। पण्डित सुन्दरलाल जी को मेरा यह साहस पसन्द आया था और रामानन्द बाबू के स्वर्गवास के बाद उन्होंने इसका उल्लेख भी कर दिया था।

मेरे कार्यों में सहयोग देने के लिए वह सदैव तत्पर रहते थे। क्रान्तिकारी कवि लालचन्द्र फ़लक को आर्थिक सहायता दिलाने के लिए वह मेरे साथ राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू की सेवा में भी उपस्थित हुए थे। जब दिल्ली में क्रान्तिकारी परिषद् के प्रथम अधिवेशन के समय लाला हनुमन्त सहाय जी स्वागतकारिणी के सभापति के प्रश्न पर रूठ गये थे तो मनाने के लिए हम दोनों ही उनकी सेवा में उपस्थित हुए थे।

यदि मैं उन सब कृपाओं का उल्लेख करूँ जो पण्डित जी ने मुझ पर की थीं, तो लेख का आकार बहुत बढ़ जायेगा। अप्रैल 1930 में मैंने 'विशाल भारत' में पण्डित जी का स्केच लिखा था जो उनके भक्तों को बहुत पसन्द आया था। पण्डित जी गीता के निष्काम कर्म के अनुयायी थे। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था, "मुझे तो वह बात अच्छी लगती है। एक आदमी डूब



पण्डित सुन्दरलाल जी, पण्डित परमानन्द जी, डा० खानखोजे और लाला हनुमन्त सहाय (प्रसिद्ध क्रान्तिकारी)

रहा है। हम उधर से जा रहे हैं, हम तैरना जानते हैं। कूद पड़े, निकाल दिया और बिना परिचय या बातचीत के चलते बने।" मैंने उक्त रेखाचित्र में यह भी लिखा था, "जब हमारे देश के कितने ही नवयुवक नेता स्वाधीनता संग्राम में विजयी होकर देश के शासक होने के सौभाग्य पूर्ण अवसर प्राप्त करेंगे—यह स्वाभाविक है और उचित भी--उस समय भी सुन्दरलाल किसी न किसी क्रान्तिकारी लड़ाई में व्यस्त होंगे और अपने से लड़ना, विदेशियों से लड़ने की अपेक्षा कठिनतर होगा। सुन्दरलाल जी बैठ रहने वाले जीव नहीं हैं। संक्षेप में उनका परिचय दिया जाये तो हम इतना कह सकते हैं कि सुन्दरलाल जी बिना किसी लगालेस के ख़ालिस क्रान्तिकारी हैं।"

आज से तरेपन वर्ष पहले लिखी हुई मेरी भविष्यवाणी सर्वथा सत्य सिद्ध हुई। पण्डित सुन्दरलाल जी ने निष्काम सेवा का जो महान् यज्ञ 1905 में प्रारम्भ किया था उसका समापन उसी भावना से 1981 में हो गया। उनके निराले व्यक्तित्व की यही ख़ूबी थी।

9

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

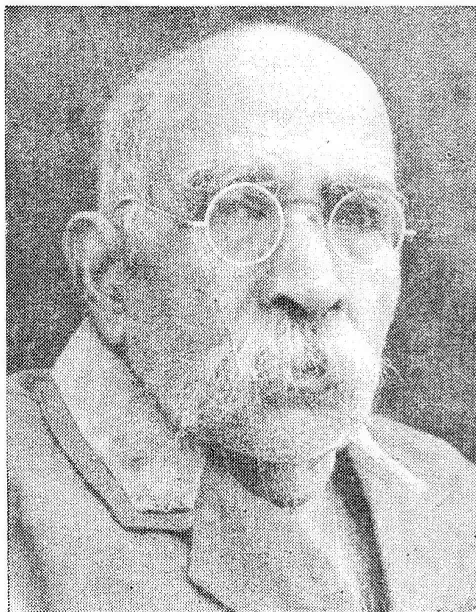
पूज्य द्विवेदी जी के दर्शन मैंने प्रथम बार सन् 1917 ई० में उस समय किये थे, जब मैं प्रताप के मैनेजर स्व० शिवनारायण मिश्र के साथ कानपुर के निकट जुही में उनकी सेवा में उपस्थित हुआ था। उस समय एक ग़लतफ़हमी हो गयी थी। मैं उन दिनों 'प्रवासी भारतवासी' नामक पुस्तक लिख रहा था। मैंने द्विवेदी जी की सेवा में निवेदन किया, "प्रवासी भारतीयों की ओर से मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि आप उसके विषय में कुछ लिखें।" द्विवेदी जी ने सहज भाव से पूछा, "क्या प्रवासी भारतीयों ने आपको अपना प्रतिनिधि चुना है ?" मुझे यह प्रश्न व्यंग्यात्मक जँचा और मैंने विना नाम दिये 'प्रवासी भारतवासी' की भूमिका में इसका उल्लेख भी कर दिया। पूज्य द्विवेदी जी को यह बात खटकी और सन् 24 के अपने एक पत्र में उन्होंने इसका ज़िक्र भी किया था। तब मैंने अपनी इस ग़लतफ़हमी के लिए उनसे क्षमा-याचना कर ली थी। पूज्य द्विवेदी जी निस्सन्देह युग-निर्माता थे। मेरे मन में उनका जीवन-चरित लिखने की कल्पना भी आयी थी पर मैं अपने इस संकल्प को पूरा नहीं कर सका। यद्यपि मैंने तीन बार दौलतपुर की तीर्थयात्रा की थी। एक यात्रा में मैं अपने साथ बन्धुवर श्रीराम शर्मा को भी ले गया था। उस वक़्त की एक घटना मुझे याद आ रही है :

हम दोनों द्विवेदी जी के साथ टहलने गये थे। टहलकर लौटे तो श्रीराम जी ने अपने जूते कमरे से बाहर उतार दिये थे। हम लोग द्विवेदी जी के पास बैठे ही थे कि द्विवेदी जी कमरे के बाहर उठकर गये और उन्होंने श्रीराम जी के जूते अपने हाथ में ले लिये। श्रीराम जी झपटकर वहाँ पहुँचे और कहा, "यह क्या कर रहे हैं आप ?" द्विवेदी जी ने कहा, "बाहर से आकर जूते की धूल पोंछनी चाहिए नहीं तो वे जल्दी ख़राब हो जाते हैं। आप देखते हैं जो कपड़ा आपके सामने टँगा हुआ है, वह मेरे पास बीस साल से है। अपनी चीज़ों की देखभाल रखनी पड़ती है।" दरअसल द्विवेदी जी बड़े किफ़ायतसार थे। जूते उठा कर उन्होंने अपनी विनम्रता का साक्षात् परिचय दिया था।

ऐसी ही एक घटना मेरे साथ 'ज़माना' के एडीटर स्व० मुन्शी दयानारायण निगम के मकान पर घटी थी। मैं बाहर जूते उतार कर उनके कमरे में (कानपुर) गया था। थोड़ी देर बाद निगम साहब बाहर जाने लगे। मैंने पूछा, "कहाँ जा रहे हैं ?" वह बोले, "यहाँ बन्दर बहुत हैं और वे आपके जूते उठा ले जा सकते हैं, इसलिए उन्हें (आपके जूतों को) मैं उठाकर यहाँ लाऊँगा।" मैंने कहा, "मैं स्वयं ही

यह काम किये लेता हूँ।" तब मुझे यह अनुभव हुआ था कि यह उन दोनों महापुरुषों की अदा ही थी।

यद्यपि द्विवदी जी का जीवन-चरित मैं लिख नहीं सका तथापि उनके 70-75 पत्र मैंने सुरक्षित कर लिये थे जो राष्ट्रीय अभिलेखागार, जनपथ, नई दिल्ली में जमा हैं। इसके सिवाय उन पर कई लेख भी 'विशाल भारत' में लिखे थे। दिल खोलकर जैसी चिट्ठी द्विवेदी जी ने मुझे लिखी थी, वैसी शायद ही किसी दूसरे को लिखी हो। उनके पत्रों में एक पत्र बड़ा महत्त्वपूर्ण है। कलकत्ते में एक सज्जन ने 'विशाल भारत' कार्यालय में आकर मुझसे कहा था,



आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

"द्विवेदी जी के पास तो लाखों रुपये हैं।" मैंने धृष्टतापूर्वक यह बात ज्यों की त्यों द्विवेदी जी को लिख भेजी। मैं यह जानता था कि उसे पढ़ कर द्विवेदी जी उबल पड़ेंगे। मेरा अनुमान सच निकला। मेरी उस चिट्ठी के उत्तर में द्विवेदी जी ने जो पत्र भेजा था, वह ऐतिहासिक महत्त्व का बन गया है। उस पत्र में उन्होंने अपनी दानशीलता एवं सेवाओं का स्पष्टतापूर्वक उल्लेख किया। कितने ही विद्यार्थियों को उन्होंने पढ़ाया था, कितनी ही विधवाओं की उन्होंने मदद की थी जबकि उन्हें कुल जमा 50 रुपये मासिक इंडियन प्रेस से मिलते थे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि रेल-विभाग की 200 रुपये की नौकरी छोड़कर द्विवेदी जी 23 रुपये महीने पर 'सरस्वती' के सम्पादक बने थे। उनका वेतन 20 रुपये मासिक था और 3 रुपये डाक व्यय के लिए उन्हें मिलते थे। एक बार स्वर्गीय भाई श्रीराम शर्मा जी ने द्विवेदी जी से कह दिया कि मैं फिज़ूलख़र्ची किया करता हूँ। इस पर द्विवेदी जी ने मुझे फटकार बतला दी और लिखा, "आख़िर आप पौने दो सौ रुपये किस तरह ख़र्च किया करते हैं। मुझे तो जब बीस रुपये महीने मिलते थे, उनमें से भी चार रुपये मैं बचा लेता था।"

पूज्य द्विवेदी जी में कृतज्ञता का गुण बड़ी मात्रा में पाया जाता था। जब मैंने उनके यहाँ एक जरा-जीर्ण बूढ़ी गाय देखी तो मैं ग़लती से पूछ बैठा, "यह मरघिल्ली गाय आपने क्यों पाल रखी है?" वह बोले, "चौबे जी, आप नहीं जानते, बहुत वर्षों तक इस गाय ने हमें दूध पिलाया था। अब इसकी वृद्धावस्था में मेरा कर्त्तव्य है कि मैं इसका पालन-पोषण करूँ सो मैं जहाँ तक बन सकता है, इसे हरी घास खिलाता हूँ।"

द्विवेदी जी के गाँव के निकट एक सुप्रसिद्ध अनुभवी वैद्य रहते थे। उन्होंने मुझसे कहा, "यद्यपि मैंने कितने ही धनवानों और ताल्लुकेदारों का इलाज किया है, तथापि द्विवेदी जी जैसा कृतज्ञ मरीज़ अपने जीवन में दूसरा नहीं मिला। बम्बई से मन्दाग्नि के शिकार होकर गाँव को लौटे तो मेरे इलाज से वह स्वस्थ हो गये थे। इसे कितने ही वर्ष बीत चुके हैं। पर तब से प्रत्येक शीत ऋतु में मेरे लिए जाड़े के

कपड़े बनवा देते थे।"

दौलतपुर ग्राम की पंचायत के सरपंच वही थे, और पूरी निष्ठा के साथ मुकदमों का निर्णय करते थे। कभी-कभी तो ग़रीबों पर किये गये जुरमाने को वह अपने पास से ही भर देते थे।

द्विवेदी जी बड़े वैज्ञानिक मस्तिष्क के आदमी थे। सगुन-असगुन वह बिलकुल नहीं मानते थे और कभी-कभी तो तेल की कुप्पी रख प्रस्थान करते थे।

अपनी पत्नी के स्वर्गवास के बाद उन्होंने एक मन्दिर में उनकी मूर्ति स्थापित कर ली थी।

एक बार जब वे तख़्त पर लेटे हुए थे, उन्होंने अपने पास बिठलाकर मुझसे कहा, "तुम्हारी पत्नी का देहान्त हो चुका है। क्या तुम संयमपूर्वक रह सकोगे?" मैंने उत्तर में कहा, "दो-तीन वर्ष से तो रह ही रहा हूँ।" इस पर द्विवेदी जी बोले, "यह अत्यन्त कठिन है। मैंने तो अपने को नपुंसक बनवा लिया है। फिर भी लोग मेरे चरित्र पर आशंका करते हैं।"

जब मैं पहली बार दौलतपुर गया था तब द्विवेदी जी ने मुझसे कहा था, "जब कहीं जाते हैं तो कुछ लेकर जाते हैं। तुम देखते हो कि मैं शहर से कई मील दूर रहता हूँ। यहाँ फल-फलेरी कुछ नहीं मिलते। आपको कानपुर से कुछ लेकर आना चाहिए था। शिष्टाचार का यही तरीका है।" यह सुनकर मैं बहुत लज्जित हुआ और दूसरी बार की यात्रा में या फिर कभी यह ग़लती मैंने नहीं की। अपनी दूसरी बार की यात्रा में मैं सन्तरे ले गया था जिनमें से अधिकांश उन्होंने मुझे ही खिला दिये थे।

द्विवेदी जी 'विशाल भारत' के नियमित पाठक थे और मुझे उनके आशीर्वाद सदैव प्राप्त रहे। जब एक लेखक महोदय ने मेरे ख़िलाफ़ एक लेख लिखा तो द्विवेदी जी ने श्रीराम शर्मा को लिखा था, "उस लेख को पढ़कर मैं ख़ून का घूँट-सा पीकर रह गया। यदि पत्र के मालिक को लिखता तो लेखक का विशेष अहित हो सकता था।"

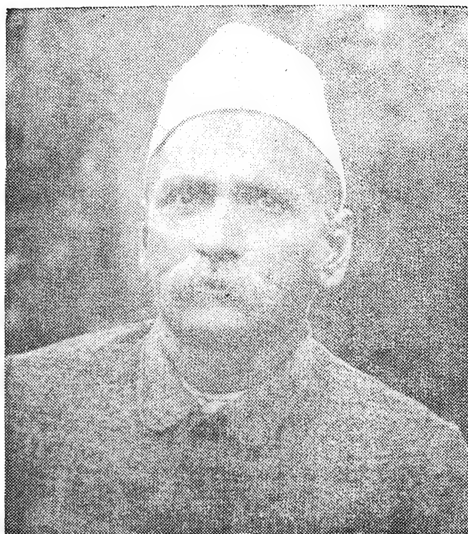
पूज्य द्विवेदी जी को इंडियन प्रेस से केवल पचास रुपये मासिक पेंशन मिलती थी, फिर भी उनकी दानशीलता बरकरार थी, इसलिए आर्थिक संकट रहता था। उस परिस्थिति में उन्होंने महाराजा वीरसिंह जू देव को एक पत्र लिखा था जिसमें आर्थिक सहायता की आशा की गई थी पर वह ऐसा कर नहीं सके। द्विवेदी जी के एक विरोधी ने महाराज से कह दिया था कि द्विवेदी जी तो बहुत साधन-सम्पन्न व्यक्ति हैं।

अन्तिम यात्रा में जब मैं द्विवेदी जी के पास से विदा होने लगा और मैंने आशीर्वाद के लिए प्रार्थना की तो उन्होंने संस्कृत का अपना बनाया श्लोक लिख दिया—

आत्मानुलन च विधाय कार्यम्
सदैव सत्येन पथः प्रयाहि।
कुर्वन् स्वशक्त्याय परोपकारं
बनारसीदास सुखी भवत्वम्॥

आचार्य जी पर दो शोध ग्रन्थ भी तैयार हो चुके हैं—एक भाई विद्याशंकर जी की सुपुत्री मधु ने किया है और दूसरा स्व० प्राणेश जी ने किया था। खेद की बात है कि 'पद्म पराग', प्रथम भाग का द्वितीय संस्करण अभी तक नहीं छप सका जबकि प्रथम संस्करण बन्धुवर राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह ने बहुत वर्ष पहले ही छपवा दिया था। 'पद्म पराग', द्वितीय भाग के लेखों का संकलन भाई हरिशंकर जी ने किया था। उसे भाई रामनाथ शर्मा ने दिल्ली के किसी प्रकाशक को दे दिया था और वहाँ वह खो गया। फिर भी उसके बहुत-से लेखकों का पता डॉ० मधु जी ने लगाकर संग्रह कर लिया है। क्या ही अच्छा हो यदि उनका शोध ग्रन्थ छप जाय !

हर्ष की बात है कि के० एम० मुंशी विद्यापीठ के निदेशक आचार्य विद्या निवास जी मिश्र का ध्यान पं० पद्मसिंह शर्मा की कीर्ति-रक्षा की ओर आकर्षित हुआ है और वह उनकी सम्पूर्ण रचनाओं को छपाने की बात सोच भी रहे हैं। मेरा एक सुझाव है कि पाठ्य-क्रम में नियुक्त करने के लिए ढाई सौ-तीन सौ पन्ने की एक पुस्तक छपा दी जाय जिसमें आचार्य पं० पद्मसिंह जी की सर्वोत्तम समीक्षाओं तथा चुने हुए पत्रों का संग्रह हो। उदाहरण के लिए उनके लिखे



संस्कृत हिन्दी एवं उर्दू के विद्वान् पण्डित पद्मसिंह जी

महाकवि अकबर, सत्यनारायण कविरत्न और सरदार पूर्णसिंह के संस्मरण महत्त्वपूर्ण हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि पाठ्य पुस्तकों में किसी लेखक या कवि की रचनाओं का उद्धृत होना उसकी कीर्ति-रक्षा में बहुत सहायक होता है।

11

गणेश शंकर विद्यार्थी

अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी से मेरा साक्षात् परिचय सन् 1915 में हुआ था। वह चित्तौड़ से खंडवा जा रहे थे और इन्दौर स्टेशन पर उन्होंने मुझे बुलाया था। उससे पूर्व उनसे पत्र-व्यवहार हो चुका था और मेरा एक लेख 'प्रताप' के विशेषांक में छप भी चुका था। पर शक्ल से न वह मुझे पहचानते थे, न मैं उन्हें। स्टेशन पर थोड़ी देर, चार-पाँच मिनट, ही गाड़ी ठहरती थी। गणेश जी को कैसे पहचाना जाये, सवाल मेरे सामने था। मैंने यह अनुमान लगा लिया था कि लम्बे-दुबले शरीर के होंगे और शायद चश्मा भी लगाते हों। घूमते-घूमते एक डिब्बे के पास पहुँचा जहाँ नीचे प्लेटफ़ार्म पर एक सज्जन खड़े हुए थे। मैंने उनसे पूछा, "क्या आप ही गणेश शंकर विद्यार्थी हैं ?" उन्होंने कहा, "हाँ।" फिर उन्होंने कहा कि "आप पंडित तोताराम !" मैंने उत्तर में कहा कि "मैं उनका प्रतिनिधि हूँ। मेरा नाम बनारसीदास है।" चूँकि मैं राजकुमार कॉलिज, इन्दौर, में काम करता था, इसलिए पं० तोताराम के नाम से पत्र-व्यवहार किया करता था। उस दिन गणेश शंकर जी से जो सम्बन्ध क़ायम हुआ, वह उनके जीवन-पर्यन्त रहा।

गणेश शंकर जी निस्संदेह एक महामानव थे। उन्हें जो शहादत मिली वह आकस्मिक घटना नहीं थी बल्कि वह उनके अखण्ड तपस्यापूर्ण जीवन का अवश्यम्भावी परिणाम थी।

यद्यपि गणेश जी स्वयं अहिंसावादी थे तथापि क्रान्तिकारियों की बड़ी मदद करते थे। अशफ़ाक़-उल्ला और रोशनसिंह को साथ लेकर वह पेजमियाँ, ज़िला बिजनौर गये थे और उन्हें वहाँ शरण दिलाई थी। भगतसिंह तो उनके कार्यालय में रहते ही थे।

स्व० श्री कृष्णदत्त पालीवाल, श्रीराम शर्मा, ठाकुर प्रसाद शर्मा, दशरथ प्रसाद द्विवेदी, सुरेन्द्र शर्मा, बालकृष्ण शर्मा नवीन, शिवनारायण मिश्र, देवव्रत शास्त्री इत्यादि ने तो उनके कार्यालय में काम ही किया था। स्व० देवव्रत शास्त्री ने उनका जीवन-चरित लिखा था जिसका तृतीय संस्करण मेरे अनुरोध पर आत्माराम एण्ड सन्स ने अपनी 'शहीद ग्रन्थ माला' में छाप दिया था। मेरे पास गणेश जी के अनेक पत्र आए थे जिनमें केवल आठ ही मैं सुरक्षित रख सका। वे पत्र राष्ट्रीय अभिलेखागार, जनपथ, नई दिल्ली, में मेरे संग्रह में विद्यमान हैं। यद्यपि गणेश जी ने अपने जीवन में सहस्रों ही पत्र लिखे होंगे तथापि केवल 40-45 ही बचे हैं जिनका उपयोग बन्धुवर डॉ० लल्लन मिश्र ने अपने गणेश शंकर विद्यार्थी नामक शोध-प्रबन्ध में कर लिया है। जब गणेश जी कौंसिल के लिए खड़े हुए थे तो मैंने धृष्टता-



अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी

पूर्वक एक पत्र उनकी सेवा में भेजा था जिसमें मैंने उनसे पूछा था, कि आप जैसा सार्वजनिक कार्यकर्ता उस व्यर्थ के व्यापार में क्यों फँसना चाहता है? इसका बड़ा विनम्रतापूर्ण उत्तर उन्होंने दिया था, जो कि उनके जीवन-चरित में प्रायः उद्धृत किया जाता है। उसमें उन्होंने लिखा था कि "मुझे बलिदान का बकरा बनाया गया है। कानपुर से कौंसिल के लिए एक सेठ खड़ा हुआ है और यहाँ की जनता का ख़्याल है कि मैं ही उसका मुक़ाबला कर सकता हूँ।" गणेश शंकर विद्यार्थी उस चुनाव में विजयी हुए थे पर अपने चुनाव के ख़र्च का एक पैसा भी उन्होंने 'प्रताप' से नहीं लिया था।

जब मैं 1924-25 में पूर्व अफ्रीका गया था तो नैरोबी से अँग्रेज़ी में गणेश जी पर एक लेख मैंने लखनऊ के 'एडवोकेट' नामक पत्र को भेजा था, जो अत्यन्त श्रद्धापूर्ण था और मेरी वह श्रद्धा निरन्तर बढ़ती ही गयी है। गणेश जी की शहादत के बाद मैंने जितने लेख 'विशाल भारत' में छापे उतने 'प्रताप' में भी नहीं छपे होंगे। हिन्दी भवन 'कालपी' से गणेश शंकर स्मृति ग्रन्थ मैंने छपवाया था जिसके लिए मेरी प्रार्थना पर श्री सम्पूर्णानन्द जी ने 2000 रुपये हिन्दी भवन को भेजे थे। उस स्मृति-ग्रन्थ में मुझे श्रद्धेय झाबरमल शर्मा तथा भाई परिपूर्णानन्द जी का पूरा-पूरा सहयोग भी प्राप्त हुआ था। आगे चलकर 'नर्मदा' का गणेश शंकर विद्यार्थी स्मृति अंक स्व० शम्भूनाथ सक्सेना की सहायता से मैंने निकाला था और उसमें भी पण्डित झाबरमल शर्मा का सहयोग था। जब श्री भक्तदर्शन जी कानपुर विश्वविद्यालय के कुलपति थे, उनसे मैंने आग्रह किया था कि वह गणेश शंकर विद्यार्थी पत्रकार-विद्यालय क़ायम करायें। वह वैसा तो नहीं कर सके पर उन्होंने गणेश शंकर व्याख्यान माला अवश्य प्रारम्भ कर दी थी। उसके अधीन मैंने भी दो भाषण दिये थे। एक अमरीकन मित्र मि० टिम्बर्ग से मैंने अनुरोध किया था कि वह अँग्रेज़ी में गणेश जी पर एक पुस्तक लिखें। उन्होंने कुछ सामग्री इकट्ठी की भी पर वह काम आगे न बढ़ सका। भाई लल्लन मिश्र ने कई वर्ष तक परिश्रम करके अपना शोध ग्रन्थ तैयार कर लिया पर वह अभी तक अप्रकाशित ही पड़ा हुआ है। गणेश जी के कुटुम्ब के पारस्परिक मतभेद के कारण उनके द्वारा अनुवादित 'ला मिजरेबिल' नामक फ्रेंच उपन्यास का अनुवाद अब तक बिना छपे पड़ा हुआ है। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि गणेश जी के बहुत-से लेखों का संग्रह भी अवस्थी जी ने प्रकाशित कर दिया है और उनकी स्मृति में दैनिक 'गणेश' नामक पत्र भी निकल रहा है। दुर्भाग्य की बात यही हुई कि गणेश जी के सुपुत्र भाई हरिशंकर तथा ओंकार शंकर अपने पूज्य पिता जी की स्मृति-रक्षा के लिए कुछ न कर सके। उत्तर प्रदेश सरकार ने उनके नाम पर एक मेडिकल कॉलिज कायम कर दिया है और निगम ने फूलबाग़ पार्क का नाम गणेश-उद्यान रख दिया है। फिर भी गणेश शंकर जी का साहित्यिक श्राद्ध अभी अधूरा ही पड़ा हुआ है।

12

बाबू राजेन्द्र प्रसाद

श्रद्धेय बाबू राजेन्द्र प्रसाद के प्रथम दर्शन मुझे बम्बई में सन् 1920-21 के आसपास सेठ जमनालाल जी बजाज के कालबा देवी वाले निवास स्थान पर हुए, जहाँ हम दोनों ही सेठ जी के अतिथि थे। उनकी विनम्रता की जो झाँकी मुझे उस समय दीख पड़ी वह मेरे हृदय-पटल पर अमिट रूप से अंकित हो गयी, और अब तक क़ायम है। राजेन्द्र बाबू हिन्दी के जाने-माने लेखक थे और हिन्दी साहित्य की गतिविधियों की जानकारी भी रखते थे। मैं आठ-नौ वर्ष ही से कुछ लिखता आ रहा था, फिर भी वह मेरी कृतियों से परिचित थे। जब उन्होंने मुझसे कहा, "आप एक बार मेरी चम्पारन सम्बन्धी पुस्तक देख लीजिए और परामर्श दीजिए," तो मुझे आश्चर्य हुआ था। मैंने कहा, "भला आप जैसे महान् सिद्धहस्त लेखक की रचना के बारे में मैं क्या सलाह दे सकूँगा!"

'विशाल भारत' का बिहार में काफी प्रचार था। शायद बाबू जी उसके नियमित पाठक भी थे। स्व० देवव्रत शास्त्री जी ने उनका एक विस्तृत लेख भी 'विशाल भारत' को भेजा था।

स्व० बाबू जी से निकटतर सम्बन्ध तब स्थापित हुआ, जब वह राष्ट्रपति बने और मैं राज्य सभा का सदस्य बनकर दिल्ली पहुँचा। दिल्ली निवास के बारह वर्षों में अनेक बार उन्होंने मुझे अपनी कृपा का पात्र बनाया। उस समय की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है, कुण्डेश्वर (टीकमगढ़) के निकट अस्सी लाख की लागत से बना राजेन्द्र सागर। बात यह हुई थी कि मैं बाबू जी के सेक्रेटरी चक्रधर शरण जी के पास ठहरा हुआ था। श्रद्धेय महादेवी वर्मा भी उन्हीं की अतिथि थीं। एक दिन बाबू जी ने हम दोनों को भोजन के लिए बुलाया। एक गोल मेज़ पर हम चार आदमी बैठे—बाबू जी, चक्रधर शरण, महादेवी वर्मा और मैं। बीस मिनट में उन तीनों ने भोजन प्रायः समाप्त कर दिया। मैंने भी नाटकीय ढंग से हाथ खींच लिए। इस पर चक्रधर बाबू ने कहा, "चौबे जी, आप राशनिंग के ज़माने में इतना भोजन ख़राब कर रहे हैं।" उत्तर में मैंने कहा, "जब आप तीनों भोजन समाप्त कर चुके हैं तो मेरे खाते रहने से आप लोग समझेंगे कि बड़ा भोजन-भट्ट है।" इस पर बाबू जी ने मुस्कराते हुए कहा, "आप निस्संकोच भोजन कीजिये। जब तक आप भोजन करते रहेंगे हम आपका साथ देंगे।" राष्ट्रपति की आज्ञा और पेट की पुकार, दोनों का मैंने सम्मान किया और पन्द्रह मिनट निस्संकोच भोजन करता रहा। बाबू जी पुराने विचारों के थे और यह बात उन्हें असह्य थी कि कोई ब्राह्मण उनके यहाँ अतृप्त रह जाये।

भोजन करने के बाद मैं बाबू जी का पुस्तकालय देखने चला गया और डेढ़ घण्टे तक उसके पुराने काग़ज़-पत्र देखता रहा। अपना कुर्ता उल्टा टाँगकर किताबों के पन्ने पलटता रहा था कि चक्रधर शरण जी पधारे और कहने लगे कि आपने बाबू जी से समय माँगा था, सो वह आज ही देने को तैयार हैं। मैं तुरन्त उनके साथ हो लिया। जल्दी में मैंने उल्टा कुर्ता पहन लिया था। मैं बाबू जी की सेवा में उपस्थित हुआ। मैं उस समय बड़े धर्म-संकट में था क्योंकि मैंने बाबू जी से पूछने के लिए कुछ प्रश्न तैयार ही नहीं किये थे। मैं इस भ्रम में था कि बाबू जी पाँच-सात दिन में टाइम दे पावेंगे तब तक सवाल तैयार कर लूँगा। अकस्मात् मुझे एक बात सूझी कि बाबू जी को चौबे लोगों के क़िस्से सुना दूँ। मैंने तीन-चार क़िस्से एक के बाद एक करके सुनाये : "एक चौबे जी किसी यमराज के यहाँ भोजन करने गये और बेशुमार भोजन करने से उन्हें कुपच हो गयी। उनके एक शुभचिन्तक ने उनसे कहा कि चौबे जी, आप चूरन खा लें। चौबे जी बोले, 'अरे, चूरन को जगै होती तो एक लाड़ू ही न खाय लेतो।' एक चौबे जी खाट पर लेटे हुए थे और लेटे-लेटे ही अपनी पत्नी से बोले, 'अरे देखो तो धमाक की आवाज भई है।' पत्नी दीपक लेकर इधर आयी तो चौबे जी बोले, 'अरे जे तौ मैई गिरि परयों।' चौबे जी इतने मोटे-ताज़े थे कि उन्हें अपने खाट पर से गिरने की अनुभूति भी नहीं हुई।" बाबू जी इन किस्सों को सुनकर ख़ूब हँसे, यहाँ तक कि उनको खाँसी आ गयी। इस पर मुझे कुछ चिन्ता हुई। शान्त होने पर मैंने सोचा कि बाबू जी के हर्ष-उल्लास का कुछ उपयोग कर लेना चाहिए। तुरन्त ही मैंने कहा, "बाबू जी हम लोगों को पानी के बिना बड़ा कष्ट है।" बाबू जी ने पूछा, "तो क्या किया जाय?" मैंने कहा, "हमारे कुण्डेश्वर निवास स्थान के आस-पास कहीं राजेन्द्र सागर बनवा दिया जाय।" बाबू जी ने कहा, "यह तो बड़ा अनुचित होगा कि मैं अपना नाम उसके साथ भेज दूँ।" इस पर मैंने कहा, "आप तो केवल सागर के लिए लिख दीजिए, नामकरण संस्कार तो हम लोग करेंगे।" बाबू जी सहमत हो गये। और उन्होंने दूसरे दिन ही विन्ध्य प्रदेश सरकार को इस विषय का पत्र लिखवा भी दिया। मैं राष्ट्रपति से निवेदन करके चला आया। रास्ते में चक्रधर बाबू ने कहा, "आप भी अजीब आदमी हैं। उल्टा कुर्ता पहनकर राष्ट्रपति के पास पहुँच गये।" तब मुझे अपनी मूर्खता का पता चला। मैंने चक्रधर बाबू से कहा, "तब क्या राष्ट्रपति से क्षमा याचना कर लूँ?" इस पर वह मुस्कराकर बोले, "चिन्ता की कोई बात नहीं है। यही भूल बाबू जी भी कभी-कभी कर बैठते हैं।"

कुछ दिनों बाद विन्ध्य प्रदेश सरकार ने राष्ट्रपति जी के आदेशानुसार एक कुशल इंजीनियर पार्टी रीवाँ से कुण्डेश्वर (टीकमगढ़) भेजी। इंजीनियर साहब ने वहाँ पहुँचकर मुझसे कहा, "वह स्थान बतलाइये जहाँ सागर बनवाना चाहते हैं।" मुझे इसका कुछ पता न था। हाँ, इतना अवश्य सुन रखा था कि छोटी-सी पहाड़ी के कोने से एक नाला निकलता है। मैं इंजीनियर साहब की पार्टी को वहाँ ले गया। वह उसे देखकर बोले, "आपको इस बात का कुछ पता भी नहीं है कि बाँध कैसे बाँधे जाते हैं। यहाँ बाँध बनाने से पचासों गाँव डूब जायेंगे और करोड़ों रुपये ख़र्च हो जायेंगे।" इस पर मैंने निवेदन किया कि "यहाँ बाँध न बन सके तो हमारे ज़िले में कहीं अन्यत्र बनाइये। राष्ट्रपति की आज्ञा का पालन होना ही चाहिए।" हमारे सौभाग्य से कुण्डेश्वर से केवल चार मील दूर एक उपयुक्त स्थान मिल गया जहाँ पहाड़ी के बीच नगदा नाला बहता था और वही स्थान चुन लिया गया। दो-तीन वर्ष के भीतर ही अस्सी लाख की लागत से वहाँ राजेन्द्र सागर लहराने लगा जिससे साढ़े सात हज़ार एकड़ भूमि की सिंचाई होती है और वह जनपद धन-धान्य

सम्पन्न हो गया है। जहाँ प्रति एकड़ पाँच मन गेहूँ होता था अब पचास मन प्रति एकड़ होता है और अब गेहूँ की उपज में टीकमगढ़ का स्थान मध्य प्रदेश भर में दूसरा और खादकी खपत में तो उसका स्थान सर्वोच्च ही है। कुण्डेश्वर में अब चार-चार ट्रेक्टर दीख पड़ते हैं और मैक्सिको का गेहूँ वहाँ की भूमि को माफ़िक़ आ गया है। इस प्रकार राजेन्द्र बाबू की कृपा से हज़ारों व्यक्तियों की समस्या हल हो गयी।

मैंने बहुत-से आदमियों को राजेन्द्र बाबू से मिलाया था। उनमें श्रद्धेय पराड़कर जी, पहलवान बलदेव गुरु, मारीशस के एक भारतीय तथा अन्य कई व्यक्ति थे।

बाबू जी की विनम्रता का क्या कहना! जब बन्धुवर हजारीप्रसाद द्विवेदी के साथ मैं उनकी सेवा में उपस्थित हुआ तो बाबू जी ने उठकर हम दोनों का स्वागत किया। इस पर द्विवेदी जी ने कहा, "बाबू जी हम लोगों को क्यों काँटों में घसीटते हैं? आप तो हमारे पूज्य हैं।" एक बार जब मैं राष्ट्रपति से मिलने गया तो वहाँ एक लम्बी मेज पर बहुत-से ग्रन्थ रखे हुए थे। बाबू जी ने पूछा, "आप यह जानते हैं कि ये ग्रन्थ किसके हैं?" मैंने निवेदन किया कि "नहीं।" इस पर वह बोले, "ये सब ग्रन्थ सातवलेकर जी के लिखे हुए हैं। वह हिन्दी, गुजराती, मराठी, तीनों भाषाओं में लिखते हैं और संस्कृत के तो महान् विद्वान् हैं ही। हम हिन्दी वालों में कौन उनका मुक़ाबला कर सकता है!"

राष्ट्रपति के यहाँ विभिन्न मौसमों में भेंट स्वरूप फल आया करते थे। राष्ट्रपति उन्हें आठ-दस व्यक्तियों को बाँट दिया करते थे। उनमें एक नाम मेरा भी था। एक बार फल लेकर जब उनका आदमी आया तो उसके हाथ में नामों की सूची थी जिसमें मेरे सिवाय आठ-नौ व्यक्ति और थे।

एक बार अवधी के सुप्रसिद्ध कवि वंशीधर



डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी को मेक्सिम गोर्की का चित्र भेंट करते हुए लेखक (बायें)

शुक्ल मेरे यहाँ फीरोज़ाबाद पधारे। उन्होंने मुझसे कहा, "आप राष्ट्रपति को एक पत्र लिख दीजिये।" मैंने पूछा, "कैसा पत्र?" तब उन्होंने बतलाया, "हमारे एक रिश्तेदार ने दो क़तल कर दिये थे। उन्हें फाँसी का हुक्म हो गया है। सब जगह से उनकी सज़ा बहाल रही। अब राष्ट्रपति से दया की भीख माँगनी है।" मुझे कुछ आशा तो थी नहीं फिर भी पत्र लिख दिया और चि० रामगोपाल के हाथ तुरन्त राष्ट्रपति जी की सेवा में भेज दिया। राष्ट्रपति उन दिनों अस्वस्थ थे फिर भी उनकी निजी सचिव श्रीमती ज्ञानवती दरबार ने मेरा वह पत्र उन्हें दे दिया। राजेन्द्र बाबू ने उसे पढ़ा और मुक़दमे के सारे काग़ज़ात मँगाने का ऑर्डर दे दिया। चूँकि राष्ट्रपति महोदय स्वयं बहुत अच्छे वकील रह चुके थे, उन्हें उन काग़ज़ातों में अपराधी के दण्ड को कम करने की गुंजाइश दीख पड़ी और तदनुसार फाँसी के बजाय दस वर्ष के कठिन कारावास का हुक्म दे दिया गया। यह

हम सब लोगों के लिए बड़े आश्चर्य की बात थी।

बाबू जी इतने विनम्र थे कि अपने पत्रों में मुझे श्रद्धेय लिख दिया करते थे। इस पर मैंने उनकी सेवा में चिट्ठी भेजी : "मैं तो आपकी चरण-रज लेने का अधिकारी भी नहीं हूँ तब आप इस शब्द का प्रयोग मेरे लिए क्यों करते है ?"

एक बार राष्ट्रपति महोदय अपने भवन से घोड़ा-गाड़ी में बैठकर नार्थ एवेन्यू की सड़क पर जा रहे थे। मैं भी उसी सड़क पर चला जा रहा था पर मेरा ध्यान कहीं अन्यत्र ही था। थोड़ी देर में गाड़ी मेरे निकट से गुज़री और आगे बढ़ी। तत्पश्चात् एक सज्जन ने, जो मेरे साथ ही चल रहे थे, मुझसे कहा, "राष्ट्रपति ने आपको पहचानकर स्वयं हो प्रणाम किया था पर आपने उधर देखा ही नहीं।" इस बात से मुझे खेद भी हुआ।

मैं छः वर्ष तक राज्य-सभा का सदस्य रह चुका था। कुछ दिनों बाद राजेन्द्र बाबू से मिलने गया। उन्होंने पूछा, "आप राज्य सभा के सदस्य कब तक हैं ? आगे के लिए मध्यप्रदेश के मुख्य मंत्री को लिख सकता हूँ।" उन्होंने लिख भी दिया था। उन्होंने काटजू साहब को लिखा था, "इनसे मुझे हिन्दी के काम में मदद मिलती है। इनका आना ज़रूरी है।" तत्पश्चात् श्रद्धेय टण्डन जी ने भी दो पत्र लिख दिये थे। परिणामस्वरूप दूसरी बार मैं छः वर्ष के लिए राज्य सभा का सदस्य बन गया था।

राजेन्द्र बाबू के मेरे ऊपर और भी अनेक उपकार हैं, जिन्हें मैं भुला नहीं सकता।

13

श्रद्धेय पुरुषोत्तमदास टण्डन

पूज्य टण्डन जी के प्रथम दर्शन मुझे सन् 1917 के अन्त में प्रयाग में हुए थे। सन् 1918 में इन्दौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का आठवाँ अधिवेशन होने जा रहा था और मैं उसके साहित्य विभाग का मंत्री था। उन दिनों सम्पर्क स्थापित करने के लिए मैंने कई स्थानों की यात्रा की थी। जब प्रयाग में मैं श्रद्धेय टण्डन जी के दर्शनार्थ गया, वह खपरैल से छायी हुई एक कोठरी में बैठे थे। उस समय सम्मेलन का यही रूप था। भारतवर्ष में राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए काम करने वाली त्रिमूर्ति में टण्डन जी का भी नाम आता है। उनसे घनिष्ठ परिचय इन्दौर में ही हुआ। श्रद्धेय टण्डन जी ने ही, मेरे द्वारा सम्पादित 'राष्ट्रभाषा' नामक पुस्तक छपवायी थी। इन्दौर सम्मेलन के अवसर पर एक गश्ती चिट्ठी महात्मा जी ने, जो कि उस सम्मेलन के सभापति थे, देश के सुप्रसिद्ध नेताओं, विद्वानों तथा शिक्षाविदों को भिजवाई थी। उसमें दो प्रश्न थे : (1) भारतीय विद्यार्थियों को शिक्षा किस भाषा में दी जानी चाहिए? (2) कौन-सी भाषा राष्ट्रभाषा होनी चाहिए?

द्वितीय प्रश्न के जो उत्तर आए थे उनका संकलन, सम्पादन तथा अनुवाद मेरे द्वारा ही हुआ था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि बन्धुवर वियोगी हरि जी ने उसके प्रूफ़ संशोधन इत्यादि में भरपूर सहयोग दिया था।

टण्डन जी की कृपा मुझ पर जीवन-पर्यन्त रही। मेरी प्रार्थना पर उन्होंने कई कार्य किये। सम्मेलन में सत्य नारायण कुटीर उन्हीं की कृपा से बन सकी। जब मैंने उसके लिए प्रस्ताव किया था कि सत्य नारायण कुटीर सम्मेलन में स्थापित की जाय तो टण्डन जी ने लिख भेजा : "कुछ पैसा आप भेजिए, शेष का प्रबन्ध मैं कर दूँगा।" तदनुसार मैंने 1046 रुपये भेज दिये थे। पूज्य टण्डन जी ने तीन हज़ार रुपये सम्मेलन से ख़र्च कर कुल चार हज़ार रुपये में एक कमरा बनवा दिया था। अब तो सत्य नारायण कुटीर तीन-तल्ला भवन है और प्रयाग जाने वाले साहित्यिक यात्री सत्यनारायण कुटीर का ही आतिथ्य ग्रहण करते हैं।

साहित्य सम्मेलन के दिल्ली अधिवेशन में बोलियों के आधार पर मण्डल क़ायम करने का जो सुझाव मैंने भेजा था उसे प्रस्ताव के रूप में रखवाकर टण्डन जी ने पास करा दिया था, यद्यपि मैं सम्मेलन में शामिल नहीं हो सका था। यही उनकी महती कृपा थी।

सन् 1952 में जब बिना मेरे किसी प्रयत्न के मेरा नाम राज्य सभा की सदस्यता के लिए कांग्रेस



राष्ट्रभाषा हिन्दी के उन्नायक : राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

चुनाव बोर्ड के सामने पहुँचा तो टण्डन जी ने उसका ज़ोरदार तथा हार्दिक समर्थन किया था। स्वयं उन्होंने मुझसे मज़ाक में कहा था, "जब तुम्हारा नाम सामने आया तो मैंने तुरन्त उसकी सिफ़ारिश की और स्वामी केशवानन्द के नाम की भी। क्योंकि वह दाढ़ी रखते हैं, इसलिए उनका समर्थन तो मुझे करना ही था।"

एक बार भावुकतावश मैंने यह प्रस्ताव उनके सम्मुख रख दिया कि यदि मुझे आपके पास वाली कोठरी में ही स्थान मिल जाये तो नार्थ एवेन्यू छोड़कर मैं टेलीग्राफ़ लेन में आ सकता हूँ। मेरे इस प्रस्ताव को उन्होंने सहर्ष मंजूर कर लिया था पर पुनर्विचार करने पर मैंने श्रद्धेय टण्डन जी के निकट रहना उचित नहीं समझा। मैंने सोचा, श्रद्धेय टण्डन जी के पास आने वाले बीसियों व्यक्ति मेरा भी टाइम ख़राब करेंगे और मेरे पास पहुँचने वाले उनका भी। टण्डन जी को मेरा सुझाव याद रह गया था। उन्होंने पूछा, "आये क्यों नहीं?" मैंने बड़ी विनम्रतापूर्वक अपना दृष्टिकोण उनके सामने रख दिया था।

सन् 1952 से 1958 तक मैं राज्य सभा का सदस्य रहा। फिर दूसरी बार मेरे चुने जाने की कोई सम्भावना नहीं थी। श्रद्धेय टण्डन जी की कृपा से मैं दूसरी बार चुना जा सका। उन्होंने फ़ोन करके मुझे अपने निवास-स्थान पर बुलाया और पूछा, "राज्य सभा में दूसरी बार आने के लिए क्या प्रयत्न कर रहे हो?" मैंने निवेदन किया, "इस बार चुने जाने की कोई सम्भावना नहीं है। क्योंकि बुन्देलखण्ड के हम चार व्यक्ति हैं जब कि भोपाल से एक भी नहीं है।" श्रद्धेय टण्डन जी ने मेरे तर्क की उपेक्षा करके अपने हाथ से एक पत्र प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के प्रधान को तथा दूसरा मध्यप्रदेश के मुख्य मंत्री श्री कैलाशनाथ काटजू को लिख दिया। तब बिना किसी बाधा के मैं दूसरी बार भी राज्य सभा का सदस्य चुन लिया गया।

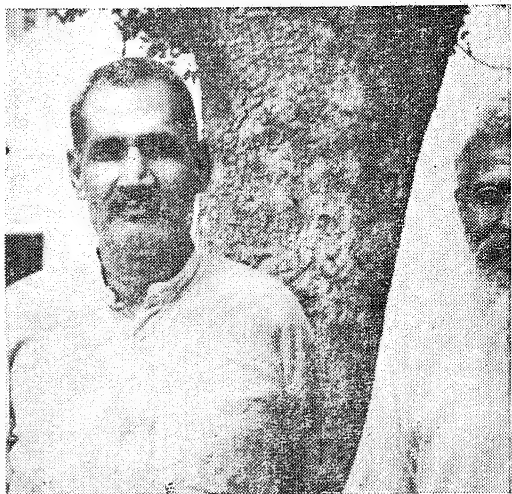
श्रद्धेय टण्डन जी के कई पत्र मेरे पास सुरक्षित थे। भाट पार रानी (देवरिया) में प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन होने वाला था। उसका सभापति बनने का आदेश उन्होंने मुझे दिया था। उन्होंने काशीनाथ नामक एक सज्जन को प्रयाग से मेरे पास भेजा था और पत्र में लिखा था: "यदि मेरा स्वास्थ्य ठीक होता तो मैं स्वयं दिल्ली पहुँचकर आपसे अनु-

रोध करता कि आप प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन के सभापति हो जायें।" मुझे उनकी आज्ञा शिरोधार्य करनी पड़ी। भाट पार रानी जाते समय प्रयाग में उतरकर मैंने उनके दर्शन किये और आशीर्वाद प्राप्त किया। एक बार टण्डन जी ने मुझे अपने पत्र में लिखा था: "मुझे पता है कि आप कुकर का बना खाना खाते हैं। मेरे पास कुकर है। आप मेरे पास ही ठहरिये।"

एक बार बहिन शकुन्तला श्रीवास्तव ने मेरा जन्म दिवस अपने निवास-स्थान पर ही मनाया था। वह उन दिनों 2-टेलीग्राफ़ लेन पर, टण्डन जी के निकट ही रहती थीं। टण्डन जी उस दिन चाय-पार्टी में मेरे साथ ही शामिल हुए जो मेरे लिए बड़े गौरव की बात थी। भेंट स्वरूप बिजली का टेबिल लैम्प भी उन्होंने मुझे दिया। उसके पूर्व उन्होंने कई आदमियों से यह पूछा था कि फीरोज़ाबाद में बिजली का ए० सी० है या डी० सी०। बिजली के अनुसार ही उन्होंने टेबिल लैम्प की व्यवस्था भी की थी।

एक बार टण्डन जी ने मुझे बुलाकर कहा, "मैंने सुना है कि आप राज्य सभा में उपस्थित नहीं होते और ऊपर लाइब्रेरी में पुस्तकें पढ़ा करते हैं? आपको वहाँ पहुँचकर हिन्दी का समर्थन करना ही चाहिए।" बात दरअसल यह थी कि मैं प्रातःकाल पाँच-छः घंटे अपने घर पर ही शहीदों का काम किया करता था। तत्पश्चात् स्नान, भोजन इत्यादि से निवृत्त होकर विश्राम। शाम को चार बजे टहलते हुए पार्लियामेंट चला जाया करता था। हमारी कांग्रेस पार्टी का राज्य सभा में भारी बहुमत था, इसलिए मेरी ग़ैरहाज़िरी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। हाँ, जब दो-तिहाई बहुमत प्राप्त करने की आवश्यकता पार्टी को आ पड़ती तब फ़ोन करके पार्टी वाले मुझे बुला लिया करते थे।

टण्डन जी बड़े सहृदय और विनम्र व्यक्ति थे। जब अध्यापक रामरतन जी आगरे में बहुत बीमार



स्वामी केशवानन्द जी, राज्य सभा की सदस्यता के लिए टण्डन जी ने जिनके नाम का समर्थन किया था, के साथ लेखक (बायें)

थे तब वह प्रयाग से आकर उनसे मिले थे। जब भी वह आगरा जाते थे, भाई हरिशंकर जी के निवास स्थान पर उनसे मिलते थे। एक बार मैंने टण्डन जी से कहा, "भाई श्रीराम जी पधारे थे पर आपके दर्शनार्थ नहीं आ सके क्योंकि आपके यहाँ आने में उन्हें सीढ़ियां चढ़नी पड़तीं।" इस पर टण्डन जी ने कहा, "आपने मुझे यह समाचार क्यों नहीं दिया? मैं आपके घर जाकर उनसे मिल लेता।"

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के विवाद के कारण टण्डन जी बड़े दुःखित थे। उन दिनों मैंने उन्हें लिखा था: "तब आप दूसरा सम्मेलन क्यों नहीं क़ायम कर लेते?" इसके उत्तर में उन्होंने कहा था: "यदि दिल्ली में कोई सज्जन तैयार हो तो वह मुझसे मिल ले। आर्थिक प्रबन्ध मैं कर सकता हूँ।"

बन्धुवर गोपालप्रसाद जी व्यास टण्डन जी के अनन्य भक्त रहे हैं। वह दिल्ली में पुरुषोत्तम हिन्दी भवन बनाने के लिए प्रयत्नशील भी हैं। मेरा पूर्ण



स्व० पुरुषोत्तमदास टण्डन (मध्य में) के साथ लेखक (दायें)

विश्वास है कि भारत सरकार द्वारा उन्हें भूमि-खण्ड प्राप्त हो जायेगा। श्रद्धेय टण्डन जी को एक बहुत बढ़िया अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा चुका है और अभी हाल में ही उनके पुत्र-पुत्र-वधू ने उनकी जीवनी भी प्रकाशित की है। श्रद्धेय टण्डन जी राष्ट्रभाषा हिन्दी के उन्नायकों में सर्वोच्च थे। उनका पर्चा-पर्चा सुरक्षित रहना ही चाहिए।

राष्ट्रीय अभिलेखागार में उनके बहुत-से काग़ज़-पत्र जमा हैं, जिनमें सैकड़ों पत्र भी हैं। शोधकर्ता उस सामग्री को देखकर उसका समुचित उपयोग कर सकते हैं।

लोक-संग्रह की भावना में टण्डन जी महात्मा जी की तरह ही अत्यंत कुशल थे। छोटे-छोटे कार्यकर्ता के व्यक्तित्व का वह सम्मान करते थे, पर जब सिद्धान्त का प्रश्न सामने आता, तो वह बड़ी दृढ़तापूर्वक बड़े से बड़े व्यक्ति का मुक़ाबला करने में भी संकोच नहीं किया करते थे।

टण्डन जी उर्दू के विशेषज्ञ थे और वह साम्प्रदायिकता से कोसों दूर थे।

"मेरे लिए हिन्दी का प्रश्न स्वराज्य का प्रश्न है"—यह उनका मूलमन्त्र था।

जब हिन्दी भारत तथा भारत से बाहर अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर यथोचित स्थान प्राप्त करेगी तो उसका श्रेय मुख्यतः त्रिमूर्ति—महर्षि दयानन्द, महात्मा गांधी तथा राजर्षि टण्डन को होगा।

14

बैरिस्टर मुकन्दीलाल

गढ़वाल चित्रकला के मर्मज्ञ श्री मुकन्दीलाल बैरिस्टर से मेरा परिचय आज से 55 वर्ष पहले हुआ। अक्तूबर 1927 में जब मैं 'विशाल भारत' को आरम्भ करने के लिए कलकत्ता पहुँचा तो संचालक श्री रामानन्द चटर्जी ने मुझे आदेश दिया कि मैं श्री मुकन्दीलाल जी से सम्पर्क स्थापित कर उनसे लेख मँगवाऊँ। मैंने ऐसा ही किया और श्री मुकन्दीलाल जी ने मोलाराम और गढ़वाल चित्रकला पर एक सचित्र लेख भेजा।

ढाई साल तक कोटद्वार में हफ़्ते में दो-तीन बार हम मिलते रहे थे। 94 वर्षीय मुकन्दीलाल जी से मिलने पर कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कविता 'सामान्य लोक' की याद आ गई, जिसका भावार्थ है : "यदि दो सौ वर्ष पहले का कोई किसान हाथ में लाठी लिये और कन्धे पर गठरी रखे दीख पड़ जाय तो जनता उसे घेर लेगी और उससे अनेक प्रश्न पूछना शुरू कर देगी—उस समय जनता का रहन-सहन कैसा था, पशुओं की क्या हालत थी, खेती कैसी थी इत्यादि।" फ़र्क़ इतना ही है कि मुकन्दीलाल जी कोई सामान्य व्यक्ति नहीं हैं।

ज़रा कल्पना तो कीजिए, वह लोकमान्य तिलक से मिलने सन् 1906 में चितरंजन बाबू के घर पर गये थे। वह इलाहाबाद से कांग्रेस के वॉलण्टियर बनकर गये थे। सन् 1917 में जब लोकमान्य तिलक सर वेलेण्टाइन शिरोल के ख़िलाफ़ मानहानि का मुकदमा लड़ने विलायत गये तब मुकन्दीलाल ने उन्हें अपने फ्लैट पर लन्दन में चाय पर बुलाया था। जिस रात को मुकन्दीलाल महर्षि अरविन्द घोष से 'वन्दे मातरम्' आफ़िस में मिले थे उसके दूसरे दिन अरविन्द लापता हो गये। बाद में मालूम हुआ कि वह पांडिचेरी पहुँच गये। सन् 1908 में मुकन्दीलाल रोज़ाना सुबह लाला हरदयाल से लाहौर में मिलते थे।

जब वह इलाहाबाद में पढ़ते थे तो हर रविवार को महामना मालवीय जी के दर्शन करने उनके निवास-स्थान, भारती भवन जाया करते थे। मालवीय जी के आदेशानुसार वह 'अभ्युदय' के लिए लेख लिखा करते थे। सन् 1909 में जब श्रीमती रामेश्वरी नेहरू ने (स्त्री दर्पण) पत्रिका निकाली थी तो मुकन्दीलाल उनके सम्पादकीय लेखों का संशोधन किया करते थे। 'स्त्री दर्पण' के लिए उन्होंने महात्मा गांधी जी का विस्तृत जीवन-चरित लिखा था जो उस पत्र में दो वर्ष तक छपता रहा। हिन्दी में बापू की वह प्रथम जीवनी थी।

1913 सितम्बर में श्री मुन्कदीलाल ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में इतिहास के अध्ययन के लिए गये।

विलायत पहुँचने पर वह नैविनसन साहब के द्वारा प्रोफ़ेसर गिलबर्ट मरे से मिले जिन्होंने मुकन्दीलाल को क्राइस्ट चर्च कॉलेज में भर्ती किया। वह कर्नल बेजवुड, एम० पी० और कम्यूनिस्ट नेता हार्डी, 'नेशनल हेराल्ड' के सम्पादक लैन्सबरी, दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसल और बर्नार्ड शॉ इत्यादि से भी मिले। बर्नार्ड शॉ ने उनसे कहा, "मैं तुम हिन्दुस्तानियों को हिकारत की नज़र से देखता हूँ क्योंकि तुम पर एक मुट्ठी-भर अंग्रेज़ राज करते हैं।"

उन्होंने ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय से हिस्ट्री ऑनर्स से बी० ए० की डिग्री हासिल की और लन्दन से ग्रेज़इन के द्वारा बैरिस्टरी की।

लन्दन में उनकी कम्युनिस्ट नेता सकलातवाला से घनिष्ठ मित्रता हो गई। भारत के जो नेता उन दिनों विलायत में भारत की ओर से आज़ादी के समर्थन में व्याख्यान देने जाते थे उनसे भी मुकन्दीलाल मिलते रहते थे। लाला लाजपतराय और दानवीर शिवप्रसाद गुप्त से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। एक बार वह शिवप्रसाद गुप्त के साथ लन्दन में एक ही कमरे में सोये थे। शिवप्रसाद जी रात-भर खर्राटे भरते रहे जिसके कारण मुकन्दीलाल को नींद नहीं आयी।

ऑक्सफ़ोर्ड में श्री मुकन्दीलाल की हैराल्ड लास्की से घनिष्ठ मित्रता हो गई थी। वह मृत्यु पर्यन्त इंग्लैंड और अमरीका से हर साल दो पत्र उन्हें लिखते रहते थे। लास्की अपने पत्रों में भारतवर्ष की राजनैतिक स्थिति के बाबत पूछा करते थे।

जब मद्रास के 'हिन्दू' दैनिक पत्र के मालिक और सम्पादक कस्तूरी रंग अय्यर विलायत में मुकन्दीलाल से मिले तो उन्होंने मुकन्दीलाल को 'हिन्दू' के लिए लन्दन लेटर लिखने को कहा। उन्होंने उनके आदेश का पालन किया।

हमने ऊपर सापुड़ जी सकलातवाला एम० पी० का ज़िक्र किया है। इंग्लैंड से स्वदेश लौटने में यह मैत्री मुकन्दीलाल जी को महँगी पड़ी। उन पर ख़ुफ़िया पुलिस की कुदृष्टि पड़ गई। विलायत से सन् 1919 में लौटने पर उन्हें ग्यारह दिन तक बम्बई पुलिस की निगरानी में रखा गया। वहाँ से उनको पुलिस के दो सशस्त्र सिपाहियों की हिरासत में इलाहाबाद भेजा गया। वहाँ वह जवाहरलाल जी के सम्पर्क में आये। दस दिन बाद पुलिस की निगरानी से छुटकारा हुआ। श्री सैयद हुसैन, जो मुकन्दीलाल से भली-भाँति परिचित थे और तब मोतीलाल जी के दैनिक पत्र 'इण्डिपेन्डेंट' के सम्पादक थे, के आग्रह पर मुकन्दीलाल ने अंग्रेज़ी में एक लेखमाला, 'इण्डिया इन इंग्लैंड' कई अंकों में लिखी।

उनके जीवन का असली कार्य तो पचास वर्ष की गढ़वाल चित्रकला की खोज और उसकी चर्चा थी। फलस्वरूप भारत सरकार के प्रकाशन विभाग ने सन् 1969 में अंग्रेज़ी में उनकी पुस्तक 'गढ़वाल पेंटिंग' का प्रकाशन किया। भारत कला के इतिहास में गढ़वाल चित्रकला को एक विशेष स्थान प्राप्त होना आपके अनुसंधान और अध्ययन का ही परिणाम है। श्री मुकन्दीलाल जी की रुचि भिन्न-भिन्न विषयों में रही है—पशु-पालन में, घोड़े और कुत्ते तथा पक्षियों में। कबूतरों के वह बड़े शौक़ीन थे। कुत्ते तो वह सन् 1920 से पालते और नुमायशों में उनका प्रदर्शन करते रहे थे और कुत्तों की नुमाइशों के जज रहते थे। उन्होंने कम से कम तीस नस्लों के कुत्ते पाले थे। बाग़बानी में उनकी सबसे ज़्यादा दिलचस्पी गुलाब के पौधों के संग्रह में, बुगनबेलिया और कोटन में थी, जिनका अच्छा संग्रह आज भी उनके बाग़ में है।

मुकन्दीलाल जी को शिकार का भी शौक रहा था। उन्होंने पाँच शेर मारे थे, जिनमें एक पैदल ज़मीन से भी मारा था। तेईस बाघ मारे थे। आख़िरी बाघ, जिसको उन्होंने पहली रात को (सन् 1943) बन्दूक़ से घायल किया था, दूसरे दिन जब वह उसकी खोज में गये तो उसने उन पर हमला किया। तमाश-

बीन भाग गये। बाघ उनको दाँतों से काटता गया और वह उसको ज़मीन पर लेटे-लेटे बन्दूक़ की खाली नाल से मारते रहे। उसने उनके शरीर पर सोलह ज़ख़्म किये। उनको तीन मास दिल्ली में डॉ० नीलाम्बर जोशी के अस्पताल में रहना पड़ा। उनकी टाँग से आपरेशन करके सात हड्डी के टूटे टुकड़े निकाले गये। यह घटना 5 अक्तूबर, 1943 को टिहरी गढ़वाल रियासत में हुई जहाँ वह उस समय हाई कोर्ट के जज थे। वह 4 अक्तूबर, 1943 को अपना पुनर्जन्म मानते थे।

मुकन्दीलाल जी का जन्म सन् 1885 में चमोली, गढ़वाल में हुआ था। उनकी शिक्षा श्रीनगर (गढ़वाल), पौड़ी, अल्मोड़ा, इलाहाबाद, बनारस, कलकत्ता और ऑक्सफ़ोर्ड में हुई थी। विलायत से लौटकर उन्होंने इलाहाबाद हाईकोर्ट के अन्तर्गत कुमाऊँ और गढ़वाल में बैरिस्टरी की। वह सन् 1938 से 1944 तक टिहरी राज्य हाई कोर्ट के जज रहे। उसके बाद सोलह वर्ष वह टर्पेण्टाइन फ़ैक्ट्री, बरेली के मैनेजर भी रहे।

वह छात्रावस्था से ही राजनैतिक और राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेते रहे। सन् 1920 में उन्होंने गढ़वाल में कुली बेगार आन्दोलन में भाग लिया। सन् 1920-21 में मुकन्दीलाल को गढ़वाल में कांग्रेस स्थापित करने के लिए नियुक्त किया गया था। सन् 1923 से 1930 तक मुकन्दीलाल उत्तर प्रदेश कौंसिल में स्वराज्य पार्टी के मेम्बर रहे। सन् 1926 से 1930 तक कौंसिल के डिप्टी प्रेसीडेण्ट भी रहे। सन् 1962 से 1967 तक फिर वह यू० पी० एसेम्बली में कांग्रेस पार्टी के मेम्बर रहे।

गढ़वाल मंडल की स्थापना में उनका सर्वाधिक हाथ रहा था। गढ़वाल विश्वविद्यालय की स्थापना में भी उनका विशेष योगदान था।

वह 1904 से ही लेख लिखते रहे थे। बैरिस्टर मुकन्दीलाल जी ने 1910 में 'स्त्री दर्पण' में मोहनदास कर्मचन्द गांधी पर एक लेखमाला लिखी। सन् 1923 में उन्होंने 'तरुण कुमाऊँ' मासिक पत्रिका का सम्पादन किया। हिन्दुस्तानी पत्रिका में उन्होंने सन् 1932 से 39 तक प्रत्येक अंक के लिए मोलाराम और उनकी कविता पर एक निबन्धमाला लिखी।

उ० प्र० कला अकादमी ने उनका सचित्र 'रुक्मणी मंगल' सन् 1975 में प्रकाशित किया। वह अपने गुरु डा० आनन्दकुमार स्वामी की जीवनी छाप चुके थे। उनकी विख्यात पुस्तक 'गढ़वाल पेंटिंग' केन्द्रीय सरकार द्वारा हिन्दी में छापी जा चुकी थी। मुकन्दीलाल का ध्येय मोलाराम का जीवन-चरित, गढ़वाल का इतिहास और अंग्रेज़ी में अपने गुरु-चरित लिखने का था।

15

स्वर्गीय सी० वाई० चिन्तामणि

"हमारे प्रधान सम्पादक चिन्तामणि जी से नहीं मिलोगे ?" ये शब्द जब 'लीडर' के संयुक्त सम्पादक श्री कृष्णराम मेहता ने मुझसे कहे तो मैंने उत्तर में यही निवेदन किया, "मुझे तो श्रद्धेय चिन्तामणि जी से मिलने में संकोच होता है। उनका समय क़ीमती है, फिर मैं बात भी क्या करूँगा ? अभी रहने दीजिए।" पर मेहता जी न माने और मुझे साथ ले ही लिया। विश्वनाथ प्रसाद जी भी, जो 'लीडर' के सहायक सम्पादक थे, साथ में हो लिए। मेहता जी ने चिन्तामणि जी से परिचय कराते हुए मेरे हस्ताक्षरों की अत्युक्तिमय प्रशंसा कर दी। उन्होंने कहा, "ही राइट्स बेटर दैन नाइन्टी नाइन पर्सेण्ट ऑफ़ आवर कारस्पॉण्डेण्ट्स" यानी यह हमारे सम्वाददाताओं में 99 प्रतिशत से बेहतर लिखते हैं। तभी मैंने अपनी 'प्रवासी भारतवासी' नामक पुस्तक चिन्तामणि जी को भेंट कर दी। उसी समय भाई विश्वनाथ प्रसाद जी ने भी मेरी तारीफ़ की। चिन्तामणि जी ने कहा, "चतुर्वेदी जी, इस पुस्तक पर हम 'लीडर' में अग्रलेख छापेंगे।" आगे चलकर उन्होंने अग्रलेख प्रकाशित भी किया। यह मेरे लिए बड़े गौरव की बात थी। यह गौरव महाकवि चकबस्त की उर्दू की 'अवध-पंच' को भी प्राप्त हुआ था। महाकवि चकबस्त उर्दू के महान् कवि थे और लिबरल पार्टी के सदस्य भी।

'लीडर' में मैं सन् 1918 से ही लिखता आ रहा था। मेरा प्रथम लेख उस रेल दुर्घटना के विषय में था जो मक्खनपुर के पास घटी थी और जिसमें कई सौ व्यक्ति हताहत हुए थे। मैंने उस दुर्घटना का विवरण विस्तारपूर्वक लिखकर और स्व० देवीप्रसाद चतुर्वेदी से संशोधित कराकर 'लीडर' को भेज दिया था। 'लीडर' ने उस पर एक सम्पादकीय टिप्पणी भी छाप दी थी।

जब तक चिन्तामणि जी और कृष्णराम जी मेहता जीवित रहे, तब तक मैं 'लीडर' का नियमित लेखक रहा। 'लीडर' मुझे प्रति कालम के हिसाब मे पारिश्रमिक देता था और मेरे पाँच-छः कालम के लेख 'लीडर' में निरन्तर छपा करते थे।

साधारणतः पत्रकारों के जीवन में—और ख़ासतौर पर हमारे जैसे मामूली हिन्दी लेखकों के जीवन में—ऐसे संकटमय दिनों का आना स्वाभाविक ही है, जब सहानुभूति की अत्यन्त आवश्यकता होती है और जब एक पैसे का मूल्य एक रुपये से भी अधिक हो जाता है। इन पंक्तियों का लेखक उन दिनों की याद कदापि नहीं भूल सकता जब 'लीडर' और उसके सम्पादक श्री चिन्तामणि की कृपा से ढाई वर्ष तक अनेक प्राणियों का, जिनमें कई अब इस संसार में नहीं हैं, भरण-पोषण हुआ था। चिन्तामणि जी

स्वयं अधिक से अधिक कष्ट में होते हुए भी अपने तुच्छातितुच्छ सहयोगियों को नहीं भूलते थे।

कुछ वर्ष पहले की बात है। चिन्तामणि जी बहुत बीमार थे। दो बार पैर का आपरेशन कराना पड़ा था। अत्यन्त निर्बल हो गये थे। चलना-फिरना तो असम्भव था ही, लिखना-पढ़ना भी बिल्कुल बन्द था। जब उन्होंने मेरी एक गार्हस्थिक दुर्घटना और आर्थिक संकट का वृत्तान्त अपने सुपुत्र बालकृष्ण राव से सुना तो तुरन्त पत्र भिजवाया। श्री बालकृष्ण ने उन्हीं के शब्द मुझे लिख भेजे : "राइट टू पण्डित बनारसी दास दैट दि कॉलम्स ऑफ दि 'लीडर' आर ओपन टू हिम एज़ एवर एण्ड दैट एनी कंट्रीब्यूशन्स ही मे सेण्ड विल वैरी ग्लैडली बी पब्लिश्ड एण्ड आई शैल दस बी एबल टू डू माई बिट फॉर वन हूम···" इसके आगे जो शब्द चिन्तामणि जी ने लिखवाए थे, उनको यहाँ उद्धृत करने की धृष्टता मैं नहीं करूँगा। सिर्फ़ इतना ही कहूँगा कि 28 अप्रैल, 1930 के 'भारत' में श्रीयुत् वामन ने, जो राजनैतिक पुरुषों के स्केच लिखने में हिन्दी जगत् में अद्वितीय थे, चिन्तामणि जी की उदारता के बारे में जो कुछ लिखा था वह अक्षरशः सत्य था। वामन जी के शब्द ये हैं : "अपने छोटों को आगे बढ़ाने के लिए तथा प्रोत्साहित करने के लिए श्री चिन्तामणि जी जितने उत्सुक रहते हैं उतना मैंने किसी और दूसरे नेता को नहीं देखा।"

चिन्तामणि जी आन्ध्र प्रदेश के निवासी थे और तेलगू उनकी मातृभाषा थी, पर उन्होंने अपने बच्चों को हिन्दी की ही शिक्षा दिलवायी थी। आगे चलकर जब बालकृष्ण राव हिन्दी में कविता करने लगे तो चिन्तामणि जी ने एक पत्र मुझे अंग्रेज़ी में लिखा जिसका आशय यह था : "बालकृष्ण राव कुछ हिन्दी कविता लिखने लगा है और जानकारों का यह मत है कि वह ठीक लिखता है। यदि आप भी यह समझते हों तो 'विशाल भारत' में उसे स्थान देकर प्रोत्साहित कीजिए।" मैंने यही किया। बालकृष्ण राव की एक हिन्दी कविता के अंश यहाँ दिए जाते हैं :

मुझे ले चल वायु के वेग वहाँ,
जहाँ प्रीति बुरी कही जाती नहीं।
जहाँ प्रेमी की पागल से समता,
कवियों की कला दिखलाती नहीं।
खिलती हुई प्रेम-कली जहाँ स्नेह के,
मेंह बिना मुरझाती नहीं।
वहीं ले चल प्रेमी की आँखें जहाँ,
कल पाती सदा कलपाती नहीं।
सुमनावलि-धारा सुधा की जहाँ,
बरसाती सदा तरसाती नहीं।
कमनीय कलाधर कौमुदी में,
है सरोजिनी मंजु लजाती नहीं।
जहाँ सुन्दर ज्योति दिवाकर की,
कुमुदों के कलाप सुलाती नहीं।
जहाँ पंखड़ियों की सुकोमलता,
सुमनों की कड़ाई छिपाती नहीं।

चिन्तामणि जी ने छः रुपये मनीऑर्डर से भेजकर अपनी पत्नी को 'विशाल भारत' का ग्राहक बना दिया था। मैंने बहुत मना भी किया पर वह नहीं माने और छः रुपये प्रतिवर्ष भेजते ही रहे। स्व० बालकृष्ण राव की बहिन मोहिनी देवी राव भी हिन्दी की अच्छी लेखिका हैं। मेरे आग्रह पर उन्होंने अपने पूज्य पिता जी के संस्मरण भी लिख दिये थे। उन संस्मरणों में उन्होंने एक जगह लिखा है, "पिता जी से किसी ने कहा था कि विधानसभा में अपना भाषण देते हुए एक हिन्दी मुहावरे का प्रयोग करें, 'धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का' पर वह बहुत प्रयत्न करने पर भी इसे याद न रख सके।"

बहुत वर्षों से मैं इस बात के लिए प्रयत्नशील रहा हूँ कि चिन्तामणि जी तथा लीडर और उसके सहायक सम्पादकों के संस्मरण छपा दिये जायें। पर दुर्भाग्यवश ऐसा अभी तक नहीं हो सका। बालकृष्ण राव की सेवा में कम से कम बीस-पचीस पत्र तो इस

आशय के भेजे भी पर व्यस्तता व अस्वस्थता के कारण वह यह श्राद्ध कार्य न कर सके। श्रीमती मोहिनी देवी से मेरा आग्रह रहा है कि जैसे श्रीमती शान्ता देवी नाग ने अपने पूज्य पिता श्री रामानन्द बाबू का जीवन-चरित लिख दिया था, वैसे ही वह भी चिन्तामणि जी का जीवन-चरित लिख दें। श्रीमती उमाराव से भी मैंने यही निवेदन किया ।

चिन्तामणि जी उत्तर प्रदेश के निर्माता कहे जाते हैं, पर हमारे प्रदेश की जनता ने उनकी कीर्ति-रक्षा के लिए कुछ भी नहीं किया।

चिन्तामणि जी यद्यपि हिन्दी नहीं जानते थे तथापि हिन्दी लेखकों और कवियों की कीर्ति-रक्षा के कट्टर समर्थक थे। यदि भारतवर्ष के श्रेष्ठतम चार-पाँच पत्रकारों के नाम गिनाए जावें तो रामानन्द बाबू के बाद उन्हीं का नम्बर आयेगा। प्रयाग में दोनों पत्रकार पड़ौसी भी रहे थे। अपने एक भाषण में चिन्तामणि जी ने रामानन्द बाबू को 'एबलेस्ट, नोबलेस्ट एण्ड बेस्ट' पत्रकार कहा था। जब रामानन्द बाबू ने कलकत्ते में चिन्तामणि जी का वह भाषण पढ़ा तो मुझसे कहा, "आप तो चिन्तामणि जी को जानते हैं। कृपया उन्हें लिखिए कि मेरी अत्युक्तिमय प्रशंसा वह क्यों करते हैं?" बड़े बाबू का यह आदेश मैंने सुन लिया पर पत्र लिखने की मेरी हिम्मत नहीं हुई।

आवश्यकता इस बात की है, कि चिन्तामणि जी के सर्वोत्तम लेख और नोट्स संग्रह करके एक जिल्द में छपा दिये जायें और दूसरी जिल्द में उनके संस्मरण। यह बात भूलने की नहीं कि 'लीडर' के लिए घोर परिश्रम करते-करते चिन्तामणि जी क्षय रोग से ग्रसित हो गये थे और आयुर्वेदिक औषधियों से उन्होंने स्वास्थ्य लाभ किया था। 'लीडर' की भूमि और बिल्डिंग अब लाखों रुपयों की सम्पत्ति है जो बिड़ला परिवार के अधिकार में है। यदि बिड़ला जी उचित समझें तो 'लीडर' तथा चिन्तामणि की स्मृति रक्षा के लिए दस-पंद्रह हज़ार रुपये आसानी से ख़र्च कर सकते हैं। कृतज्ञता का यह तकाजा है कि यह श्राद्ध कार्य श्रद्धेय बिड़ला जी के द्वारा सम्पन्न हो।

16

मौलवी अब्दुल हक साहब

"मैं आपसे मिलने आगरे आना चाहता हूँ।" जब मौलवी साहब का यह ख़त मुझे मिला तो लौटती डाक से मैंने उन्हे लिख भेजा, "बराहे-मेहरबानी आप तकलीफ़ न करें। मैं ख़ुद दिल्ली आ रहा हूँ और तीन-चार दिन के भीतर दिल्ली के लिए रवाना हो जाऊँगा।" जब मैं दिल्ली स्टेशन पर पहुँचा तो बन्धुवर अख़्तर हुसैन रायपुरी दीख पड़े। मैंने उनसे मौलवी साहब के ख़त का ज़िक्र किया तो वह बोले, "वह तो ख़ुद ही आपको लेने के लिए आये हैं और गाड़ी के उस छोर पर खड़े हैं। मैंने उनसे मना भी किया था पर वह माने नहीं।" मौलवी साहब उस समय सत्तर वर्ष के थे। मैं उनकी उस उदारता को आज तक नहीं भूला।

मौलवी साहब के गुणों की चर्चा मैं भाई वंशीधर विद्यालंकार से अनेक बार सुन चुका था और उनके बारे में वंशीधर जी का एक लेख भी मैंने विशाल भारत में छापा था। पर उनके दर्शन सन् 1935 में ही हुए। वह डाक्टर अंसारी साहब के बँगले पर ठहरे हुए थे। वहीं मैं भी उनके पास ठहरा था।

दिल्ली में मैं हर रोज़ प्रातःकाल मौलवी साहब के साथ टहलने जाया करता था। ठण्ड के उस मौसम में भी मौलवी साहब स्नान करके टहलने जाते थे।

उस वक्त डॉ० अंसारी साहब ने उनका रक्तचाप (ब्लड प्रेशर) चैक किया था और वह पैंतीस बरस के जवान के बराबर निकला था। मौलवी साहब में रहस्य-रस की अच्छी प्रवृत्ति थी। टहलते वक्त सड़क पर झाड़ू लगाने वाला कोई मेहतर उन्हें सलाम करता तो वह मुड़कर मुझसे कहते: "बस, दिल्ली में मेरी इज़्ज़त करने वाला यही एक आदमी रह गया है।"

बहुत कम लोगों को इस बात का पता होगा कि हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े में मौलवी साहब बाल-बाल बच गये थे। वह हैदराबाद से आ ही रहे थे कि भोपाल स्टेशन पर उनके एक मित्र मि० श्वेव कुरैशी जो भोपाल स्टेट के मंत्री थे, ने ज़बरदस्ती उन्हें यह कहकर उतार लिया कि दिल्ली में दंगे हो रहे हैं और आपकी जान ख़तरे में पड़ जायेगी। हैदराबाद से जो तीन-चार मुस्लिम विद्यार्थी उस कम्पार्टमेण्ट में आ रहे थे, वे दिल्ली पहुँच भी नहीं पाये।

पाकिस्तान बनने के बाद यहाँ मौलवी साहब के साथ जो व्यवहार किया गया था, उससे उनके दिल को बड़ा सदमा पहुँचा था। अपने एक ख़त में उन्होंने मुझे लिखा था—

"रुख़सत ऐ हिन्दोस्ता, ऐ बोस्ताने बेखिज़ां
रह चुके तेरे बहुत दिन, हम विदेशी मेहमां।"

मौलवी साहब की यह शिकायत थी कि अफ़सरों से मिलने जाने पर उन्हें घण्टों बैठे रहना पड़ता था।

वह कहते थे कि "एक ज़माना था जब कमिश्नर लोग ख़ुद मुझसे मिलने आते थे और आज यह हालत है कि छोटे-से-छोटे अफ़सर के यहाँ मुझे घण्टों इन्तज़ार करना पड़ता है।"

जब डॉ० अन्सारी साहब की कोठी बिक रही थी, उन दिनों मैं मौलवी साहब के साथ ही वहाँ ठहरा हुआ था और मैंने श्रद्धेय बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी तथा श्री घनश्यामदास जी बिड़ला से मिलकर यह प्रार्थना की थी कि दाराशिकोह के वक्त की इस ऐतिहासिक कोठी को सुरक्षित कर लिया जाय, पर मेरा यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ। मौलवी साहब यह



बहन सत्यवती मलिक : जिन्हें मिलवाने के लिए मौलवी साहब को मैं उनके घर ले गया था

चाहते थे कि उस प्राचीन ऐतिहासिक कोठी को किसी सांस्कृतिक (कल्चरल) काम के लिए रिज़र्व कर देना चाहिए। जब उस कोठी के वृक्ष कटवाये जा रहे थे, मौलवी साहब बहुत दुखित थे। शायद उनमें से कुछ उनके द्वारा ही लगवाये गये थे। मौलवी साहब ने एक दरख़्त की ओर इशारा करते हुए कहा, "बेईमान इसको भी काट डालेंगे।" वह नीम का एक बहुत पुराना पेड़ था। वृक्षों का प्रेमी होने के कारण मौलवी साहब के हार्दिक दुःख का मैं अन्दाज़ लगा सका और तब मैं समझ सका कि मौलवी साहब ने उस कठोर शब्द का प्रयोग मजबूरन ही किया था।

उस्मानिया यूनिवर्सिटी के भूतपूर्व अध्यापक वंशीधर जी विद्यालंकार भी मेरी तरह ही मौलवी साहब के कृपापात्र रहे थे। जब कभी वह मौलवी साहब की मेहरबानियों का ज़िक्र करते थे तो उनकी आँखों में आँसू झलक आते थे। मौलवी साहब ने ही उन्हें, यह जानते हुए भी कि वह गुरुकुल के स्नातक हैं और आर्यसमाजी विचारों के हैं, उस्मानिया यूनिवर्सिटी में जगह दिलवाई थी। मौलवी साहब वंशीधर जी की सीधी-सादी ज़ुबान में लिखी हुई कविताओं के बहुत प्रशंसक थे और उनकी अनेक कविताएँ उन्होंने बार-बार सुनी थीं। ख़ुद मौलवी साहब बड़ी सीधी-सादी ज़ुबान लिखते थे और उनके कई उर्दू लेखों का हिन्दी अनुवाद मैंने 'विशाल-भारत' में छापा था।

जब पानीपत में हाली शताब्दी मनाई गयी थी, मौलवी साहब मुझे वहाँ ले गये थे। मैंने मौलवी साहब से बहुत कहा कि पानीपत की यात्रा मेरे लिए तीर्थ-यात्रा के समान है और तीर्थ-यात्रा में कोई भी हिन्दू दूसरे से किराया नहीं ले सकता, पर मौलवी साहब ने एक न सुनी और अपने पास से ही टिकट ख़रीदा। यही नहीं, पानीपत में उन्होंने मेरे लिए ख़ासतौर पर हिन्दू भोजन की व्यवस्था की,

और अपने साथ मुझे ले जाकर सर राँस मसूद तथा सर इकबाल, हफीज़ जालन्धरी और दूसरे ख़ास आदमियों से मिलवाया।

मौलवी साहब में धर्मान्धता का नामोनिशान न था। मैंने बड़े आश्चर्य के साथ देखा कि किसी मजहबी किताब के पढ़े जाते समय जब कि पानीपत में मीटिंग में उपस्थित मुसलिम जनता खड़ी हो गई थी, मौलवी साहब जहाँ के तहाँ बैठे रहे।

मौलवी साहब बड़े विनम्र थे। एक बार मैं उन्हें डा० वासुदेवशरण अग्रवाल से मिलाने के लिए उनके यहाँ ले गया था। अग्रवाल जी स्वयं ही मौलवी साहब के यहाँ जाना चाहते थे, पर मौलवी साहब न माने और ख़ुद ही उनके यहाँ गये। इसी प्रकार बहन सत्यवती मलिक के यहाँ भी वह मेरे साथ पधारे थे।

अबोहर हिन्दी साहित्य सम्मेलन से लौटकर मैं आया था तो उन्होंने मुझे एक दावत दी थी, जिसमें दिल्ली के ख़ास-ख़ास उर्दू के बीस-पचीस तथा हिन्दी के चार-पाँच लेखक तथा कवि शामिल हुए थे। श्रद्धेय दत्तात्रेय और बालकृष्ण कैफ़ी साहब के दर्शन मुझे उसी मीटिंग में हुए थे और अमन साहब से तभी मुलाकात हुई थी।

एक बार मौलवी साहब चन्दा माँगने के लिए किसी धनी-मानी नवाब के यहाँ गये। नवाब साहब ने कुछ तो मज़ाक में और कुछ ताना मारते हुए कहा, "मौलवी साहब, आप दूसरों से तो चन्दा माँगते हैं, पर यह तो बतलाइये कि अन्जुमन तरक्किये उर्दू के लिए ख़ुद आपने कितना पैसा दिया?" मौलवी साहब उसी वक्त उलटे पांव लौट आए और उसी दिन जो चालीस हज़ार रुपया उनके पास था उन्होंने अंजुमन के लिए दे दिया। देने का निश्चय तो उन्होंने पहले ही कर लिया था, लेकिन कुछ बरस बाद देना चाहते थे। नवाब साहब के ताने को वह सहन नहीं कर सके और उन्होंने अपनी ज़िन्दगी-भर की कमाई दान में दे डाली।



वासुदेव शरण अग्रवाल : जिनसे मिलने मौलवी साहब स्वयं उनके घर गये थे

मौलवी साहब उर्दू के अच्छे स्केच राइटर थे, बहुत बढ़िया आलोचक थे और संगठन शक्ति तो उनमें गज़ब की थी। मौलवी साहब में फ़िरकापरस्ती की बू तक न थी, और वह हिन्दू-मुसलमान का कोई भेद नहीं करते थे।

स्वाभिमान उनमें गज़ब का था। एक बार उन्होंने सर अकबर हैदरी साहब को चाय के लिए बुलाया। हैदरी साहब शायद तीस-चालीस मिनट लेट पहुँचे। दस-पंद्रह मिनट तो उन्होंने इन्तज़ार किया और फिर चाय का सारा सामान उठवा दिया। जब हैदरी साहब पहुँचे तो मौलवी साहब ने उनसे कहा, "आपको तो रियासत के बहुत से काम रहते हैं इसलिए आपके लिए लेट होना मामूली-सी बात है, पर मैं भी कुछ काम करता हूँ। आपका इन्तज़ार किया, फिर मैंने चाय

ख़तम कर दी। माफ़ कीजियेगा।" सर अकबर हैदरी साहब उनकी इज़्ज़त करते थे, इसलिए उन्होंने कुछ भी बुरा न माना।

मौलवी साहब हाली के बड़े भक्त थे और भाषा के मामले में हाली को अपना गुरु मानते थे। मौलवी साहब के कितने ही रेखाचित्रों का हिन्दी में अनुवाद हो चुका है। उनके द्वारा संपादित इंगलिश-उर्दू डिक्शनरी हिन्दी वालों के भी बड़े काम आती है और बन्धुवर हरिशंकर शर्मा का तो यहाँ तक कहना है कि वह इस विषय का सर्वोत्तम कोश है।

मालूम नहीं कि मौलवी साहब ने अपना कोई जीवन-चरित लिखा भी या नहीं। कितनी ही पुरानी बातें उन्हें याद थीं और बड़े प्रेम के साथ उन्हें सुनाते थे। उन्होंने सर सैयद अहमद के, अलीगढ़ में एंग्लो ओरियन्टल कॉलेज निर्माण के साथी राजा जयकिशन दास जी मुरादाबाद वाले को देखा था और सर रॉस मसूद के बारे में लिखते हुए उनका ज़िक्र भी किया था। मौलवी साहब पत्र-लेखक भी बहुत अच्छे थे। मेरे पास उनके कितने ही ख़त सुरक्षित हैं। पर हैं वे अंग्रेज़ी में। उनके कितने ही उर्दू पत्र स्व० सुहैल अजीमाबादी के पास मौजूद थे।

उर्दू लेखक मौलवी साहब की बड़ी इज़्ज़त करते थे और उन्हें बाबा-ए-उर्दू या उर्दू का पिता कहते थे। भारतवर्ष में इस समय भी ऐसे कितने ही व्यक्ति मौजूद हैं जो मौलवी साहब से उपकृत हैं यानी जिन पर मौलवी साहब के एहसान हैं। ऐसे व्यक्तियों में, मैं भी अपनी गणना करता हूँ।

एक घटना मुझे ख़ासतौर से याद आ रही है। जब डॉ० ताराचन्द्र इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के वाइस चान्सलर हुए तो मौलवी साहब उनको बधाई देने के लिए ही दिल्ली से इलाहाबाद गये और उनकी पीठ ठोंककर दूसरी ट्रेन से दिल्ली वापिस आ गये। उस समय मैं मौलवी साहब के पास ठहरा हुआ था। पं० सुन्दरलाल से भी उनके सम्बन्ध बहुत अच्छे थे।

मौलवी साहब में कोई त्रुटि नहीं थी, ऐसा मैं नहीं मानता। उनका उर्दू-प्रेम इतना ज़्यादा बढ़ा हुआ था कि उसकी वजह से कभी-कभी वह अपना सन्तुलन भी खो बैठते थे। एक बार महात्मा जी के बारे में लिखते हुए उन्होंने एक ऐसे शब्द का प्रयोग कर दिया था, जिससे हम हिन्दी वालों को बड़ा दुःख हुआ था। सुना है कि बंगला भाषा के बारे में उनका दृष्टिकोण ग़लत था। पं० सुन्दरलाल जी का कहना है कि वह बातचीत में कभी-कभी अपने विरोधियों के प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग कर देते थे, पर बहुत दिनों तक साथ रहने पर भी मुझे ऐसा अनुभव नहीं हुआ। सिर्फ़ एक बार को छोड़कर, जिसका मैंने ऊपर ज़िक्र किया है, जबकि उन्होंने दरख़्तों के कटने पर एक कटु शब्द का प्रयोग किया था, इसके अतिरिक्त मैंने उनके मुँह से कोई कड़ी बात कभी नहीं सुनी।

मौलवी साहब के साथ चाय पीने में अद्भुत आनन्द आता था। ख़ुद तो वह बहुत ही कम खाना खाते थे, वर्षों से वह दिन में सिर्फ़ एक बार ही भोजन कर रहे थे, लेकिन दूसरों को बार-बार आग्रह करके खिलाने में उनको मज़ा आता था। उनकी उस वक्त की बातचीत बड़ी शिक्षाप्रद होती थी। मौलवी साहब से कई बार मनोरंजक बातचीत हुई थी। इसलिए मैं उनका और भी कृपापात्र बन गया था। एक बार मौलवी साहब का फ़ोटो मैंने लिया, जिसमें उनके सिर का कुछ हिस्सा कट गया। मैंने मौलवी साहब से कहा था कि मैं आर्टिस्ट फ़ोटोग्राफर हूँ। जब उसका मतलब उन्होंने पूछा तो मैंने उनके कटे हुए सिर की बात कह दी, जिससे मौलवी साहब बहुत हँसे।

एक बार तो वह शाम की चाय के वक्त घण्टे-भर तक मेरा इन्तज़ार करते रहे और जब मैं लौटा तभी मेरे साथ चाय पी। मैंने माफी माँगी और मौलवी साहब ने मुझे क्षमा कर भी दिया।

मौलवी साहब बढ़िया से बढ़िया चाय मँगाते थे। उनके चले जाने से चाय पीने का मज़ा ही चला गया।

17

आचार्य गिडवानी

प्रिंसिपल गिडवानी गुजरात विद्यापीठ के प्रधानाचार्य थे। उन्होंने विलायत की ऑक्सफ़ोर्ड यूनीवर्सिटी में शिक्षा प्राप्त की थी और ऑक्सफ़ोर्ड की संस्कृति उनके जीवन का अंग ही बन गयी थी। उनका कहना था कि हैदराबाद (सिन्ध) की संस्कृति भी उससे मिलती-जुलती थी। बहुत दिनों तक गुजरात विद्यापीठ में मैंने उनके अधीन हिन्दी अध्यापक के रूप में काम किया था और कुछ दिनों उनकी धर्मपत्नी श्रद्धेया गंगाबहिन को हिन्दी पढ़ाई भी थी। जब वह गुजरात विद्यापीठ छोड़कर वृन्दावन के प्रेम महाविद्यालय में आचार्य बनकर पधारे थे, मैं वहाँ उनकी सेवा में उपस्थित हुआ था। उन दिनों आकस्मिक रूप से एक घटना ऐसी घटी जिसका मेरे जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। बात यह हुई कि मैं उनके साथ वृन्दावन से इक्के में बैठकर मथुरा जा रहा था। जब इक्का चल रहा था तो मैंने बातचीत के प्रसंग में उनसे कहा, "आप कोई संस्था स्थापित क्यों नहीं कर देते।" उन्होंने इस पर एमर्सन का एक वाक्य उद्धृत किया : 'इंस्टीट्यूट इज़ दि लेंग्थेंड शैडो ऑफ ए मैन।' यानी संस्था तो किसी मनुष्य की विस्तृत छाया के समान है। मैंने तब तक एमर्सन का नाम भी नहीं सुना था। मैं पूछ बैठा, "यह वाक्य किसका है?" उन्होंने कहा, "एमर्सन का।" इसके बाद बातचीत चलती रही और उन्होंने एमर्सन का एक दूसरा वाक्य भी उद्धृत किया। फिर भी मैंने वही सवाल दुहराया तो आचार्य गिडवानी जी ने कहा, "यह आश्चर्य की बात है कि आपने एमर्सन को नहीं पढ़ा। अब आप उनके निबन्धों का संग्रह पढ़िए।" मैंने उनकी आज्ञा का पालन किया और बारह आने में आगरे के एक पुस्तक विक्रेता से 'एस्सेज़ ऑफ एमर्सन' नामक पुस्तक ख़रीद ली और तब वह मेरा स्वाध्याय ग्रन्थ ही बन गयी। एमर्सन ने मेरे मस्तिष्क और हृदय को जकड़ लिया और पच्चीस वर्ष तक मैं नित्यप्रति प्रातःकाल के समय एमर्सन की रचनाओं का पाठ स्वाध्याय के तौर पर करता रहा। एमर्सन के साथी थोरो मेरे जीवन में उनके बाद आये।

तत्पश्चात वाल्ट व्हिटमैन का ग्रन्थ भी मैंने पढ़ा। यह कहा जाता है कि अमेरिका ने विश्व की संस्कृति को तीन रत्न प्रदान किये हैं—एमर्सन, थोरो और व्हिटमैन। महात्मा गांधी जी भी एमर्सन और थोरो को पढ़ा करते थे और 'सिविल डिस्ऑबिडिएन्स' शब्द तो उन्होंने थोरो से ही लिया था। 'सेल्फ रिलायेन्स' एमर्सन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निबन्ध था और आचार्य गिडवानी उसे छात्रों को पढ़ाया करते थे। वह दो बार फीरोज़ाबाद भी पधारे थे। स्थानीय

चुंगी में उनके स्वागत के अवसर पर उनका भाषण भी हुआ था। वह अंग्रेज़ी के बड़े अच्छा वक्ता थे। जब वह अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में बोले तो लाला लाजपतराय ने उनके भाषण को सर्वश्रेष्ठ बतलाया था। पं० जवाहरलाल नेहरू के साथ सत्याग्रह करते हुए वह नाभा जेल में भी रहे थे। जवाहरलाल तो कुछ पहले ही वहाँ से छूट गये थे, गिडवानी जी बाद में छूटे। जेल में गिडवानी जी का वज़न इक्कीस पौण्ड घट गया था। मुझे जब दिल्ली स्टेशन पर अकस्मात् उनके दर्शन हुए तो मैं उनकी दुर्बलता को देखकर चौंक गया था और भावाविभूत होकर मैंने उनके चरण-स्पर्श कर लिए थे।

जब कराची में गिडवानी जी पर मुकदमा चल रहा था, उन्होंने मेरे लिए एक लम्बा आत्मचरितात्मक पत्र भेजा था। वह महत्त्वपूर्ण पत्र राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित है। 'सिन्ध हैराल्ड' के 29 जून के अंक में सम्पादक ने लिखा था :

गिडवानी जी कराची में विदेशी वस्त्रों की दूकान पर पिकेटिंग कर रहे थे। कड़ी धूप में बहुत देर हो चुकी थी। उनकी धर्मपत्नी गंगाबहिन ने आकर कहा, "अब तुम घर जाओ। तुम्हें खड़े-खड़े बहुत देर हो चुकी है। वहाँ बच्चों की देखभाल करनी है। यहाँ अब मेरी बारी है। मैं पिकेटिंग करूँगी।"

गिडवानी जी ने कहा, "कोई बात नहीं, पर सुनो हम दोनों ही साथ-साथ क्यों न पिकेटिंग करें ?"

एक मित्र वहाँ खड़े हुए थे, बोले, "और बच्चों की देखभाल कौन करेगा ?"

उत्तर मिला, "भारत माता।"

गिडवानी जी के चरित्र की सबसे बड़ी ख़ूबी उनके मधुर वार्तालाप और मिलनसारी में दीख पड़ती थी। उनका आतिथ्य हृदयग्राही था। इसमें सन्देह नहीं कि अपनी बातचीत से वह सुसंस्कृत से सुसंस्कृत आदमी पर ज़बरदस्त असर डाल सकते थे। दलबन्दी के प्रति उनके हृदय में घृणा थी। विरोधियों के प्रति भी कटु वाक्यों का प्रयोग करना वह अनुचित समझते थे और अपने साथियों की कमज़ोरियों के प्रति उनके हृदय में सहानुभूति थी।

गिडवानी जी कष्टों में प्रसन्नचित्त रहना जानते थे। वृन्दावन में उनका स्वास्थ्य प्रायः अच्छा नहीं रहता था। वहाँ आसपास का वायुमण्डल संकीर्ण धार्मिक विचारों के साथ-साथ मलेरिया के कीटाणुओं से परिपूर्ण था। वह कई बार बीमार पड़े। जब उनके मित्रों ने कहा कि आप इस स्थान को छोड़कर चले जाइए, यहाँ आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता, तब उन्होंने यही जवाब दिया था, "लाइफ़स वर्क लाइज़ वेयर यू फाईण्ड यूअरसेल्फ एण्ड नाट वेयर यू विश टू बी।" अर्थात्, जहाँ परिस्थिति ने तुम्हें ला पटका है, वही तुम्हारा कर्तव्य क्षेत्र है, वहाँ नहीं जहाँ तुम जाना चाहते हो।

यह संस्मरण अधूरे ही रहेंगे यदि श्रद्धेय गंगा बहिन (उनकी धर्मपत्नी) का ज़िक्र न किया जाय। यह बात ध्यान देने योग्य है कि गिडवानी जी का विलायत में पढ़ने का ख़र्च गंगाबहिन के पिताजी ने ही किया था। गंगाबहिन बड़ी दबंग महिला थीं। पाकिस्तान बन जाने के बाद वह अकेली कराची गयी थीं और अपने स्व० पति द्वारा बनवाए हुए मकान का मूल्य उन्होंने माँगा था। गिडवानी जी 44-45 वर्ष की उम्र में ही चले बसे थे और सम्पूर्ण गृहस्थी का भार गंगाबहिन पर ही पड़ा था। बीमा कम्पनी का काम बड़े परिश्रमपूर्वक करते हुए उन्होंने बच्चों को पाला-पोसा, बड़ा किया और शिक्षित किया। उनके पुत्र अच्छे पदों पर काम कर रहे थे। आचार्य गिडवानी पहले दिल्ली के रामजस कॉलेज के प्रिंसीपल थे और बापू के आदेशानुसार वहाँ से त्यागपत्र देकर वह सत्याग्रह संग्राम में शामिल हो गये थे।

आचार्य गिडवानी जी विचारों की उच्च सतह पर थे। उनकी विचारधारा और वाग्धारा निर्मल निर्झर के कल-कल निनाद की याद दिलाती थी।

18

स्वर्गीय आचार्य क्षितिमोहन सेन

आचार्य क्षितिमोहन सेन के प्रथम दर्शन मुझे शान्ति-निकेतन में मई सन् 1918 में तब हुए थे, जब मैंने शान्ति-निकेतन की प्रथम यात्रा की थी। चूँकि आचार्य क्षितिमोहन सेन का जन्म काशी में हुआ था, जहाँ उनके पिताजी एक सुप्रसिद्ध वैद्य थे, अतः वह हिन्दी ख़ूब बोल लेते थे। हम दोनों की बातचीत भी हिन्दी में हुई। जब मुझे ज्ञात हुआ कि उन्होंने पिछले पच्चीस-तीस वर्ष हिन्दी के सन्त कवियों के विषय में अनुसन्धान करते और लिखते हुए बिताये हैं तो मैंने धृष्टतापूर्वक कहा, "अपनी सामग्री के कुछ अंश मुझे भी दीजिए ताकि मैं एक लेख लिख सकूँ।" आचार्य जी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया, "आप भी हमारे बंगाली लेखकों की नकल कर रहे हैं जो बिना परिश्रम किये दूसरों के द्वारा संग्रहीत सामग्री का उपयोग करके ही पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त करना चाहते हैं। आप तो हिन्दी भाषा-भाषी हैं, आपका कर्त्तव्य है कि आप सन्त कवियों पर कुछ खोज करके मेरी सहायता करें। आप उलटे मेरे द्वारा संग्रहीत सामग्री का उपयोग करना चाहते हैं। उनकी इस स्पष्टवादिता से मैं लज्जित हो गया। इसके दो वर्ष बाद जब मुझे सन् 1920-21 में शान्ति-निकेतन में रहने का अवसर मिला तब तो उनके और शास्त्री महाशय (विधुशेखर महाचार्य) के दर्शन मुझे प्रायः नित्य ही होते थे। मैंने सुना था कि उन्होंने दादू पर बंगला भाषा में एक पुस्तक लिखी थी जिसका मूल्य छः रुपये था। उनका कबीर का अध्ययन तो बहुत गहरा था ही। कवीन्द्र रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने कबीर की एक सौ रचनाओं का अंग्रेज़ी में जो अनुवाद किया था वह क्षिति बाबू के अनुवादों के आधार पर ही किया गया था।

अपनी शिक्षा समाप्त करने के बाद क्षिति बाबू को जम्मू-काश्मीर में अच्छी नौकरी मिल गयी थी। वहीं उन्हें कवीन्द्र का पत्र मिला कि आप शान्ति-निकेतन चले आइये। इस पत्र के उत्तर में उन्होंने लिखा था : "मैं तो केवल एक ही रवीन्द्र को जानता हूँ जो कवि हैं। क्या आप वही हैं ? यदि हाँ, तो आपके साथ काम करने में मैं अपना सौभाग्य समझूँगा।" गुरुदेव का स्वीकारात्मक उत्तर आने पर क्षितिमोहन बाबू ने लगी-लगाई नौकर छोड़ दी और अल्प वेतन पर शान्ति-निकेतन चले गये और अपने जीवन के अन्त तक वहीं बने रहे।

क्षिति बाबू में मनोविनोद तथा हास्य की अद्भुत प्रवृत्ति थी। हँसी मज़ाक के बीसियों क़िस्से उन्हें याद थे और अपनी बातचीत में वह उनका उपयोग भी किया करते थे। साहित्यिक वार्तालाप में व्यस्त रहने के कारण वह रात के समय बड़ी देर

में भोजन करने पहुँचते थे और उससे उसकी धर्मपत्नी नाराज़ होती थीं। एक दिन वह और भी देर से पहुँचे और स्वभावतः उनकी पत्नी बहुत क्रुद्ध हुईं। वह बोलीं, "अब खाना तो बिल्कुल ठण्डा हो गया है।" क्षितिमोहन ने थाली उठाई और उनके सिर पर रखने का प्रयत्न किया तो उनकी पत्नी ने आश्चर्य के साथ पूछा, "यह आप क्या कर रहे हैं?" क्षिति बाबू बोले, "चूँकि तुम्हारा माथा गर्म था, इसलिए उसके सम्पर्क से खाना भी गर्म हो जायेगा।" इस पर उनकी पत्नी को हँसी आ गयी।

पं० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी आचार्य को अपना गुरु मानते थे और उनके प्रति बड़ी श्रद्धा भी रखते थे। द्विवेदी जी ने क्षिति बाबू के साथ रहकर पूरा-पूरा लाभ भी उठाया था। जहाँ तक हम जानते हैं क्षितिमोहन की केवल एक पुस्तक हिन्दी में छपी थी—'भारत में जातिभेद'। अंग्रेज़ी में उनका ग्रन्थ मध्यकालीन सन्तों पर छपा था जिसकी भूमिका दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ ने लिखी थी।

क्षिति बाबू टीकमगढ़ भी पधारे थे। वह बम्बई की हिन्दी विद्यापीठ में भाषण देने वाले थे और मैंने उन्हें निमन्त्रित किया था। आचार्य जी ने मुझे लिखा, "यदि आप हजारीप्रसाद की यात्रा का प्रबन्ध कर दें तो मैं उनको साथ लेकर टीकमगढ़ आ सकता हूँ क्योंकि वह एक बार आपके यहाँ आ चुके हैं।"

मैंने प्रबन्ध करने की स्वीकृति भेज दी और दोनों महानुभाव टीकमगढ़ पहुँच गये। वह टीकमगढ़ के महाराजा साहब से मिले थे और जतारा सरोवर की यात्रा भी उन्होंने की थी। राजा बहादुर श्री देवेन्द्र जी उनसे मिलने कुण्डेश्वर पधारे थे। उस समय क्षिति बाबू ने उन्हें कई मनोरंजक किस्से सुनाये थे। एक किस्सा इस प्रकार था—

"किसी श्रद्धालु युवक ने अपने गुरु से पूछा कि अपनी पत्नी से पहली मुलाकात में मैं क्या बातचीत करूँ। गुरु जी ने संकोचवश इतना ही कहा—उस समय जो विचार तुम्हारे मन में सबसे पहले उठे, उसी की बात करना। वह युवक पहलवान टाइप का था। प्रथम मिलन में अपनी पत्नी से पूछ बैठा—क्या तुम पंजा लड़ाना जानती हो।"

क्षिति बाबू निरर्थक वाद-विवाद में नहीं पड़ते थे। एक बार श्री लंका के एक बुद्ध भिक्षु श्री नारद ने उनसे कहा कि आप ईश्वर के अस्तित्व पर मुझसे वाद-विवाद कर लीजिए। आचार्य जी ने उत्तर दिया, "इस निर्णय में मेरी बिल्कुल रुचि नहीं है। मेरा मुख्य विषय तो भारत के सन्त कवि है और मैं उसी पर बातचीत कर सकता हूँ।"

टीकमगढ़ यात्रा के बाद क्षिति बाबू ने 'मधुकर' के लिए एक लेख भी लिखा था जिसमें कुण्डेश्वर और उसके आसपास के जनपद के जीव-जन्तुओं और पशु-पक्षियों आदि का वर्णन करने का आदेश दिया था।

वह फीरोज़ाबाद भी आये थे और निकटवर्ती ग्राम किरथरा भी गये थे। मेरे पास आचार्य जी के पत्र थे जो राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित हैं। चि० रामगोपाल पर आचार्य जी की बड़ी कृपा थी और उसने उन पर कई लेख भी लिखे थे।

19

श्रीनारायण चतुर्वेदी

लगभग 75 वर्ष पहले की बात है, इटावा से एक बारात फीरोज़ाबाद आयी हुई थी। बाराती लोग स्नान इत्यादि से निवृत्त होने के लिए हनुमान जी के मन्दिर और क्षेत्र पर गये हुए थे। स्थानीय चतुर्वेदी समाज का वही एक मिलन-स्थल था। मैं उन दिनों मिशन स्कूल का विद्यार्थी था। हनुमान जी पर एक व्यक्ति ने दूर की ओर इशारा करते हुए कहा, "इटावे कौ एक लड़का बड़ौ हुशियार है जो बरात में आयो है। वो वाँ खड़ो है।" उस समय मेरी हिम्मत उस विद्यार्थी से बातचीत करने की नहीं हुई। पर नाम मैंने ज़रूर पूछ लिया था। उस समय मुझे स्वप्न में भी कल्पना न थी कि आगे चलकर भाई श्रीनारायण जी से इतनी घनिष्ठता हो जाएगी। श्रीनारायण जी यद्यपि उम्र में मुझसे आठ-नौ महीने छोटे हैं तथापि अनुभव और योग्यता में मैं उन्हें अपना अग्रज ही मानता हूँ। स्पष्टवादिता उनका सबसे बड़ा गुण है और यह गुण उन्हें अपने मुहल्ले छिपेटी (इटावा) से विरासत में मिला है। दो टूक बात कहने में वह कभी नहीं चूकते फिर चाहे वह किसी भी साधन-सम्पन्न व्यक्ति या शक्तिशाली गवर्नमेण्ट को भले ही खटके।

भाई श्रीनारायण जी के जीवन का एक अच्छा भाग सरकारी नौकरी करते हुए बीता है। रिटायर होने से पहले वह स्कूलों के इंस्पेक्टर रह चुके थे और मध्य भारत में शिक्षा निदेशक भी। उनमें अद्भुत प्रबन्ध शक्ति थी और अब भी है। मैंने उसका अनुभव स्वयं सन् 1952 में अपनी इन्दौर यात्रा में किया था।

श्रीनारायण जी ने उत्तर प्रदेश के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री सम्पूर्णानन्द को मध्य भारत की यात्रा के लिए निमन्त्रित किया था और उसी सिलसिले में उनका साथ देने के लिए उन्होंने मुझे भी बुला लिया था। वह जानते थे कि मेरा श्री सम्पूर्णानन्द जी से घनिष्ठ परिचय है—हम दोनों राजकुमार कॉलिज, इन्दौर, में ढाई वर्ष तक साथ-साथ अध्यापक रह चुके थे—इसलिए मुझे भी यात्रा का सौभाग्य प्राप्त हो गया।

मैंने उस समय भोपाल, देवास, उज्जैन और इन्दौर में सम्पूर्णानन्द जी के स्वागत का प्रबन्ध अपनी आँखों से देखा। यात्रा, निवास, भोजन और स्वागत इत्यादि में कहीं किसी प्रकार की त्रुटि नहीं दीख पड़ी। भोपाल से देवास तक हर मील पर एक सिपाही रक्षा के लिए खड़ा था। अपने-आपको पृष्ठभूमि में रखते हुए वह दूसरों से काम लेना और उन्हें कीर्ति प्रदान करना ख़ूब जानते हैं। मुझे डेली कॉलिज छोड़े बत्तीस वर्ष हो चुके थे और श्री सम्पूर्णानन्द जी को चौंतीस

वर्ष। इसलिए वहाँ की यात्रा हम लोगों के लिए अत्यन्त आनन्दप्रद थी। श्री सम्पूर्णानन्द तो हार्दिक स्वागत से चकित रह गये थे। उन्होंने एक बार स्वयं मुझे कहा, "इन्दौर में उसके बाद कांग्रेस की जो मीटिंग हुई, उसमें मैं नहीं गया। क्योंकि उससे बढ़िया स्वागत मेरा हो नहीं सकता था।"

मैं सुन चुका था कि श्रीनारायण जी के उत्तर प्रदेश में शिक्षा निदेशक नियुक्त होने में श्री सम्पूर्णानन्द से कुछ बाधा ही पड़ी थी। उन्होंने किसी अन्य सज्जन को डायरेक्टर बना दिया था। मैंने दबी ज़बान से उसका उल्लेख श्रीनारायण जी के सामने किया तो उन्होंने उत्तर दिया, "उस व्यवहार को भूल जाने के लिए ही मैंने सम्पूर्णानन्द जी को मध्य भारत बुलाया था। मैं उस बात को दिमाग़ में भी नहीं रखना चाहता।"

व्यवहार कौशल और लोक-संग्रह की भावना श्री नारायण जी का सबसे बड़ा गुण है। वह किसी व्यक्ति को खोते नहीं हैं और वक्त पर जिसकी जो भी मदद बन सके कर देते हैं। इसके लिए वह ख़तरा भी मोल लेते हैं। जितने आदमियों को उन्होंने नौकर कराया है अथवा आर्थिक सहायता दी और दिलाई है उसकी लिस्ट काफ़ी लम्बी है।

एक बार मैं अपने पड़ौसी श्रद्धेय वेंकटेश नारायण तिवारी के घर गया तो वहाँ वह किसी के स्वागत की तैयारी कर रहे थे। मैंने पूछा, "तिवारी जी, क्या मामला है?" उन्होंने कहा, "मैंने आज श्रीनारायण चतुर्वेदी को बुलाया है। उन्होंने मेरे ऊपर जो उपकार किया था, उसे मैं कभी नहीं भूलूँगा।"

मैंने उस उपकार के बारे में कुछ नहीं पूछा और घर लौट आया। तिवारी जी के स्वर्गवास के अनेक वर्ष बाद मैंने इसकी चर्चा श्रीनारायण जी से की तब विस्तृत वृत्तान्त ज्ञात हुआ। तिवारी जी कांग्रेस की तरफ़ से जेल-यात्रा करना चाहते थे पर घरपर आर्थिक सुविधा कुछ भी नहीं थी। इसकी चर्चा जब श्रीनारायण जी के पास तक पहुँची तब उन्होंने इण्डियन प्रेस से एक किताब के अनुवाद कार्य के लिए दो-ढाई हज़ार रुपये उन्हें दिलवा दिए थे जिन्हें घर पर रखकर तिवारी जी जेल गये थे। यह बात यू० पी० सरकार के कानों तक पहुँच गयी थी और चूँकि वहएक उच्च अधिकारी थे इस कारण यह काम उनके लिए ख़तरनाक था। उन दिनों एस० सी० मेहता, आई० सी० एस० उच्चतर पद पर थे, इसलिए श्रीनारायण जी बच गये।

एक बार मेरे भतीजे के मामले को सुलझाने के लिए श्रीनारायण जी भोपाल में दोपहरी-भर घूमते रहे। वह उन दिनों डॉक्टरी पढ़ रहा था और उसका लड़कों से कुछ लड़ाई-झगड़ा हो गया था, जिससे भागकर वह फीरोज़ाबाद चला आया था। उस समय श्रीनारायण जी भोपाल में थे। मैंने ट्रंककाल करके उन्हें सारी बात समझा दी थी। चूँकि श्रीनारायण जी का सम्बन्ध उच्च पदाधिकरियों से था, इसलिए मामला सुलझाने में उन्हें सफलता मिली।

बन्धुवर मधुकर भट्ट से, जो स्व० बालकृष्ण भट्ट के प्रपौत्र हैं, मैंने पूछा, "सरकारी नौकरी आपको कैसे मिली?" तो वह बोले, "श्रद्धेय श्रीनारायण जी की कृपा से।"

श्रीनारायण जी और सिफ़ारिश तो सुन सकते हैं पर यदि कोई उनसे तबादला रुकवाने को कहे तो वह अत्यन्त रुष्ट हो जाते हैं। उनके सेवा-काल में उनका ट्रान्सफ़र तीस-बत्तीस बार हुआ था।

साहित्यिकों के तो वह संरक्षक ही रहे हैं। स्व० भाई हरदयालसिंह जी, जो ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि थे, ने हमें स्वयं सुनाया था कि उनकी नौकरी श्रीनारायण जी ने ही लगवाई थी और उनकी पुत्री के विवाह में उन्होंने अपने पास से 1200 रुपये दिये थे। महाकवि निराला और कविवर हितैषी, श्री हेमचन्द्र जोशी और कविवर स्नेही जी इत्यादि को जो भी सहायता वह कर सकते थे, उन्होंने की। एक बार राष्ट्रकवि मैथिलीशरण जी गुप्त ने स्वयं मुझसे कहा था, "श्री-

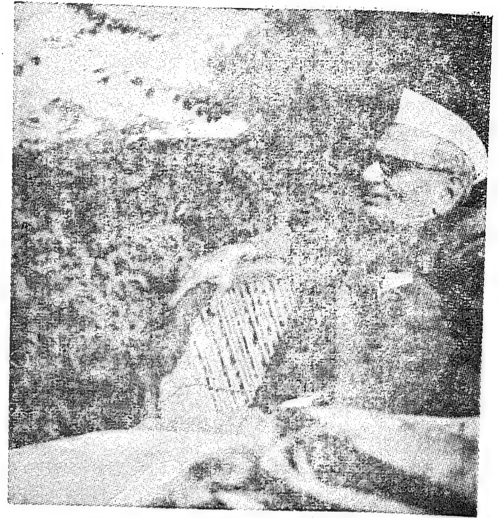
नारायण जी तो किसी मध्यकालीन कवियों के संरक्षक महाराज के ही अवतार हैं।"

श्री नारायण जी, 'नेकी कर कुएँ में डाल' की नीति के पक्षपाती हैं। दूसरों पर किए हुए अपने उपकारों का उल्लेख वह कभी नहीं करते। श्री हेमचन्द्र जोशी को पेंशन उन्हीं ने ही दिलाई थी और उनके स्वर्गवास के बाद उनकी पत्नी को भी। जोशी जी ने एक बार मुझसे कहा था, "चौबे लोगों की मुझ पर ख़ास तौर से कृपा है। जब मैं खंडवा में बहुत बीमार पड़ गया था तो सेवा-सुश्रूषा करके भाई माखनलाल ने मेरी जान बचाई थी और आजकल मैं श्रीनारायण जी की कृपा से अपना जीवन-निर्वाह कर रहा हूँ।"

किताबें तो उन्होंने बीसियों लेखकों की बिकवाईं। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर जी ने ख़ुद मुझसे कहा था, "मेरी एक पुस्तक पर मध्यप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कार भी श्रीनारायण जी ने दिलवाया था और दिल्लगी की बात यह थी कि वह पुस्तक पुरस्कार के लिए भेजी भी नहीं गई थी।" श्रीनारायण जी ने किसी से पुस्तक ख़रीदवा कर पुरस्कार की सूची में शामिल कर दी थी और चूँकि वह निर्णायकों में से थे, इससे पुरस्कार भी दिलवा दिया था।

इण्डियन प्रेस से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। उस प्रेस की उन्होंने बड़ी सहायता की थी। हम सभी जानते हैं कि पूरे बीस वर्ष तक उन्होंने 'सरस्वती' का सम्पादन सर्वथा निःस्वार्थभाव से किया था। जबकि सम्पादन कार्य—लेखकों के लिए पारिश्रमिक तथा पोस्टेज के लिए—प्रेस उन्हें बहुत कम पैसा देता था।

अपने सम्पादनकाल में उन्होंने किसी को भी नहीं बख़्शा। एक बार भाई शम्भूनाथ चतुर्वेदी ने लोकसभा में और मैंने राज्य सभा में अंग्रेज़ी में भाषण देने की हिमाकत की थी। श्रीनारायण जी ने हम दोनों की कठोर आलोचना की थी।



निःस्वार्थ हिन्दी सेवक : श्रीनारायण चतुर्वेदी

हिन्दी जगत् में जब अभिनन्दन ग्रन्थों की बाढ़-सी आ गयी और अनेक अनधिकारी व्यक्तियों को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किये जाने लगे तो श्रीनारायण जी के हृदय को इस दम्भपूर्ण कार्य से धक्का लगा और उन्होंने एक व्यंग्यात्मक पुस्तक 'विनोद शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ' निकाली और अपने पास से नौ सौ रुपये ख़र्च करके उसे छपा भी दिया। चूँकि अनेक अभिनन्दन ग्रन्थ मेरे द्वारा ही निकाले गये थे, इसलिए मुझ पर भी कुछ मधुर कटाक्ष किये गये थे। उनकी पुस्तक 'छेड़छाड़' में तीन कविताएँ तो मेरे ही विषय में हैं। आधुनिक काल में श्रीनारायण जी सर्वोत्तम व्यंग्य लेखक हैं। 'ख़र्चा ख़ुराकजानवरान'[1] जैसा उच्च कोटि का लेख वह ही लिख सकते थे। इससे बेहतर व्यंग्य लेख बहुत ही कम देखने में आया है।

अभी हाल में जब उत्तर प्रदेश सरकार ने उर्दू को द्वितीय राजभाषा घोषित करने की भूल की थी,

1. धर्मयुग में प्रकाशित

उसका घोर विरोध मुख्यतः उन्होंने किया है।

श्री नारायण जी का 90 वाँ वर्ष शुरू हो रहा है पर उनमें सजीवता और फ़ुर्ती नवयुवकों जैसी ही है। उनके अक्षर अब तक उतने ही स्पष्ट तथा सुन्दर हैं जितने युवावस्था में थे। वह बूढ़ा होना जानते ही नहीं, बाबा या नाना कहलाने से उन्हें घृणा है। वह अपनी मित्र मण्डली में 'भैया साहब' के नाम से प्रसिद्ध हैं। बड़े आदमियों की ख़ुशामद और छुटभइयों की उपेक्षा वह कभी नहीं करते। यद्यपि उनके जीवन में अनेक गार्हस्थक दुर्घटनाएँ घटी हैं तथापि उन्होंने बड़े धैर्यपूर्वक 'देह धरे के इन दण्डों'[2] को सहन किया है।

साहित्य सेवा उनके कुल की प्राचीन परम्परा है। उनके पूर्वज संस्कृत के महान् पंडित थे और पूज्य पिताजी, स्व० द्वारिका प्रसाद जी चतुर्वेदी हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक थे। श्रीनारायण जी ने उन पर एक स्मृति ग्रन्थ निकाला है पर उसकी केवल 250 प्रतियां ही छपाई हैं। कई अभिनन्दन ग्रन्थों और स्मृति ग्रन्थों का बड़ी योग्यतापूर्वक उन्होंने सम्पादन किया है।

धार्मिक विषयों में वह कट्टर प्राचीनतावादी हैं। अपना भोजन अब भी वह स्वयं ही बनाते हैं पर विरोधियों के प्रति उनके हृदय में सहिष्णुता है। भक्ष्याभक्ष्य का ख़्याल न रखने वाले व्यक्तियों से भी उनके मधुर सामाजिक सम्बन्ध रहे हैं।

उनका जन्म-स्थान छिपेटी मुहल्ला, इटावा, है और छिपेटीपन उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। उनका शिकार मुझे भी होना पड़ा है। एक बार उन्होंने मुझे लिखा था, "स्व० महाराज सिंह जू देव पर स्मृति-ग्रन्थ आपने अब तक क्यों नहीं निकाला ? आपका यह अपराध अक्षम्य है।" और भी कई खरी-खोटी उन्होंने मुझे सुनायी थीं। परिणामस्वरूप मैंने वह ग्रन्थ निकाल ही दिया। उसकी एक सुन्दर भूमिका कृपाकर उन्होंने लिख दी थी। राजस्थान के राज्यपाल श्री सम्पूर्णानन्द जी के अनेक निमन्त्रण आने पर भी जब मैं जयपुर नहीं जा सका तो श्रीनारायण जी ने मुझे अच्छी-ख़ासी डाँट लगायी थी। तत्पश्चात् मैं जयपुर गया था।

दूसरों की कीर्ति-रक्षा करने का कोई भी मौक़ा वह हाथ से जाने नहीं देते हैं। स्व० मुक्ताप्रसाद जी चतुर्वेदी, स्व० जगन्नाथ प्रसाद, न्यायमूर्ति ब्रजकिशोर के स्मृतिग्रन्थों का सम्पादन उन्होंने किया था और भाई सोहनलाल द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ की भूमिका भी उन्होंने लिखी थी।

हाल ही में उन्होंने प्राचीन मन्दिरों पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। इस उम्र में भी वह पूर्ववत् यात्रा करते रहते हैं। मारीशस की यात्रा भी उन्होंने की थी।

महर्षि दयानन्द, महात्मा गांधी और राजर्षि टण्डन जी की त्रिमूर्ति हिन्दी जगत् में विख्यात है। यदि आधुनिक युग में निःस्वार्थ हिन्दी सेवकों की सूची बनायी जावे तो श्रीनारायण जी का नाम उसमें अग्रगण्य रहेगा।

1. देह धरे को दण्ड है, सब काहे को होय।
ज्ञानी काटें ज्ञान से मूरख काटें रोय।।

20

हजारीप्रसाद द्विवेदी जी

भाई हजारीप्रसाद जी के नाम के आगे स्वर्गीय शब्द कभी जोड़ना होगा, इसकी दुःखद कल्पना भी मेरे लिए असम्भव थी। वह उम्र में मुझसे पंद्रह वर्ष छोटे थे। पिछले 48-49 वर्षों से मेरे-उनके सम्बन्ध बिल्कुल घरेलू बन गये थे। दरअसल उनके बारे में तटस्थ वृत्ति से लिखना मेरे लिए सम्भव नहीं। उनका यशस्वी साहित्यिक रूप मेरे लिए बिल्कुल गौण बन चुका था। इसका एक कारण यह भी था कि उनकी विद्वत्तापूर्ण रचनाओं को विधिवत् समझने की योग्यता भी मुझमें नहीं थी और मैंने उनके ग्रन्थों में कुछ को ही विधिवत् पढ़ा था। पर उनके सृहृदयतापूर्ण व्यक्तित्व का मैंने बहुत निकट से अध्ययन किया था। संस्कृत में एक उक्ति है, 'विद्या ददाति विनयं', द्विवेदी जी उसकी साक्षात् मूर्ति थे। अपनी साधना के द्वारा वह हिन्दी जगत् में चोटी के विद्वान् बन गये थे और आज जब मैं यह सोचता हूँ कि मैंने उनके साथ कैसे-कैसे धृष्टतापूर्ण व्यवहार किये तो अपने ऊपर लज्जा आती है।

सन् 1920-21 में मुझे चौदह महीने शान्ति निकेतन में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और उसका वृत्तान्त मैंने 'माधुरी' में लिखा था। यह बात शायद 1924 की है। वह लेख द्विवेदी जी की निगाह से गुज़रा था। जब वह केवल 17 वर्ष के ही युवक थे तभी से मेरा-उनका आत्मिक सम्बन्ध क़ायम हो गया था, यद्यपि व्यक्तिगत परिचय सन् 1930-31 में ही हो सका।

द्विवेदी जी बड़े प्रेमी जीव थे और मेरा-उनका मज़ाक बराबरी के धरातल पर ही होता था। एक बार द्विवेदी जी ने मुझसे पूछा, "शान्ति-निकेतन कब आ रहे हैं?" मैंने उत्तर दिया, "अगर आप सवेरे पौने चार बजे चार प्याले चाय तथा मिष्टान्न का प्रबन्ध कर सकें तो चाहे जब पहुँच सकता हूँ।" अकस्मात् इसके कुछ दिनों बाद मुझे शान्ति-निकेतन जाना पड़ा। दूसरे दिन सवेरे पौने चार बजे द्विवेदी जी चाय लेकर हाज़िर थे। मैंने कहा, "यह आपने ग़ज़ब कर दिया। घरवालों को जगाकर उनकी नींद हराम कर दी। मैंने तो मज़ाक किया था।" द्विवेदी जी ख़ूब हँसे और बोले, "बच्चे इस बात से बहुत ख़ुश हैं कि आज उन्हें जल्दी ही चाय मिल गयी और मिष्टान्न भी।"

मैं द्विवेदी जी को अपने घर का आदमी समझकर उन पर असह्य बोझ डाल दिया करता था। जब मैं कुण्डेश्वर (टीकमगढ़) में था, मैंने द्विवेदी जी को लिखा: "आप कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर एक लेख लिखकर लाइये। हमारे वसन्तोत्सव पर उसका पाठ कीजिये। रास्ते में कानपुर उतरिये, 'प्रताप' वालों



हजारीप्रसाद द्विवेदी जी

से मिलिये और लौटते वक्त ग्वालियर, आगरा और फीरोज़ाबाद में भी भाषण दीजिए पर हमारे बजट में कुल पचास रुपये की गुंजाइश है। इसी से काम चलाना होगा।"

पचास रुपये की रक़म बहुत थोड़ी थी और उसमें थर्ड क्लास के रेल-भाड़े के बाद पाँच-सात रुपये ही बच सकते थे। पर द्विवेदी जी कुण्डेश्वर आना ही चाहते थे अतः उन्होंने आदेश मान लिया। उन्होंने इस साहित्यिक यात्रा का प्रोग्राम विधिवत् सम्पन्न किया। आज तो मुझे अपनी हिमाक़त पर हार्दिक दुःख होता है, उन दिनों मुझसे यह भूल बन पड़ी थी पर द्विवेदी जी कृतज्ञतापूर्वक उस यात्रा की याद प्रायः कर लेते थे। वह कहते थे, "इस यात्रा ने मुझे वक्ता बना दिया। आपकी आज्ञा से मैं ग्वालियर उतरा। वहाँ महाविद्यालय के प्रधानाचार्य ने मुझसे कहा कि आपको बी० ए० के विद्यार्थियों के सामने कुछ बोलना पड़ेगा। मैं सहर्ष राज़ी हो गया, यह ख़्याल करके कि इतने थोड़े विद्यार्थियों से बातचीत तो कर ही लूँगा पर जब विद्यालय के हॉल में पहुँचा तो वहाँ एक हज़ार विद्यार्थी दीख पड़े। मुझे सार्वजनिक भाषण देने का अभ्यास बिल्कुल नहीं था, इसलिए मेरे होश ग़ायब थे। फिर भी मैंने हिम्मत नहीं हारी। 'विशाल भारत' में एक ग्रामीण कविता पढ़ी थी, वह मुझे याद आ गयी और मैंने हिम्मत करके बोलना शुरू किया :

"एक किसान के घर में कोयल बोल गयी, सो उसने कोयल को फँसाने के लिए जाल बिछा दिया पर कोयल के बजाय, एक उल्लू फँस गया। इस निरपराध जीव का क़िस्सा मुझे याद आ रहा है।

"कोयल बोल गयी अँगना
कि खूसट आइ फँसे फँदना
अकल हेरान सकल मति हरी
कहो तो घिच-पिच घिच-पिच करी।

"उसी स्थिति में मैं आज फँस गया हूँ।" यह सुनकर सारा हाल खिलखिलाकर हँस पड़ा। उससे मेरा साहस बढ़ गया और मैंने घण्टा-भर कवीन्द्र पर धारा-प्रवाह भाषण दे डाला। उसी दिन मुझे अपनी भाषण शक्ति का अनुभव हुआ था।"

द्विवेदी जी ने आगरे तथा फीरोज़ाबाद की भी यात्रा की थी। जहाँ-जहाँ मैं रहा, वह वहाँ पधारे। ज्ञानपुर वह दो बार पधारे थे। मुझसे मिलने वह कोटद्वार (गढ़वाल) भी गये थे। कुण्डेश्वर तो दो बार गये ही थे और दो वर्ष पहले वह दो बार फीरोज़ाबाद भी आये थे। फीरोज़ाबाद की गन्दगी का ख़्याल करके मैं उन्हें यहाँ बुलाता नहीं था। इस डर से कि वह कहीं बीमार न पड़ जायें, पर वह आग्रह-पूर्वक पधारते ही थे।

शान्ति-निकेतन के वह दिन मुझे कभी नहीं भूल

सकते जब उनके दर्शन वहाँ होते थे और ख़ूब मज़ाक चलता था। उस संध्या का मुझे भली-भाँति स्मरण है जबकि हम दोनों वहाँ टहल रहे थे। वर्षा ऋतु के बाद शान्ति-निकेतन में बादलों की रंग-बिरंगी छटा दर्शनीय होती है। उसी का निरीक्षण करने के बाद जब हम दोनों पंत निवास के निकट लौटे तो मैंने कहा—

"द्विवेदी जी, यहाँ हिन्दी भवन बनेगा," और तीन वर्ष में भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हो गयी। उसके लिए मुझे पंद्रह बार शान्ति-निकेतन की यात्रा करनी पड़ी—अनेक साधन-सम्पन्न व्यक्तियों को शान्ति-निकेतन ले जाना पड़ा। उन प्रतिष्ठित अतिथियों के स्वागत सत्कार की ज़िम्मेदारी मैं द्विवेदी जी पर ही डाल देता था। मैं कहता था, "यह काम असिस्टैण्ट पण्डा का है। मैं तो हेड पण्डा हूँ। लाने-भर की ज़िम्मेदारी मेरी है, बाक़ी आपकी।" मुझे चूंकि उन दिनों 175 रुपये मासिक वेतन मिलता था, इसलिए यात्रा का व्यय मेरे लिए अपेक्षाकृत आसान भी था, पर द्विवेदी जी को कुल जमा पचास रुपये ही मिलते थे। उनपर कैसी बीतती होगी, यह वह ही जानते थे।

भाई सीताराम जी सेकसरिया तथा भगीरथ भाई की कृपा से शान्ति-निकेतन में हिन्दी भवन बन गया। उस विशाल भवन में प्राण प्रतिष्ठा द्विवेदी जी को ही करनी पड़ी यद्यपि उसकी नींव दीनबन्धु एण्ड्रूज़ ने रखी थी और उसका उद्घाटन पं० जवाहरलाल जी द्वारा हुआ था।

इस प्रकार हम दोनों की हँसी-हँसी में वह भवन स्थापित हो गया। कभी-कभी द्विवेदी जी गहरा मज़ाक भी कर देते थे। हम दोनों पटना की यात्रा से लौटे ही थे और बनारस स्टेशन पर साथ-साथ चले जा रहे थे कि मुझे ऐसा लगा कि भीड़ में से किसी ने मेरी जेब को छुआ है। जेब में कुल जमा तीन रुपये थे, इसलिए विशेष चिन्ता की बात तो थी नहीं। मैंने इधर-उधर देखा तो द्विवेदी जी ही निकट थे। मैंने कहा, "क्यों जनाब, यह जेब कटी का व्यापार भी शुरू कर दिया है?"

द्विवेदी जी ने अट्टहास के साथ कहा, "आज-कल इसके बिना काम नहीं चल सकता।" तब मैंने जेब टटोली। उसमें तीन रुपये की बजाय 33 रुपये निकले। दस-दस के तीन नोट द्विवेदी जी ने उसमें डाल दिये थे। मैंने द्विवेदी जी से कहा, "यह आपने क्या किया?" वह बोले, "कुछ भी तो नहीं किया। मेरे पास ज़रूरत से ज़्यादा थे और आपके पास ज़रूरत से कम, सो घर के घर में ट्रान्सफ़र कर दिये हैं।" मैं उनकी सहृदयता का क़ायल हो गया और तीस रुपये मैंने सहर्ष अपने पास रख लिये। पर इस मज़ाक का पूर्वार्द्ध और भी मनोरंजक सिद्ध हुआ।

मैं द्विवेदी जी के साथ ही बनारस में ठहरा हुआ था। जब दूसरे दिन रीवा के लिए रवाना होने लगा, तो देखा कि मेरा बिस्तर बंधा बँधाया तैयार है। मैंने द्विवेदी जी से कहा, "यह काम तो मैं ख़ुद ही कर लेता।" उन्होंने कहा, "आपके कष्ट को बचाने के लिए मैंने बिस्तर बाँध लिया तो क्या हुआ।" ख़ुद बिस्तर को उठाकर उन्होंने ताँगे पर भी रख दिया। उस बिस्तर को मैंने रीवा में खोला तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसमें नये निकोर कपड़े निकले। दो-दो कमीज़ें, दो-दो पाजामे, और दो-दो तहमद या धोती और निकल पड़ीं। सब मेरे नाप के थे और वैसी ही खादी के भी। यह सब द्विवेदी जी की करामात थी। मैंने द्विवेदी जी को लिखा कि ठग नोटों को दुगना किया करते हैं, पर आपने तो नोट ग्यारह गुने कर दिये और कपड़े तिगुने। द्विवेदी जी ने एक पत्र में लिखा था: "आपको ठगने का यही तरीक़ा मुझे सूझ पड़ा।" जब उत्तर प्रदेश सरकार ने मुझे पंद्रह हज़ार का पुरस्कार भेंट किया, तब मैं उसकी ख़बर पर यक़ीन भी नहीं कर सका। बाद में पता लगा कि उसके पीछे द्विवेदी जी का हाथ था। वह मेरे संग्रहालय के लिए भी विशेष चिन्तित थे और लखनऊ के हिन्दी-संस्थान द्वारा उसे सुरक्षित करा देना चाहते थे।

कृतज्ञता उनका सबसे बड़ा गुण था। जब लखनऊ ां उन्हें डी० लिट्० की उपाधि मिली तो उन्होंने ःवीन्द्र रवीन्द्र नाथ तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन ः साथ मुझे भी याद कर लिया था।

जब आगरा विश्वविद्यालय ने मुझे डी० लिट् ‹दान की तो मैंने लिखा था :

"बड़े-बड़ेन की अक्ल अब चरन लगी है घास
फोकट में डी० लिट्० बने श्री बनारसी दास।"

उसके उत्तर में द्विवेदी जी ने लिखा था :

"बड़े-बड़ेन को अक्ल अब आयी अस विश्वास
डी० लिट्० गुरु डी० लिट्० बने श्री बनारसीदास।"

एक बार मैंने द्विवेदी जी को लिख भेजा : इलाहाबाद से आगे के निवासी शुद्ध हिन्दी लिख ा नहीं पाते। यह बनारस वालों की शक्ति के बाहर ।"

इसका उन्होंने जवाब दिया : "आज भले ही ाई बनारस की उपेक्षा कर ले, पर अस्सी वर्ष हले जब पश्चिमी ज़िलों के माता-पिताओं को च्चे के लिए नाम की तलाश होती थी तो वह बनारस की ही शरण लेते थे।" मैं निरुत्तर हो गया।

अपने पत्रों में द्विवेदी जी लिखा करते थे, "आप वर्षों से अराजकतावाद का प्रचार करते रहे हैं, सो वह कम से कम फीरोज़ाबाद में तो क़ायम हो ही गया। आपके नगर में बन्दरों, सूअरों तथा कुत्तों को पूर्ण स्वराज्य मिल चुका है—अराजकतावाद की स्थापना हो चुकी है।"

फीरोज़ाबाद पधारने के पश्चात् जब वह भोजन करने के बाद भाई ठाकुर प्रसाद सिंह के साथ मोटर में बैठने के लिए जाने लगे तो मैंने उनसे कहा : "द्विवेदी जी, हमारी छोटी पोती रेणु ने बी० ए० में संस्कृत ली है।" वह बोले, "तब तो इस घर में विद्या बराबर बनी रहेगी।"

मेरे लिए यही उनके अन्तिम शब्द थे। यही उनका अन्तिम आशीर्वाद था।

द्विवेदी जी चले गये—आख़िर हम सबको जाना ही है—पर अपनी अद्वितीय साहित्यिक कृतियों के कारण वह अमर रहेंगे। जितने बढ़िया वह साहित्यिक थे उससे कहीं आगे बढ़कर वह सहृदय मनुष्य थे।

21

ओरछेश महाराज वीरसिंह जूदेव द्वितीय

आज के युग में किसी राजा-महाराजा को श्रद्धा-पूर्वक स्मरण करना कुछ अजीब-सी बात लगेगी क्योंकि लोग सामन्त युग के उन अवशिष्ट खँडहरों को भूल चुके हैं। यदि कभी कोई उन्हें याद भी करता है तो उनके अनाचारों तथा अत्याचारों के लिए। फिर भी बुन्देलखण्ड के निवासी महाराज वीरसिंह जूदेव को आज भी कृतज्ञतापूर्वक स्मरण कर लेते हैं। क्योंकि वह अपने जनपद, बुन्देल-खण्ड के अनन्य भक्त थे। यद्यपि सामंतीय व्यवस्था के अनेक दुर्गुण उनमें विद्यमान थे पर उन्हें छिपाने का प्रयत्न उन्होंने कभी नहीं किया। फिर भी उनमें अनेक गुण थे, जो हम सबके लिए अनुकरणीय हैं।

महाराज वीरसिंह जूदेव कीर्ति लोलुप नहीं थे। वह विज्ञापन से दूर भागते थे। जब मैंने 'मधुकर' निकाला था तो उन्होंने मुझसे कहा था, "चौबे जी, अगर आपने 'मधुकर' में एक भी शब्द मेरी प्रशंसा में कहा तो समझ लीजिए मैं ललितपुर से आपका टिकट कटा दूँगा।" मैंने उनके उस आदेश का अक्षरशः पालन किया। जब मैं तत्कालीन ग्वालियर राज्य के मंत्री श्री तख्तमल से मिला और उन्हें 'मधुकर' के अंक भेंट किये तो उन्होंने पन्ने पलटकर उसे बड़े ध्यान-पूर्वक देखा और कहा, "महाराज आपको बहुत स्वाधीनता देते हैं।"

मुझे कुण्डेश्वर (टीकमगढ़) में साढ़े चौदह वर्ष रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ पर इस लम्बे अर्से में महाराज साहब ने मेरे सम्पादन कार्य में किसी प्रकार का दख़ल नहीं दिया। सन् 42 के आन्दोलन में कई क्रान्तिकारियों को मैंने कुण्डेश्वर में शरण दी थी और उनमें एक प्रोफ़ेसर रंजन तो कई महीने वहाँ रहे भी थे। वह एम० ए० की परीक्षा देने गये और पकड़ लिए गये। उन पर मुक़दमा चला और उन्हें जेल भी हुई। जब मैं स्वयं छपरा ज़िले की यात्रा पर गया था तब बिहार सरकार ने मेरे नाम वारण्ट निकाल दिया था, वैसा ही वारण्ट उत्तर प्रदेश सरकार ने भी निकाल दिया था। मैं जब टीकमगढ़ पहुँचा, मैंने महाराज से कहा, "मुझे भी जेलख़ाने की हवा खाने दीजियेगा।" पर महाराज ने मुझे ब्रिटिश सरकार को नहीं सौंपा। पहले यह नियम था कि जब तक कोई रियासत एक्स्ट्रेडीशन (राज्य से निष्कासन) न कर दे तब तक ब्रिटिश सरकार उस पर मुक़दमा नहीं चला सकती थी। इसलिए मुझ पर भी कोई अभियोग न चल सका। एक व्यक्ति तार काटने के बाद कुण्डेश्वर पहुँचे थे और एक पत्रकार भी वहाँ कुछ दिन छिपकर रहे थे। जब ब्रिटिश सरकार की ख़ुफ़िया पुलिस ने महाशय के बारे में जाँच-पड़ताल शुरू की, तब उनको मैंने 51 रुपये देकर राज्य से बाहर भेज दिया। जब

महाराज को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने मुझसे कहा, "चौबे जी, तुम्हारा स्थान तो एक केन्द्रीय स्थल बन चुका है। इसलिए यदि किसी क्रान्तिकारी को छिपाना चाहो तो उसे जतारा के जंगल में भेज दिया करो।"

ठाकुर सज्जन सिंह उन दिनों महाराज के एक मंत्री थे। वह भी मेरे शिष्य रह चुके थे। महाराज के साथ उन्होंने मुझे समझाकर कहा, "चौबे जी! इस संकट काल में आप ख़ूब सोच-समझकर किसी को शरण दीजिये। यदि ब्रिटिश सरकार ने आप पर हाथ डाला तो महाराज आपको नहीं सौंपेंगे, उन्हें राज्य भले ही छोड़ना पड़े।" महाराज दरअसल बड़े दबंग थे और बातचीत में बड़े कुशल। ब्रिटिश अधिकारियों से उनके सम्बन्ध बहुत अच्छे थे। उन्होंने पोलीटिकल एजेण्ट से कह रखा था कि "आप हमारे राज्य की ओर से निश्चिंत रहिये। हम अपने यहाँ आपके विरुद्ध कोई आन्दोलन न होने देंगे।"

बुन्देलखण्ड-भर में महाराज ओरछा ही सर्वप्रथम राजा थे जिन्होंने अपनी जनता को उत्तरदायी शासन प्रदान किया था। राजा-महाराजाओं की मीटिंग में जब एक महाराज ने ब्रिटिश सरकार से हुई अपनी सन्धियों की बात की तो महाराज वीरसिंह जूदेव ने कहा, "इन सन्धियों के पुलन्दे को लपेटकर अपने गुह्य स्थान में रख लीजिये।" अनेक राजा-महाराजा वीरसिंह जूदेव के विरोधी थे और उनका मत था कि ओरछेश ने ही राज्यों को विलीन कराया है। वह समय की गति को पहिचानते ही नहीं थे बल्कि उससे पूर्ण परिचित भी थे।

महाराज एक बार जब कलकत्ते गये तो 'विशाल भारत' ऑफ़िस में भी पधारे। 'विशाल भारत' प्रवासी प्रेस से ही निकलता था जिसकी तलाशी 30-32 बार हो चुकी थी और वहाँ जाना ख़तरे से खाली न था। मैंने महाराज से कहा, "आप जब गद्दी पर बैठे तो मैंने 'विशाल भारत' में कोई नोट भी नहीं लिखा।"



ओरछा नरेश महाराजा वीरसिंह जूदेव

बात यह थी कि मैंने 50-60 राजा-महाराजाओं और जागीरदारों के लड़के पढ़ाये थे। यदि उन सबके गद्दी पर बैठने पर नोट लिखता तो बहुत-सा स्थान उन्हीं में घिर जाता। महाराज ने कहा, "यदि आपने मेरे बारे में नोट लिखा होता तो आज मैं 'विशाल भारत' कार्यालय में नहीं आता।" एक बार कुछ वर्ष बाद वह फिर कलकत्ते पधारे थे। तब उन्होंने कहा, "चौबे जी, आप कलकत्ता छोड़ दीजिए। आपके भाई और बहनोई का देहान्त यहाँ हो चुका है और स्वयं आपके जीवन के लिए भी ख़तरा है।" मैंने उनसे कहा, "क्या टीकमगढ़ में पपीते होते हैं?" महाराज ने हँसकर कहा, "चाहे जितने खाइये। चलिये तो सही।" बात यह थी कि मैं उन दिनों एक रुपये का

एक पपीता ख़रीद कर रोज़ाना खाया करता था। 10 अक्तूबर, सन् 1937 में मैंने 'विशाल भारत' का काम छोड़ दिया और 13 अक्तूबर को टीकमगढ़ पहुँच गया। साढ़े चौदह वर्षों में जो भी थोड़ी-बहुत सेवा उस जनपद की बन पड़ी, मैंने की।

टीकमगढ़-निवासी महाराजा साहब को एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करना चाहते थे। उनका यह विचार मैंने जब महाराजा साहब के सामने रखा तो उन्होंने स्पष्ट मना कर दिया और कहा, "मेरे द्वारा जो थोड़ी-सी सेवा बुन्देलखण्ड या हिन्दी की बन पड़ी है उसका विज्ञापन मैं नहीं कराना चाहता। अभिनन्दन ग्रन्थ पर व्यर्थ ही पैसा क्यों ख़र्च किया जाय?" मैंने बड़ी मुश्किल से उनको हस्तलिखित ग्रन्थ भेंट लेने के लिए राज़ी कर लिया। मेरा तर्क था कि उस ग्रंथ को तो दो-चार आदमी ही पढ़ेंगे, इसलिए आपके नाम का कोई विज्ञापन होगा ही नहीं। महाराज को एक के बाद एक, दो हस्तलिखित ग्रन्थ भेंट किये गये थे। एक उनके व्यक्तित्व के बारे में और दूसरा बुन्देलखण्ड के बारे में। वे दोनों अभी सुरक्षित हैं। उनकी सहायता से महाराज के स्वर्गवास के बाद उनकी स्मृति में एक ग्रन्थ निकाला गया। उसकी थोड़ी-सी (600) प्रतियाँ ही छपायी गयीं और मित्रों, परिचितों तथा भक्तों को भेंट कर दी गयीं। बड़े हर्ष की बात है कि उनके पौत्र महाराज मधुकर शाह जूदेव में अपने पूज्य पितामह के अनेक गुण विद्यमान हैं। वह अपने सीमित साधनों के बावजूद जनता की कुछ सेवा भी करना चाहते हैं।

अन्त में मैं यह निवेदन कर देना चाहता हूँ कि महाराज के ऋण से मैं जीवन-पर्यन्त उऋण नहीं हो सकता। मकान के ख़रीदने में, बच्चों की शिक्षा, तथा अन्य अवसरों पर उनसे निरन्तर आर्थिक सहायता मिलती रही थी। राज्य विलीन होने के पहले ही महाराज ने मेरी पेंशन का प्रबन्ध कर दिया था और 250 रु० मासिक की पेंशन मुझे अब भी मिल रही है।

22

स्वर्गीय भाई सीताराम जी सेकसरिया

एक दिन भाई सीताराम जी सेकसरिया ने मुझसे कहा, "हम लोगों ने एक अस्पताल खोला है, क्या आप मेरे साथ चलकर उसे देखना पसन्द करेंगे?" मैंने उत्तर दिया, "अवश्यमेव आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।" दूसरे ही दिन सेकसरिया जी मुझे अपने साथ उस नवीन अस्पताल को दिखाने ले गये। उसके अनेक कमरे उन्होंने मुझे दिखलाए। एक कमरे में किसी महिला को ख़ून चढ़ाया जा रहा था। उसे देखने के बाद जब हम आगे बढ़े तो भाई सेक्सरिया जी ने कहा, "यह एक बंगाली स्त्री है जिसे उसके पति ने छोड़ दिया है। इस अस्पताल में जिनका इलाज होता है उनमें 80 प्रतिशत बंगाली ही हैं।" यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि उस अस्पताल का सम्पूर्ण व्ययभार मारवाड़ी लोग ही वहन कर रहे थे। तत्पश्चात् सेकसरिया जी ने कहा, "इस अस्पताल की स्थापना की कथा भी विचित्र है। इसकी प्रेरणा मुझे आपकी पत्नी की अकाल मृत्यु से मिली थी। उनका स्वर्गवास प्रसवास्था में 1930 में हुआ था। और मेरी पत्नी को भी प्रसूति-अवस्था में घोर संकट का सामना करना पड़ा था। इन दोनों दुर्घटनाओं से प्रभावित होकर ही मैंने यह अस्पताल क़ायम कराया है।" भाई सेकसरिया जी की सहृदयता के इस उदाहरण को सुनकर मैं चकित रह गया।

उनका प्रथम साक्षात्कार कब हुआ, यह मैं भूल चुका हूँ। मैं 31 अक्तूबर, 1927 को 'विशाल भारत' का सम्पादन करने के लिए कलकत्ते पहुँचा था। उसका प्रथम अंक जनवरी, सन् 1928 को निकला था। मेरा अनुमान है कि सन् 28 के प्रारम्भिक महीनों में ही मेरा-उनका प्रारम्भिक परिचय हुआ था। फिर तो वह हमारे परम सहायक ही बन गये थे। एक बार रामानन्द बाबू को प्रवासी प्रेस पर आर्थिक संकट पड़ने पर सेकसरियाजी ने पांच हज़ार रुपये उधार दे दिये थे जिनका भुगतान काफ़ी देर से हो सका था।

यह बतलाने की आवश्कता नहीं कि शान्ति-निकेतन में हिन्दी भवन की स्थापना का शुभारम्भ भाई सेकसरिया जी के द्वारा ही हुआ था जिसका विवरण अन्यत्र दिया जा चुका है।

भाई सेकसरिया जी उदार-दानी तो थे ही साथ-साथ वह एक भावुक लेखक भी थे। पत्र लेखन की कला में तो वह अत्यन्त कुशल थे। उनके पास पैसा तो अधिक था नहीं पर पैसे वालों पर उनका प्रभाव अत्यधिक था। स्वयं भी बहुत-सा दान किया और दूसरों से भी काफ़ी अधिक दान कराया। डायरी लेखकों में भी वह शिरोमणि थे। चूँकि उनका सम्बध महात्मा गांधी जी, जमनालाल जी बजाज, मौलाना आज़ाद, दीन-

बन्धु ऐण्ड्रूज़, गुरुदेव इत्यादि से था इसलिए उनकी डायरियाँ ऐतिहासिक महत्त्व भी रखती हैं। गुरुदेव से अपनी पहली मुलाकात का वृत्तांत उन्होंने बड़ी ख़ूबी के साथ अपनी डायरी में दिया है। सेकसरिया जी रामानन्द बाबू के प्रशंसकों में थे। जब मैंने अंग्रेज़ी में रामानन्द बाबू पर एक स्मृति-ग्रन्थ निकालने का प्रस्ताव उनके सम्मुख रखा तो उन्होंने उसे तुरन्त स्वीकार कर लिया और तदर्थ उन्होंने 3600 रुपये व्यय कर दिये। वह ग्रन्थ दस रुपये में प्राप्य है। (पता—आगरा विश्वविद्यालय, चतुर्वेदी ब्रज केन्द्र, आगरा।)

भाई सेक्सरिया जी उम्र में मुझसे आठ महीने बड़े थे। उनकी श्री भागीरथ कनौडिया से घनिष्ठ मैत्री भी थी। दोनों की जुगल जोड़ी केवल कलकत्ते के लिए ही नहीं वरन् सम्पूर्ण बंगाल के लिए वरदान थी। वे दोनों साम्प्रदायिकता तथा प्रान्तीयता से मीलों दूर थे। सार्वजनिक जीवन में दोनों के ही नाम साथ-साथ आते थे।



श्री सीताराम सेकसरिया अपने मित्र श्री भागीरथ कानोडिया के साथ : स्मृति शेष

क्या ही अच्छा हो कि इन दोनों भाइयों के विस्तृत जीवन-चरित प्रकाशित हों।

23

स्वर्गीय अमीरचन्द बम्बवाल

23 मार्च, 1914 को मैं दिल्ली छोड़कर घर लौट रहा था और कई सुपरिचित व्यक्ति स्टेशन पर पधारे थे। सौ० बहन सत्यवती मलिक तो थीं ही और श्रद्धेय बम्बवाल जी भी थे। जब गाड़ी चलने वाली हुई, बहन जी ने बहुत-से फल मुझे भेंट कर दिये। हिन्दी प्रेमी एक महाराष्ट्रीय युवक पाटिल ने मुझसे कहा, "देखिये बम्बवाल जी के नेत्रों में आँसू झलक आये हैं !" वह कुछ दूर खड़े हुए थे और मैंने उनके चेहरे की तरफ देखा। अठहत्तर वर्षीय उन वयोवृद्ध सज्जन की सहृदयता का मैं क़ायल हो गया। उन्होंने केवल एक वाक्य ही कहा, "हमारा तो गुरुद्वारा ही उठ गया।" उनका अभिप्राय नार्थ एवेन्यू के ९९ नम्बर के फ़्लैट से था, जहाँ मैं दस वर्ष से रह रहा था और जो क्रान्तिकारियों का एक अड्डा ही बन गया था। बम्बवाल जी ने उसको यह सर्टीफ़िकेट दिया था।

बम्बवाल जी उम्र में मुझसे छः वर्ष बड़े थे—मेरे अग्रज थे—और वह मुझे अपने छोटे भाई के समान ही समझते थे।

वह अक्सर हमारे निवास स्थान पर पधारते थे, टमाटर के साथ—और उन्हें खाकर पानी पी लेते थे। मेरे बार-बार कहने पर भी उन्होंने कभी मेरे यहाँ भोजन नहीं किया। हाँ, कभी-कभी मेरे टेलीफ़ोन का प्रयोग वह अवश्य कर लिया करते थे। उनके लिए सबसे बड़ा आकर्षण यह था कि वहाँ कोई न कोई क्रान्तिकारी कार्यकर्त्ता उन्हें मिल जाता था ! डॉक्टर खानखोजे के साथ उनकी मुलाकात हमारे फ़्लैट पर ही हुई थी। एक बार बम्बवाल जी ने मुझे लज्जित कर दिया। वह 'स्वराज्य' (उर्दू) पत्र के संस्थापक तथा संपादक श्री शान्ति नारायण भटनागर को मेरे यहाँ ले आये !

भटनागर जी उत्तर प्रदेश में उग्र राजनैतिक विचारधारा के प्रवर्तक थे, यद्यपि उनसे भी पूर्व स्वर्गीय बालकृष्ण भट्ट जी इस पथ पर अग्रसर हो चुके थे।

'स्वराज्य' पत्र के आठ एडीटर एक के बाद एक जेल चले गये थे और उनमें कई को तो अण्डमान (काले पानी) जाना पड़ा था ! स्वयं बम्बवाल जी उस पत्र के नवें एडीटर थे, जिन पर मुक़दमा चल रहा था। श्रद्धेय टण्डन जी ने उन सब अभियोगों में वकालत की थी। बम्बवाल जी ने मुझसे कहा, "टण्डन जी ने मेरी जेब में बीस रुपये रखकर कहा, 'आप भाग जाइये,' मैंने उनकी आज्ञा का पालन किया और काले पानी की सज़ा से बाल-बाल बच गया।" इस मुक़दमे में बचत की एक गुंजाइश निकल आयी थी। जिस अंक में बम्बवाल जी का लेख छपा था उसके

वितरण होने से पहले ही उसकी सब प्रतियाँ सरकार ने ऑफ़िस पर धावा बोल कर ज़ब्त कर ली थीं। टण्डन जी का तर्क यही था कि जब प्रतियाँ जनता तक पहुँचने ही नहीं पायीं तो सरकार के ख़िलाफ़ असन्तोष या विद्रोह फैलाने का सवाल ही कैसे उठ सकता है! जब भटनागर जी मेरे निवास स्थान पर पधारे तो मैंने बम्बवाल जी से कहा, "आपने मुझ पर जुल्म किया है! मेरा फ़र्ज़ था कि मैं इनके स्थान की तीर्थ यात्रा करता। इसके बजाय आपने इन्हीं को तकलीफ़ दी।" बम्बवाल जी मुस्कराकर रह गये। दो-तीन दिन बाद मैं श्रद्धेय भटनागर जी के स्थान पर गया था। अपने घर पर मैंने उनके तथा बम्बवाल जी के कई चित्र खींचे थे जो उन्हें पसन्द भी आये थे। बम्बवाल जी ही भटनागर जी को पं० जवाहरलाल नेहरू जी से भी मिलाने ले गये थे।



स्वर्गीय अमीरचन्द बम्बवाल

बम्बवाल जी का सम्पूर्ण जीवन पत्रकारिता के क्षेत्र में ही व्यतीत हुआ था। सन् 1905 में उन्होंने अपना पत्र 'फ्रन्टियर एडवोकेट' निकाला था और सन् 1972 तक (अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक) वह अपने पत्रों का सम्पादन करते रहे। भारतवर्ष में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति निकले जो पूरे 67 वर्ष तक सम्पादक रहा हो।

न जाने कितनी बार वह जेल गये थे। यह एक आकस्मिक घटना थी। सन् 1907 की सूरत कांग्रेस में वह जेल से छूटकर ही शामिल हुए थे और फिर सन् 1921 की नागपुर कांग्रेस में भी वह जेल से मुक्त होने पर ही सम्मिलित हुए। तीसरी बार यही घटना लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर घटी। सूरत कांग्रेस में जो जूता तिलक महाराज पर फेंका गया था वह अमीरचन्द बम्बवाल के माथे पर लगा। काफ़ी ख़ून निकला था।

सरहदी प्रान्त के वह जाने-माने कार्यकर्त्ता थे। भारत रक्षा कानून का सर्वप्रथम वार उन्हीं के पत्र पर सन् 1910 में हुआ था। सरहदी गांधी ख़ान अब्दुल गफ़्फ़ारख़ां को कांग्रेस का चवन्नी वाला मेम्बर उन्होंने बनाया था। दरअसल वह सरहदी प्रान्त के चलते-फिरते इतिहास थे, और यह अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है कि वह सब इतिहास उनके स्वर्गवास के साथ विलीन हो गया। बम्बवाल जी ने बम बनाना भी सीखा था, पर बम और पिस्तौल का सहारा उन्होंने 1919 तक ही लिया। मैंने कई बार उनकी सेवा में निवेदन किया था कि वह अपने संस्मरण लिखवा दें पर ऐसा वह नहीं कर सके। वह पश्तो, उर्दू तथा अंग्रेज़ी तीनों के ही लेखक थे और हिन्दी भी बहुत साफ़ लिख लेते थे। एक बार महात्मा गांधी जी ने उनसे कहा था: "आपकी हिन्दी को मैं राष्ट्रभाषा मानता हूँ।" यह उस वक्त की बात है जब बम्बवाल जी ने बड़े संकोच के साथ अपना हिन्दी में लिखा हुआ बयान गांधी जी को भेंट किया।

बम्बवाल जी ने एक सन्दूक़ भरा हुआ मसाला फ्रण्टियर के राजनैतिक जीवन के बारे में इकट्ठा कर

लिया था, पर वह सन्दूक़ चोरी चला गया। इसके वाद दूसरी दुर्घटना यह घटी कि उनके पत्रों की पुरानी फ़ाइलें उनकी ग़ैर हाज़िरी में किसी नौकर ने रद्दी के भाव बेच डालीं। इन दोनों दुर्घटनाओं से उन्हें हार्दिक दुःख हुआ था।

स्वर्गीय बम्बवाल जी के जीवन के अनेक महत्त्व-पूर्ण संस्मरण उनके लेखों में भरे पड़े हैं, पर उनको खोज निकालना कोई आसान काम नहीं। यदि उनके जामाता श्री याज्ञवल्क दत्त इस श्राद्ध कार्य को अपने हाथ में ले लें तो वह उसे सफलतापूर्वक कर सकते हैं। उनके 25 जुलाई के पत्र से मुझे कुछ बातें मालूम हुई हैं:

"श्री बम्बवाल जी के पूज्य पिता जी का शुभ नाम था मेहता मेहरचन्द बम्बवाल। जब वह कुल जमा ढाई वर्ष के थे, उनकी माताजी का स्वर्गवास हो गया और जब 6 वर्ष के हुए, उनके पूज्य पिता जी चल बसे। अपने माता-पिता की वह एकमात्र बची हुई सन्तान थे।

"बम्बवाल जी का विवाह सन् 1907 में हुआ था, जिससे उनके तीन लड़कियाँ हुईं और एक लड़का। लड़के का नाम था पृथ्वीचन्द्र पर वह साढ़े तीन वर्ष की उम्र में ही एक आकस्मिक दुर्घटना में जाता रहा। उस दुर्घटना का वृत्तान्त अपनी अन्तिम मुलाकात में स्वयं बम्बवाल जी ने मुझे बतलाया था।

"पेशावर तथा रावलपिंडी में अनेक बार उनके घरों की तलाशी हुई थी। सरहदी प्रान्त के सभी आन्दोलनों में उन्होंने भाग लिया था। वहाँ के चीफ़ कमिश्नर साहब ने जब महात्मा गांधी जी को गालियाँ दी थीं तो बम्बवाल जी ने ही उनके ख़िलाफ़ ज़ोरदार आंदोलन किया था, जिसका नतीजा यह हुआ कि बम्बवाल जी नज़रबन्द कर दिये गये। उनकी युवावस्था का एक क़िस्सा बड़ा रोमांचकारी है। वह उस समय सिटी कांग्रेस के सेक्रेटरी थे। एक दिन जब वह अपने ऑफ़िस के नीचे बाज़ार में खड़े हुए थे और ऑफ़िस पर कांग्रेस का झंडा लहरा रहा था, एक फ़ौजी अफ़सर उधर से आ निकला और उसने बम्बवाल जी को हुक्म दिया, कि वह झंडे को उतार दें। उन्होंने साफ़ मना कर दिया जिस पर उस अफ़सर ने उन पर घूँसों की बौछार करके गिरा दिया और बहुत ठोकरें भी लगाईं पर बम्बवाल जी ने उसकी आज्ञा नहीं मानी। अकस्मात् उसी वक्त सिटी मजिस्ट्रेट केप्टिन···उधर से आ निकले और उन्होंने फ़ौज के ऑफ़िसर को डाँट बतलाकर बम्बवाल जी को बचा लिया।"

बम्बवाल जी के चले जाने से स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं का आँखों देखा विवरण भी उन्हीं के साथ विलीन हो गया! अब भी उनके द्वारा संगृहीत बचे-बचाये मसाले की रक्षा हो सकती है, यदि नेशनल आर्काइव्स में उसे सुरक्षित करा दिया जाय। उचित मूल्य देकर स्व० बम्बवाल जी के घर वालों से उसे लिया जा सकता है। समय-समय पर उन्होंने मुझे जो पत्र लिखे थे उनसे भी कुछ बहुमूल्य सामग्री मिल सकती है। उनका एक लम्बा ख़त मैंने 'धर्मयुग' में छपा दिया था।

जो क्रान्तिकारी साहित्य सरहदी प्रान्त के रास्ते भारत में आता था, उसे आगे बढ़ाकर भारत-भर में प्रचार करने का काम बम्बवाल जी के ज़िम्मे था। एक बार कमाण्डर-इन-चीफ़ की मोटर की दुर्घटना कराके उनकी हत्या का कार्य उन्हें सौंपा गया था। पर कमाण्डर-इन-चीफ़ की जगह उनके सेक्रेटरी ही पधारे। बम्बवाल जी ने ड्राइवर का काम किया पर उनकी हत्या नहीं की। इस पर क्रान्तिकारी पार्टी ने उनसे जवाब-तलब किया था। उन्होंने सेक्रेटरी साहब से अच्छी ड्राइवरी का सर्टीफ़िकेट ले लिया था। उसका फ़ोटो मेरे पास सुरक्षित था।

बम्बवाल जी ने अमर शहीद सेठ क़ासिम इस्माइल के बारे में मुझे एक पत्र भेजा था। वह सूरत के रहने

वाले थे और रंगून तथा सिंगापुर में उनका कारोबार और कोठियाँ थीं। शहीद रामचन्द्र के सम्पर्क में आने के बाद उनकी सहानुभूति क्रान्तिकारियों के साथ बढ़ गयी और उन्होंने क्रान्तिकारियों के कार्य में भरपूर सहयोग दिया! उन्होंने क्रान्तिकारियों के पत्र 'ग़दर' में छपे परचे सिंगापुर की फ़ौज में बाँटे और वह फ़ौज बाग़ी हो गयी। सेठ जी को फाँसी की सज़ा दे दी गयी। आज हम लोग सेठ क़ासिम इस्माइल का नाम भी नहीं जानते।

बम्बवाल जी को क्रान्तिकारियों की जितनी चिन्ता थी उतनी उनके साथी-संगियों में शायद ही किसी को हो। सरकार द्वारा उनको पेंशन दिलाने के लिए पार्लियामेण्ट में जो प्रस्ताव लाया गया था, उसके लिए उन्होंने बहुत कोशिश की थी। स्वर्गीय लद्धाराम जी के सुपुत्र तिलकराज को पेंशन दिलाने के लिए वह बहुत चिन्तित थे और उन्होंने मुझे लिखा था कि अगर यू० पी० सरकार उन्हें 75 रुपये महीने की पेंशन देगी तो वह उसे तिलकराज को दे देंगे। एक बार उन्हें शायद चार सौ रुपये केन्द्रीय सरकार से मिले थे, जो उन्होंने दिल्ली में रहकर नेशनल आर्काइव्स में क्रान्तिकारी आन्दोलन विषयक काग़ज़-पत्र तलाश करने में ख़र्च कर दिये।

यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि सरकार उन्हें कोई पेंशन नहीं दे सकी। उत्तर प्रदेशीय सरकार ने उन्हें पचहत्तर रुपये महीने पेंशन देना तय किया था, पर उसके लिए वह उँगलियों तथा अंगूठे की निशानी चाहती थी, जिसे उन्होंने घोर अपमानजनक समझा था।

अपने 2 अगस्त 1971 के पत्र में देहरादून से बम्बवाल जी ने मुझे लिखा था :

"अगर मैं 1948 में मौलाना आज़ाद की पेशकश 200 रु० की पेंशन से इंकार न कर देता तो इस वक्त तक मुझे 50 हज़ार रुपयों से कुछ अधिक मिल गये होते। मुझे इस बात की कल्पना भी नहीं हो सकती थी कि आज़ादी मिल जाने पर भी आई० सी० एस० में हमारे दुश्मन मौजूद रहेंगे और हमारे शासक उनके हाथों में कठपुतली बन जावेंगे। मैं आठ अगस्त को अपनी उम्र के 85 वर्ष पूरे कर लूँगा। इसलिए यदि कुछ पेंशन दे भी दी गयी तो मैं उसे कब ले सकूँगा! भाई लद्धाराम के बेटे की परेशानियों से मैं बहुत परेशान रहता हूँ। लद्धाराम जी ने देश की आज़ादी के लिए क़ुर्बानियाँ न देकर धन-दौलत कमाने के साथ प्यार किया होता तो उनकी औलाद भी आज बड़ी तालीम-याफ़्ता होती! यह एक इत्तिफ़ाक़ की बात है कि लाला हनुमन्त सहाय जी फाँसी से बच गये। पुलिस की नालायक़ी और असावधानी से



अमीरचन्द बम्बवाल तथा शान्ति नारायण भटनागर पण्डित जवाहरलाल नेहरू के साथ

ैं भी और मेरा एक साथी भी क़िस्मत से बच ाये !"

अगर अगस्त 1971 में उन्हें 75 रुपये की पेंशन मिल भी गई होती तो कुल जमा 6 महीने पेंशन पा सकते क्योंकि 10 फ़रवरी 1972 को उनका स्वर्ग-ास हो गया।

उन्हें इसी बात का हार्दिक दुःख था कि सरदार टेल ने नियमानुसार उनके पत्र को जो सरकारी वेज्ञापन दिलवाने की नीति निश्चित की थी, उसे ागे चलकर भारत सरकार ने त्याग दिया। इससे नके पत्र की रीढ़ की हड्डी ही टूट गई। विभाजन-र्व जिस कोटि के विज्ञापन उनके पत्र को मिलते थे स कोटि के यहाँ आनेपर भी मिलेंगे, यह नियम था।

श्रद्धेय बम्बवाल जी के अन्तिम दर्शन मुझे वम्बर 1971 में नयी दिल्ली में हुए। वह दो बार मेरे नवास-स्थान पर, रामकृष्णपुरम में पधारे थे। 86 र्ष की उम्र में भी वह खचाखच भरी हुई बस में बैठ-र मेरे पास आते थे। मैंने उनसे प्रार्थना की कि वह स में बैठने के ख़तरे में न पड़ें तो उन्होंने बड़ी विन-ता से कहा, "दिल्ली में एक बार मैंने टैक्सी की तो ौदह रुपये ख़र्च हो गये ! इतना पैसा मेरे पास कहाँ खा है ? अपने तथा अपनी पत्नी के इलाज के लिए पैसा नहीं जुटा पाता ! बस में बैठना कितना तरनाक है यह मैं जानता हूँ। एक बार तो क्कम-धक्का में मैं गिर भी पड़ा था और हाथ में ाफ़ी चोट भी आ गयी थी !" मैं चुप रह गया।

बम्बवाल जी अपने निजी मामलों के बारे में भी बातचीत नहीं करते थे। उन्होंने श्री याज्ञवल्क त का भी परिचय कभी नहीं दिया। उस दिन अकस्मात् मैं उनकी सन्तानों के बारे में पूछ बैठा, तब उन्होंने मुझे एक हृदय वेधक घटना सुनायी। उनका एक लड़का था जो साढ़े तीन वर्ष की उम्र में अकस्मात् चल बसा ! बात यह हुई कि उसने कहीं से चने ख़रीदकर अपना मुँह भर लिया। उसकी बड़ी बहन ने नाराज़ होकर उसके गाल पर एक थप्पड़ जमा दिया, जिससे उसी वक्त उसकी मौत हो गयी ! मेरी लड़की अत्यन्त दुःखित हुई और आगे चलकर जब उसका लड़का साढ़े तीन वर्ष का हुआ तो उसने मेरी गोद में उसे दे दिया !"

यह घटना बतलाते हुए बम्बवाल जी के नेत्र सजल हो गये थे। उनकी तीन पुत्रियाँ ही उनकी उत्तराधिकारिणी हैं।

बम्बवाल जी की याद मुझे भुलाये नहीं भूलती। खादी का कुर्ता तथा पाजामा पहने और सफ़ेद चद्दर लपेटे तथा खादी का झोला हाथ में लिये, वह अक्सर 99 नार्थ एवेन्यू पर दर्शन देते रहते थे और मेरे हर जन्म-दिवस पर मुझे आशीर्वाद भेजते थे। सन् 1905 में उन्होंने 'फ्रण्टियर एडवोकेट' उर्दू तथा पश्तो में निकाला था और फ़रवरी 1972 तक वह फ्रण्टियर मेल का सम्पादन करते रहे। वह जन्मजात पत्रकार थे। यह बड़े दुर्भाग्य की बात हुई कि पुराने क्रान्ति-कारियों में एक भी ऐसा न निकला, जो अपने छुट-भैयों का संगठन करता, उनकी खोज ख़बर रखता, और उनके दुःख-दर्द में सहायक होता। उर्दू प्रताप के श्री चमनलाल आज़ाद तथा श्री बम्बवाल जी ही इस बारे में अपवाद स्वरूप रहे। दूसरों की कीर्ति-रक्षा के लिए उत्सुक स्वतंत्रता-संग्राम के उस महान् सेनानी की स्मृति-रक्षा के लिए कुछ प्रयत्न हो सकेगा क्या ?

24

श्री सुन्दरलाल बहुगुणा

पार्वत्य प्रदेशों में जो लोग काम कर रहे हैं, उनमें श्री सुन्दरलाल बहुगुणा का नाम उल्लेखनीय है। वह काश्मीर से लेकर कोहिम तक हिमालय प्रदेश की पैदल-यात्रा कर चुके हैं और पहाड़ों पर जो चिपको आँदोलन प्रारम्भ हुआ था, उसके प्रवर्त्तकों में हैं। पर्यावरण-आँदोलन के कार्य कर्त्ता के नाते उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय-कीर्ति प्राप्त हो चुकी है। स्व० मीरा बहिन तथा सरला बहिन की सहायता उन्होंने की थी। श्री सुन्दरलाल जी उन अल्प-संख्यक व्यक्तियों में हैं जो बड़ी ईमानदारी और लगन के साथ महात्मा जी के रचनात्मक कार्यों को आगे बढ़ा रहे हैं। वैसे वह गढ़वाली हैं पर सम्पूर्ण हिमालय प्रदेश को अपना सेवा-क्षेत्र मानते हैं। मैं अपने लिए परम सौभाग्य की बात मानता हूँ कि उनके सम्पर्क में आ सका। वह बड़े मिलनसार व्यक्ति हैं और मुझसे मिलने तीन बार फीरोज़ाबाद पधार चुके हैं।



25

क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में

शहीदों और क्रान्तिकारियों के विषय में मेरी रुचि 64-65 वर्ष से रही है और मैंने अपनी पुस्तक 'प्रवासी भारतवासी' दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह संग्राम में शहीद कुमारी वलिअम्मा को समर्पित की थी। वह ग्रन्थ 728 पृष्ठ का था और उसकी भूमिका दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़, अम्बिका प्रसाद वाजपेयी और पण्डित तोताराम सनाढ्य जी ने लिखी थी। यह बात सन् 1918 की है। 'शहीदों का श्राद्ध' मेरे जीवन का मुख्य विषय कब बना, यह बात मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता पर अनुमानतः इसे भी चालीस वर्ष का समय हो गया होगा।

मैं यह बात अनेक बार लिख चुका हूँ कि स्वाधीनता संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लेने का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ। एक बार सन् 1921 में जब मेरे साथी श्री सम्पूर्णानन्द जी जेल गये थे, मेरे मन में भी सत्याग्रह संग्राम में शामिल होने की इच्छा उत्पन्न हुई थी, तब मैं सत्याग्रह आश्रम में था और यों ही चलते-चलाते प्रसंगवश मैंने अपनी इच्छा पूज्य बापू से प्रकट कर दी थी। उन्होंने तुरन्त ही कहा, "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" (यानी दूसरे का धर्म पालन करना भयंकर है, अपने धर्म-पालन में मर जाना भी श्रेयस्कर है।) प्रवासी भारतीयों का जो काम तुमने अपने सिर ले लिया है उसी को करते रहो। जेल जाने की मत सोचो।" महात्मा जी ने स्वामी भवानी दयाल जी संन्यासी को भी यही उपदेश दिया था। उन्होंने भवानी दयाल जी से कहा था, "जेल जाने वाले तो हज़ारों ही हैं पर प्रवासी भारतीयों के काम करने वाले तो बहुत थोड़े हैं। उसी अपने कार्य में लगे रहो।"

यद्यपि सक्रिय रूप में तो मैं विवाद-ग्रस्त राजनीति में भाग न ले सका पर राजनैतिक कार्यकर्ताओं और क्रान्तिकारियों के प्रति मेरे हृदय में सदैव आदर की भावना रही है। कई बार तो मैंने जान-बूझकर ख़तरे में पड़कर उन्हें आश्रय दिया था।

प्रोफ़ेसर रंजन (जिनका असली नाम शायद रघुनाथ था) अजमेर जेल से भागकर कुण्डेश्वर पहुँचे थे और मेरे पास कई महीने रहे थे। मैंने उनके लिए पचास रुपये महीने का प्रबन्ध कर दिया था। वह एम० ए० की परीक्षा देने नागपुर गये पर वहाँ पकड़े गये। उन पर मुक़दमा चला और जेल भी हुई। एक अन्य सज्जन तार काटकर शरण लेने पहुँचे थे। वह मऊ आजमगढ़ के निवासी थे। मैंने उनका नाम भी नहीं पूछा और बनावटी नाम 'तिवारी' रख दिया। वह कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। वह चाँद के गंजे थे और मुझे पता लगा कि ब्रिटिश ख़ुफ़िया पुलिस उनकी तलाश में है। तब मैंने उन्हें पचास रुपये देकर एक

टेढ़े-मेढ़े रास्ते से जबलपुर भिजवा दिया।

एक साम्यवादी लेखक बरेली से वहाँ पहुँचे थे और कुछ दिन वहाँ रहे भी थे। महाराज श्री वीरसिंह जूदेव को जब मालूम हुआ कि अंग्रेज़ी ख़ुफ़िया पुलिस की कुदृष्टि हमारे कुण्डेश्वर आश्रम पर है तो उन्होंने मुझसे प्राइवेट तौर पर कहा था : "कुण्डेश्वर तो अब काफ़ी प्रसिद्ध हो गया है और वहाँ किसी क्रान्तिकारी को ठहराना ख़तरे से ख़ाली नहीं। अगर किसी को शरण देनी ही है तो जतारा के जंगल में भेज दिया कीजिये।" भाई रामसेवक रावत, जो आजकल झाँसी के 'जागरण' में कार्य कर रहे हैं, जिनका हाथ बम बनाने में जाता रहा था, कई महीने कुण्डेश्वर में मेरे साथ रहे थे और वहीं से आन्दोलन का संचालन भी करते रहते थे। झाँसी की पुलिस को इस बात की आशंका हो गयी थी और उसने ओरछा दरबार को इस बारे में लिखा भी था, पर महाराज ने उन्हें झाँसी जिले के अधिकारियों के सुपुर्द न होने दिया।



प्रसिद्ध क्रान्तिकारी शहीद अश्फ़ाकुल्ला

जब मैं 'विशाल भारत' का सम्पादन करता था तैयब शेख़ नामक एक क्रान्तिकारी को मैंने अपने यहाँ टाइपिस्ट मुक़र्रर कर दिया था। वह एम० एन० राय के ख़ास आदमी थे और जर्मनी में रह भी चुके थे। वह बम्बई में साम्यवादी संस्थाओं के सेक्रेटरी थे और यरवदा जेल में दो वर्ष तक कठोर यातनाएँ भोग चुके थे। बम्बई में उन्हें पुलिस ने पकड़ लिया और वह मुक़दमा चलाने के लिए उन्हें कलकत्ता ला रही थी। नागपुर पर उनके सिपाही बदले गये। उन सिपाहियों से तैयब शेख़ ने दोस्ती कर ली और कलकत्ते पहुँचकर जब लाल बाज़ार थाने में वह ले जाये जा रहे थे, उन्होंने सिपाहियों से कहा, "आप लोग कृपा करके मेरी बेड़ियाँ खोल दीजिये। मैं यहाँ से नज़दीक 'हिन्द जदीद' के कार्यालय में पाख़ाने हो आऊँ।" सिपाहियों ने बेड़ी खोल दी। तैयब शेख़ 'हिन्द जदीद' ऑफ़िस में गये और पिछवाड़े से भागकर डेढ़ मील दूर एमहर्स्ट स्ट्रीट में मेरे वाले कमरे में पहुँच गये। मैंने उन्हें आश्चर्य से देखा और कहा, "डॉक्टर सिंह, तुम यहाँ कैसे?" वह बोले, "पण्डित, मुझे बचाओ। कुत्ते मेरा पीछा कर रहे हैं।" उनके हाथ में बेड़ियाँ पड़ी हुई थीं। मैंने तुरन्त ही 'विशाल भारत' के चपरासी रामधन को रेती लाने के लिए भेजा और तैयब शेख़ को एक छोटी कोठरी में ही ठहरा दिया। रेती आने पर मेरे छोटे भाई रामनारायण ने बेड़ियाँ काट दी थीं। मैंने उन्हें नये कपड़े पहिनाकर रामधन के साथ 'विशाल भारत' कार्यालय की छत पर ठहरने के लिए भेज दिया। प्रातःकाल के अख़बारों में बड़ी सनसनीख़ेज़ ख़बर छपी : "कम्युनिस्ट कार्यकर्ता सिपाहियों को चकमा देकर भाग गया।" प्रातःकाल उठकर मैं 'विशाल भारत' ऑफ़िस गया और शेख़ को अपने साथ एक बंगाली क्रान्तिकारी सज्जन के पास ले गया और

उसके प्रयोग ने उनकी जान बचा दी। उनके पाख़ाने और क़ै साफ़ करने का काम मुझको ही करना पड़ा था। पूर्ण स्वस्थ होने पर मैंने पच्चीस रुपये देकर उन्हें बम्बई भिजवा दिया था। एम० एन० राय के आगरा आने पर मैंने यह घटना उन्हें सुनाई थी पर उन्होंने एक शब्द भी धन्यवाद का नहीं कहा था। कलकत्ते में रामधन को एम० एन० राय एवं उनकी पत्नी एलिन राय से मैंने ही मिलाया था।

कलकत्ते में ही आसामी बाबू दो बार मेरे कमरे पर ठहरे थे। वह क्रान्तिकारी पार्टी के मुखिया थे और उनके सिर पर नौ हज़ार रुपये का पुरस्कार था। वह कटियारी (हरदोई) रियासत में पहलवान के रूप में रहते थे। उन्होंने तरनतारन में एक सरदार सिक्ख के यहाँ भी डाका डाला था। सुभाष बाबू के वह कृपापात्र थे और क़िदवई साहब भी उन्हें जानते थे। भाई श्रीराम शर्मा ने ही उनको मेरे पास ठहरने के लिए भेज दिया था। वह कई बंगाली क्रान्तिकारियों को स्त्री के वेश



प्रसिद्ध क्रान्तिकारी आसामी बाबू

भागीरथ कनौडिया से लाकर पचास रुपये उन्हें दे दिये। वह मारवाड़ी सेठ के वेश में फ़ैज़ाबाद जाकर आचार्य नरेन्द्रदेव के यहाँ ठहरे थे। आचार्य जी से उनका परिचय मैंने अपने मकान पर कलकत्ते में ही करा दिया था। आचार्य जी ने उन्हें रेलवे गार्ड के साथ बिठलाकर गुजरात भिजवा दिया था। उसके बाद वह पकड़ लिए गये और उन पर मुक़दमा भी चला और कई महीने की जेल भी हुई। अगर पुलिस को इस घटना की पूरी-पूरी जानकारी होती तो मुझे भी अवश्य जेल की यात्रा करनी पड़ती।

कलकत्ते में तैयब शेख़ मेरे मकान पर ही रहते थे और रात में बड़ी देर में आ पाते थे। एक बार कहीं बाहर भोजन करने के बाद उन्हें हैज़ा हो गया। सौभाग्य से कपूरारिष्ट मेरे पास था और समय पर

बाबा पृथ्वीसिंह आज़ाद



में कटियारी ले गये थे। कटियारी के राजा साहब रुक्मांगद सिंह पहलवानों के संरक्षक थे। उनके यहाँ पचास पहलवान आश्रय पा रहे थे। आसामी बाबू बड़े चरित्रवान व्यक्ति थे। एक बार प्रातःकाल पाँच बजे, जब वह दण्ड-बैठक लगा रहे थे, तीन-चार युवतियों ने उन्हें घेर लिया। वह उन्हें धक्का देकर यह कहते हुए भाग गये कि मैं बदमाशी नहीं करूँगा। आसामी बाबू को लखनऊ में किसी ने जहर दे दिया था। उस समय वह श्री जगनप्रसाद रावत के कमरे में ठहरे थे। उनके असली नाम का किसी को भी ज्ञान न था।

शहीदों के श्राद्ध का काम लेने के बाद मुझे अनेक क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। स्वतन्त्रता-संग्राम-सेनानियों के शिरोमणि बाबा पृथ्वीसिंह आज़ाद से मेरा परिचय सन् 1953 में हुआ था जब वह स्वयं मेरे पास पधारे थे और चीन जाने का प्रयत्न कर रहे थे। पिछले तीस वर्षों से मैं उनका कृपापात्र बना हुआ हूँ। झाँसी के क्रान्तिकारी भगवान दास माहौर तथा उनके सहयोगी सदाशिवराव से भी मेरा घनिष्ठ परिचय हो गया। माहौर जी की रचनाओं को प्रकाश में लाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। झाँसी के पण्डित परमानन्द जी के भी निकट सम्पर्क में मैं आ सका। उनको भेंट किए गए अभिनन्दन ग्रन्थ का सम्पादन भी मेरे द्वारा ही हुआ था। लाहौर के क्रान्तिकारी भाई परमानन्द जी से भी मेरा परिचय था। दीनबन्धु एण्ड्रूज़ ने उनके बारे में लेख लिखकर उन्हें काले पानी से मुक्त कराया था। वह एण्ड्रूज़ से मिलने के लिए शान्ति-निकेतन आये थे और वहीं मैंने उनके दर्शन किये थे। भाई परमानन्द जी ने मुझसे कहा था, "मैं एक ऋषि से मिलने शान्ति-निकेतन आया हूँ।" आगे चलकर श्रीयुत शिववर्मा, काशीराम, वैशम्पायन और सुशीला देवी से भी मेरा परिचय हुआ। मैनपुरी कान्स्पिरेसी के क्रन्तिकारियों में श्री दम्भी लाल पाण्डेय फर्रुख़ाबाद में मेरे शिष्य रह चुके



डॉ० भगवानदास माहौर पुलिस हिरासत में : एक दुर्लभ चित्र

थे और भाई शम्भूदयाल सक्सेना मुझसे मिलने यहाँ फीरोज़ाबाद पधारे थे। उन्होंने बताया कि 'फ़िजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष' पुस्तक उन सब को पढ़ने को दी जाती थी और उन सबने उससे बड़ी प्रेरणा ग्रहण की थी। बाबू शम्भूदयाल सक्सेना, मेरे सहयोगी डॉ० मथुराप्रसाद मानव, जो इस पुस्तक के लिपिक हैं, के

पूज्य चाचा थे। इस पुस्तक से लोकनायक जयप्रकाश नारायण जी ने भी प्रेरणा प्राप्त की थी। उनके जीवन-चरित में श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी ने इसका उल्लेख किया है। स्वयं जयप्रकाश जी ने भी फीरोज़ाबाद के भारती भवन की निरीक्षण पुस्तिका में यह लिखा है।

सन् 1944 में मैंने 15-16 दिन तक बिहार के छपरा ज़िले की यात्रा की थी और अमर शहीद फुलैना बाबू के बारे में भाषण दिये थे। उन्हें सुनकर पुलिस ने मेरे नाम वारण्ट जारी कर दिया था। जब मैं शिवान में ठहरा हुआ था उस समय एक रात को पुलिस ने प्राइवेट तौर पर मुझे ख़बर दे दी कि आपके नाम वारण्ट कट चुका है। इस कारण बचने के लिए कल ही बिहार छोड़ जाइये। बस दूसरे दिन मैं गोरखपुर के लिए रवाना हो गया। ब्रिटिश-शासन-काल में यह नियम था कि एक प्रान्त में जारी किया गया वारण्ट अन्य प्रान्त में भी लागू हो जाता था। इसलिए वह वारण्ट यू० पी० में जारी हो गया था। तब मैं गोरखपुर छोड़कर टीकमगढ़ पहुँच गया। वहाँ मैंने महाराज साहब श्री वीरसिंह जूदेव से कहा, "मुझे भी जेल की हवा खा आने दीजिये।" महाराज साहब ने राज्य के पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट से मेरे सामने तो कहा, "चौबे जी को झाँसी पुलिस के सुपुर्द कर दो।" पर प्राइवेट तौर पर उन्हें मना कर दिया था। कुछ दिनों बाद महाराज साहब ने कहा, "चौबे जी, जेल से तुम ज़िन्दा नहीं लौटते। वहाँ तुम्हारे पेड़ों का और जवाकुसुम का इन्तज़ाम कौन करता? इसलिए मैंने सुपरिण्टेण्डेण्ट से मना कर दिया था।" पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब सेंट स्टीफेंस कॉलेज दिल्ली में दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के शिष्य रह चुके थे और क्रिकेट के अच्छे खिलाड़ी थे और वह मेरे प्रति श्रद्धा भी रखते थे। इस प्रकार मैं जेल जाते-जाते बच गया।

स्व० फुलैना बाबू पर उनकी पत्नी श्रीमती तारारानी ने 'उनकी याद' नामक पुस्तक लिखी है, उसकी पुस्तक की भूमिका मैंने ही लिखी थी। उस पुस्तक का द्वितीय संस्करण राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, छाप रहे हैं।

26

महाकवियों के सम्पर्क में

हिन्दी के जिन महाकवियों के निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है उनमें कविवर शंकर, श्रीधर पाठक, सत्यनारायण कविरत्न, माखन लाल चतुर्वेदी, जग्गन्नाथ दास रत्नाकर, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और रामधारी सिंह 'दिनकर' आदि प्रमुख हैं।

पं० नाथूराम शर्मा शंकर जी के निवास स्थान की मैंने तीर्थ यात्रा अपने अनुज स्व० रामनारायण चतुर्वेदी के साथ की थी। उस समय उन्होंने हम लोगों के स्वागतार्थ आशीर्वाद स्वरूप एक कविता रची थी।

कविवर स्व० श्रीधर पाठक के पास उनके निवास स्थान पद्मकोट (लूकरगंज, इलाहाबाद) पर मुझे सोलह दिन रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और जब कविवर रत्नाकर जी कलकत्ते पधारे थे तो निरंतर बारह दिन तक मैंने उनकी सेवा में उपस्थित होकर उनके जीवन- चरित-सम्बन्धी नोट्स लिये थे। सत्यनारायण जी से तो सन् 1912 से ही परिचय था और उनकी कीर्ति-रक्षा के लिए कुछ सेवा भी मुझसे बन पड़ी। बन्धुवर नवीन जी और दिनकर जी दोनों ही की कृपा 'विशाल भारत' पर रही थी और राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण जी गुप्त के निवास स्थान चिरगाँव की तीर्थ यात्रा मैंने तीन-चार बार की थी। श्री सियाराम जी के विषय में तो मैंने एक लेख भी लिखा था। अपनी रुचि के कवि, श्री माखनलाल चतुर्वेदी से तो मैं सन् 1916 से ही परिचित था। उनके प्रथम दर्शन मैंने इन्दौर में किये थे। उनसे मैंने बार-बार आग्रह किया था कि अपनी कविताओं के संग्रह छपावें। उन्होंने तकाज़ों से तंग आकर अपनी सब कविताएँ मुझे भेज दी थीं पर मैं छपा न सका था। बाद में उनके कई काव्य-संग्रह प्रकाशित हो गये थे। श्री हरिशंकर जी से तो घनिष्ठ सम्बन्ध था ही और कविवर बच्चन जी ने भी 'विशाल भारत' पर कृपा की थी। इन कवियों के विषय में अनेक लेख लिख चुका हूँ। यहाँ कुछ विशिष्ट घटनाएँ ही देना पर्याप्त होगा।

शंकर जी तथा उनके कुटुम्ब के 100 वर्ष से अधिक आर्यसमाज की सेवा में व्यतीत हुए थे। कविवर निराला जी शंकर जी के बड़े भक्त थे। एक बार जब वह शंकर सदन आगरे में ठहरे हुए थे, उन्होंने हरिशंकर जी से पूछा, "क्या घर के बालक भी कुछ लिख लेते हैं?" उन्होंने उत्तर दिया, "तीनों भाई दयाशंकर, कृपाशंकर और विद्याशंकर कुछ-कुछ लिख तो लेते हैं।" इस पर निराला जी बोले, "तब तो यह सिद्धों का कुटुम्ब है।" यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि 'शंकर सर्वस्व' का द्वितीय संस्करण भी नहीं छप सका। बन्धुवर हरिशंकर जी के स्वर्गवास के बाद उनकी स्मृति-रक्षा के लिए आर्यसमाज ने



बालकृष्ण शर्मा नवीन, स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी की पौत्री को लिए हुए : एक भावपूर्ण मुद्रा

कुछ भी नहीं किया। आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश ने केवल 114 रुपये उनके पत्रों की प्रतिलिपियां टाइप कराने के लिए दिये थे। फीरोज़ाबाद के डी० ए० वी० कॉलेज ने उन पर एक विशेषांक निकाल दिया था।

स्व० वंशीधर जी विद्यालंकार भी बहुत अच्छे कवि थे। महर्षि दयानन्द जन्म शताब्दी के अवसर पर एक कवि-सम्मेलन मथुरा में हुआ था जिसके सभापति शंकर जी थे। उस सम्मेलन का मैंने संचालन किया था। उस अवसर पर श्री वंशीधर जी ने अपनी वह प्रसिद्ध कविता सुनायी थी : "दरवाज़े को खोल दे माली, मुझे बुलाती डाली।" उपस्थित जनता ने उसे बहुत प्रसन्द किया था। मौलवी अब्दुल हक साहब को भी श्री वंशीधर जी की कविताएँ बहुत पसन्द आयीं और उन्होंने वंशीधर जी को अपनी उस्मानिया यूनिवर्सिटी में हिन्दी विभाग का अध्यक्ष बना दिया था।

अवधी के महाकवि स्व० वंशीधर शुक्ल जी से भी मेरा अच्छा-ख़ासा परिचय था। मैंने उनकी तीन कविताएँ—कवि सम्मेलन, मुशायरा और सिनेमा—'सुमित्रा' के विशेषांक में छपा दी थीं। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन जी का तो यह मत था कि महाकवि तुलसी के बाद सबसे अधिक सशक्त अवधी भाषा वंशीधर जी ने ही लिखी थी। प्रिंसिपल मनोरंजन ने भी भोजपुरी में कई शक्तिशाली रचनाएँ की थीं। आवश्यकता इस बात की है कि जनपदीय भाषाओं की कविताओं का एक सर्वोत्तम संग्रह छपाया जाये। मनोरंजन जी ने 'फिरंगिया' नामक कविता बहुत अच्छी लिखी थी। श्री जगदम्बा प्रसाद हितैषी से मेरा अच्छा परिचय था। वृन्दावन के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में उन्होंने राजा महेन्द्र प्रताप पर एक अच्छी कविता सुनायी थी। वृन्दावन में जो सम्मेलन हुआ था वह राजा महेन्द्र प्रताप द्वारा गुरुकुल वृन्दावन को दी हुई भूमि पर ही हुआ था पर राजा साहब को किसी ने याद भी नहीं किया था। यह बात हितैषी जी को बहुत अखरी तब उन्होंने तत्काल उस कविता की रचना की और सुनायी।

कविवर नवीन जी का मैं विशेष कृपा पात्र था। अपने सर्वोत्तम पत्र उन्होंने मुझे ही लिखे थे। वह बड़े मनमौजी आदमी थे और पत्र लिखते समय अपने विचारों को सर्वथा अनियन्त्रित ढंग से प्रगट कर देते थे। उनके कुछ पत्र तो अश्लीलता की सीमा तक पहुँच जाते थे। नवीन जी के स्वर्गवास पर अनेक विशेषांक निकले थे। वह एक बात में बड़े सौभाग्यशाली रहे कि उन पर लिखे हुए श्री लक्ष्मीनारायण

दूबे के शोध ग्रन्थ की गणना सर्वोत्तम शोध ग्रन्थों में की जाती है। मैंने 'नर्मदा' के विशेषांक में उनके पत्रों को छाप दिया था।

कविवर दिनकर जी तो 'विशाल भारत' के ख़ास कवि थे। उनका उदय भी 'विशाल भारत' के द्वारा ही हुआ था। बिहार के एक प्रान्तीय सम्मेलन में मैंने कह भी दिया था, "यदि कविवर दिनकर जी अफ्रीका में होते तो मैं वहाँ भी उनके दर्शनार्थ जाता।" मेरे इस कथन का दुष्परिणाम यह भी हुआ कि कितने ही व्यक्ति दिनकर जी के विरोधी बन गये। दिनकर जी की वाणी में बड़ा ओज था और अपनी सुन्दर कविताओं का इतने अच्छे ढंग से सुनाने वाला हिन्दी में दूसरा कवि बच्चन जी के सिवा नहीं था। चूँकि मैं उम्र में उनसे बड़ा था इसलिए वह मेरे प्रति श्रद्धा रखते थे। मेरे जन्म-दिवस पर अपनी एक सुन्दर कविता उन्होंने मुझे भेंट की थी।



→ पण्डित श्रीधर पाठक

27

कुछ विदेशी महापुरुष

वैसे तो महापुरुषों को किसी देश-विदेश की सीमा में बाँध देना अपने संकीर्ण दृष्टिकोण का ही परिचय देना है, फिर भी सुविधा की दृष्टि से हमें यह विभाजन स्वीकार करना पड़ा। महापुरुष तो विश्व मानव होते हैं। महात्मा गांधी को सिर्फ़ भारत में और दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ को केवल इंग्लैंड में सीमित नहीं किया जा सकता है। यदि धृष्टता क्षमा की जाये तो मैं कहूँगा कि मेरा दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही व्यापक रहा है। 'हमारे आराध्य' नामक मेरी पुस्तिका में जिन 17 मानवों का चरित्र-चित्रण है, वे सब विदेशी ही हैं और 'सेतु बन्धु' में भी, जिसका द्वितीय संस्करण 'विश्व की विभूतियाँ' के नाम से छप गया है, अनेक विदेशियों के रेखाचित्र हैं। महापुरुषों को उत्पन्न करने का ठेका किसी देश-विशेष ने नहीं लिया है, यद्यपि उग्र देशभक्ति से प्रेरित व्यक्ति सर्वोपरि अपने देश को ही महत्त्व देते रहे हैं। एक पुरानी उक्ति है "एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मनः, स्वं-स्वं चरित्रम् शिक्षेरन् पृथिव्याँ सर्व मानवाः" यानी पृथ्वी के सभी मानवों ने भारत देश में उत्पन्न महापुरुषों के चरित्र से शिक्षा ग्रहण की है।

अब विश्व बहुत छोटा हो गया है और उसके देश एक दूसरे के बहुत निकट आ चुके हैं। जो घटना न्यूयार्क में घटती है, कुछ मिनटों में ही उसके समाचार भारत में आ जाते हैं। अब हमारा मूल मन्त्र होना चाहिए "उदारचरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम्।"

जिन विदेशी महापुरुषों या विशिष्ट व्यक्तियों के दर्शन मैं भारत में ही कर सका, उनमें मुख्य हैं— जापान के गांधी कागावा, नोबुल पुरस्कार विजेता पर्ल बक, विश्वविख्यात पत्रकार लुई फ़िशर, मिस म्यूरियल लीस्टर। हाँ, समय-समय पर ख़ास-ख़ास विदेशियों से सम्पर्क होता रहा है। कुमारी मार्जोरी साइक्स के साथ मैंने दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ की जीवनी के लेखन में कार्य किया था। वह कुण्डेश्वर (टीकमगढ़) में महीने-भर मेरी अतिथि भी रही थीं। वह तो अब भारतीय नागरिक ही बन गयी हैं। श्रीयुत् होरेश एलेक्ज़ेण्डर तथा मिस अगाथा हेरीसन के दर्शन मुझे मंत्री कालोनी, दिल्ली में हुए थे जहाँ वे दोनों महात्मा गांधी जी से मिलने पधारे थे। उन दोनों ने ही मुझसे आग्रह करके दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ की जीवनी में मिस मार्जोरी साइक्स को सहयोग देने के लिए कहा था।

कलकत्ते में मिस शेफ़र्ड पतित स्त्रियों के उद्धार का कार्य कर रही थीं, साल-डेढ़ साल तक मैंने उन्हें भी सहयोग दिया था।

मिस म्यूरियल लीस्टर से परिचय

यह घटना सन् 1925 या '26 की है। श्री कृष्णदत्त पालीवाल कांग्रेस की ओर से एसेम्बली का चुनाव लड़ रहे थे और उनके साथ एक अंग्रेज महिला भी पधारी थीं जो भारतीय ग्रामों की दशा देखने को उत्सुक थीं। मुझे एक सज्जन ने सूचना दी कि वह साबरमती आश्रम में महात्मा जी के दर्शन करती हुई आई हैं और श्रीरामचन्द्र पालीवाल के घर पर ठहरी हैं। मैं तुरन्त ही वहाँ गया और मैंने पालीवाल जी से पूछा, 'इधर ठहरने की आपने क्या व्यवस्था की है?" पालीवाल जी ने सहज भाव से कहा, 'हमारे पास तो केवल एक ही जगह है, पौरी का चबूतरा।" मैंने उस पर एतराज़ किया तो उन्होंने कहा, "आप अगर बेहतर प्रबन्ध कर सकते हैं तो करें।" मैं तुरन्त बाबू हजारीलाल चतुर्वेदी की सेवा में उपस्थित हुआ और उनसे प्रार्थना की कि वह चौबे मुहल्ला स्थित अपनी पीली कोठी की ताली मुझे दे दें जहाँ मैं मिस म्यूरियल लीस्टर को ठहरा सकूँ। उन्होंने ताली मेरे सुपर्द कर दी और तब उस कोठी के हॉल में उन्हें ठहरा दिया गया। वह बड़ी प्रसन्नतापूर्वक वहाँ ठहरीं और प्रातःकाल उन्होंने कहा, "यहाँ के निर्मल आकाश को देखकर मुझे बड़ा आनन्द आया।" कुछ देर बाद मिस म्यूरियल लीस्टर को मैं अपने घर ताई जी और अपनी पत्नी से मिलाने ले आया। उन दोनों ने स्वागत सत्कार के बाद मुझसे कहा, "इनसे पूछिये कि इन्होंने शादी की?" इस पर मुझे कुछ हँसी आ गयी। मिस म्यूरियल ने पूछा, "ये क्या पूछ रही हैं?" तो मैंने अंग्रेज़ी में उनका प्रश्न दुहरा दिया। इस पर म्यूरियल लीस्टर ने अंग्रेज़ी में कहा, "टेल देम, आई एम ए वर्कर।" (इनसे कहिए कि मैं तो एक काम करने वाली स्त्री हूँ।) मैंने उनकी बात घरवालों को समझा दी।

जब पालीवाल जी के साथ मिस म्यूरियल लीस्टर ग्राम-भ्रमण के लिए जाने लगीं तो पालीवाल जी ने कहा कि आप इनके दुभाषिया बन जाइये। मैंने यह कार्य सहर्ष स्वीकार कर लिया और पाँच-छः घण्टे तक दुभाषिये का काम करता रहा। इस प्रकार मेरा उनसे कुछ परिचय हो गया। उसके बाद मैंने विलायत से उनके कार्य का विवरण भी मँगा लिया और उस पर एक लेख लिखकर पत्रों में छपवा भी दिया।

जब वह साबरमती में महात्मा जी से मिली थीं तो उन्होंने महात्मा जी से प्रार्थना की कि आप हमारे देश इंग्लैंड की यात्रा कीजिये। महात्मा जी ने उत्तर दिया, "मैं आप लोगों को क्या सिखा सकता हूँ?" (वॉट कैन आई टीच यू?) इस पर मिस म्यूरियल लीस्टर ने तपाक से कहा, "आपसे कौन कहता है कि आप हमें कुछ सिखावें, आप हमसे कुछ सीखें।"—(हू आस्क्स यू टू टीच अस, यू मस्ट लर्न समथिंग फ्रॉम अस।)महात्मा जी जवाब खाने वाले आदमी नहीं थे। उन्होंने फ़ौरन ही उत्तर दिया, "बिल्कुल ठीक। मैं इंग्लैंड आऊँगा। पर इस शर्त पर कि आप इंग्लैंड, वेल्स और स्कॉटलैंड की यात्रा करके अपने देश-वासियों को बतलाइये कि आपकी ब्रिटिश सरकार किस तरह भारतीयों को शराब का ज़हर पिला रही है।" वह राज़ी हो गयीं और उन्होंने वचन दिया कि वह ऐसा अवश्य करेंगी। अपने वचन का उन्होंने पालन भी किया। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब महात्मा जी गोलमेज़ कान्फ्रेंस में विलायत गये थे तो वह अन्यत्र न ठहरकर मिस म्यूरियल लीस्टर के कार्यस्थल 'किंग्सले हॉल' में ही ठहरे थे। मिस म्यूरिल लीस्टर ने आगे चलकर एक पुस्तक लिखी जिसका नाम था 'एण्टरटेनिंग गांधी' यानी गांधी जी का आतिथ्य।

किंग्सले मिस म्यूरियल लीस्टर का भाई था। उसके स्वर्गवास के बाद उसकी स्मृति में मिस म्यूरियल लीस्टर ने किंग्सले हॉल की स्थापना की

थी। इनके पिता जी ने इन दोनों के लिए जो पैसा छोड़ा था उससे 500 रुपये के क़रीब ब्याज आता था। वह सब रुपया मिस म्यूरियल लीस्टर ने लन्दन के मुहल्ले के बच्चों और स्त्रियों की सेवा के लिए अर्पित कर दिया। मिस म्यूरियल लीस्टर बड़ी दबंग महिला थीं। उन्होंने जापान की यात्रा के समय जापानियों को ख़ासी डाँट भी बतला दी थी क्योंकि उन दिनों जापान चीन पर ज़ुल्म कर रहा था। उन्होंने दो किताबें और भी लिखी थीं—'माई होस्ट दि हिन्दू' एवं 'इट ऑकर्ड टू मी।'

मिस म्यूरियल लीस्टर को विलायत में जेल की यात्रा भी करनी पड़ी थी। उनकी माँग थी कि बच्चों को जो दूध दिया जाय वह पूर्ण रूप से जाँच के बाद ही दिया जाय। इस अभियान में वह विजयी हुई थीं।

नोबुल पुरस्कार विजेता : पर्ल बक

जिन दिनों मैं 'विशाल भारत' में काम कर रहा था, मेरे नाम एक फ़ोन आया। वह कलकत्ते के एक विख्यात ग्रैंड होटल से था। मैंने फ़ोन उठाया तो उधर से किसी सज्जन ने कहा, "मैं अमेरिका से आया हूँ और गांधीवादी लेखक रिचर्ड ग्रिग द्वारा लिखित परिचय-पत्र आपके नाम लाया हूँ। आपसे मिलने कब आऊँ?" मैंने तुरन्त ही उत्तर दिया, "आपको कष्ट करने की ज़रूरत नहीं है मैं ख़ुद ही अपकी सेवा में हाज़िर हो रहा हूँ।" इतना कहकर मैं होटल ग्रैंड पहुँचा। वहाँ 'एशिया' नामक पत्र के संचालक मि० रिचर्ड वाल्र्श उपस्थित थे। उनसे घण्टे भर बातचीत होती रही। चलते वक्त उन्होंने कहा, "क्या आप एक अमेरिकन लेखिका पर्ल बक से मिलना पसन्द करेंगे? वह छद्म नाम से यात्रा कर रही हैं। पुलिटज़र प्राइज़ की वह विजेता हैं। वह ग्रेट ईस्टर्न होटल में ठहरी हैं।" मैंने उत्तर दिया, "मैं अवश्य उनकी सेवा में उपस्थित होऊँगा।" अकस्मात् उस दिन होली पड़वा थी। मुझे इस बात की पूरी आशंका थी कि मुझ पर कोई न कोई रंग अवश्य डालेगा। इसलिए मैंने एक जोड़ी कपड़े अपने साथ ले लिये थे। घोड़ा गाड़ी तक पहुँचते ही एक सज्जन ने मुझ पर रंग डाल दिया। घोड़ा गाड़ी के भीतर मैंने अपने कपड़े बदले और रंगीन कपड़ों का पुलन्दा बनाकर बग़ल में ले लिया। पुलन्दा लिए हुए मैं पर्ल बक की सेवा में पहुँचा। कोई पौने घण्टे उनसे बातचीत होती रही। उन्होंने मुझे बतलाया कि वह आगरे जा रही हैं। तब मैंने कहा, "आगरे के लिए मैं परिचय-पत्र दे दूँगा। यहाँ मेरे साथ श्रीराम शर्मा नामक सज्जन ठहरे हुए हैं, वह आपकी आगरे की यात्रा का प्रबन्ध कर देंगे।" श्रीमती पर्ल बक ने पूछा, यह पोटली क्या है, जो बग़ल में लिए हुए हो?" "तब मैंने होली पर्व का हाल बताया। जिससे उनकी जिज्ञासा जाग्रत हो गई और उन्होंने कहा, "मैं होली देखना चाहती हूँ।" मैंने उत्तर दिया, "कलकत्ते की होली में बड़ा हुड़दंग होता है। उसका देखना ख़तरनाक होगा।" इतना कहकर मैं चला आया और निवास स्थान पर पहुँचकर भाई श्रीराम जी से कहा, "एक बढ़िया शिकार हाथ आ गया है।" वह चौकन्ने हुए और बोले, "कौन-सा शिकार?" तब मैंने सम्पूर्ण वृत्तान्त बतलाया। दूसरे दिन मैं उन्हें साथ लेकर पर्ल बक की सेवा में गया। भाई श्रीराम जी ग्रामीण प्रश्नों के विशेषज्ञ थे और उन्होंने पर्ल बक को वचन दिया कि वह भारतीय ग्रामीण जीवन की एक झलक उन्हें दिखला देंगे।

जब मिस्टर वाल्र्श और पर्ल बक आगरे पहुँचे तो मेरे छोटे भाई स्व० रामनारायण चतुर्वेदी ने उनसे मुलाकात की और उन दोनों को भाई श्रीराम जी के ग्राम ले गये। पर्ल बक ने अपनी पुस्तक 'माई सेवरल वर्ल्ड्स' (मेरे अनेक संसार) में एक अध्याय अपनी किरथरा यात्रा पर दिया है जो काफ़ी

मनोरंजक है। किरथरा में उनके आतिथ्य का प्रबन्ध श्रीरामजी के अनुज जगन्नाथ ने किया था, जो कई वर्ष से अस्वस्थ थे और खाट पर लेटे रहते थे। पर उनमें ग़ज़ब की प्रबन्ध शक्ति थी। श्रीराम जी की धर्मपत्नी ने भी स्वादिष्ट भोजन बनाया था। भोजन के उपरान्त उन दोनों अतिथियों ने पूछा कि भोजन बनाया कैसे गया। जब उन्हें मामूली चूल्हा दिखलाया गया तो वह चकित रह गये।

मिस्टर वार्ल्श बड़े साधन-सम्पन्न प्रकाशक थे। उनके द्वारा प्रकाशित 'एशिया' नामक पत्रिका की चालीस हज़ार प्रतियाँ छपती थीं, जिन्हें वह बहुत कम मानते थे। उस वक्त तक उनका विवाह पर्ल बक के साथ नहीं हुआ था, आगे चलकर हो गया था। यद्यपि मैं उन दोनों विख्यात अमेरिकन अतिथियों के बारे में स्वयं ही लेख लिख सकता था। पर मैंने यह सुअवसर भाई श्रीराम को प्रदान कर दिया था। भाई श्रीराम जी ने बहुत अच्छा लेख लिखा था जिसे मैंने 'विशाल भारत' में छाप दिया था। पेशेवर प्रतिष्ठित लेखक ऐसा कभी नहीं करते कि ऐसे दुर्लभ अवसरों का उपयोग दूसरों को करने दें। भारत-यात्रा के दो-तीन वर्ष बाद पर्ल बक को जब नोबुल प्राइज़ मिला था तब मुझे कुछ आश्चर्य हुआ था और मैंने भाई श्रीराम जी से कहा था, "क्या पर्ल बक वही हैं जिनसे हम लोग मिले थे? वह तो युवती-सी ही मालूम होती थीं जबकि उनकी उम्र चालीस साल बताई जाती है।" इस पर श्रीरामजी बोले, "हाँ, यह वही पर्ल बक हैं। अपने स्वास्थ्य का भरपूर ध्यान रखकर वह अपने यौवन को बनाये हुए हैं।"

इसके कुछ वर्ष बाद पर्ल बक भारत पधारीं। उनका दिल्ली में स्वागत किया गया था। मैं उस मीटिंग में उपस्थित था और मैंने उन्हें अपने पिछले परिचय की याद दिलायी। उन्हें उसका भली-भाँति स्मरण था। उन्होंने बड़े दुखपूर्वक कहा, "मैं तो अब विधवा हूँ। कुछ समय पूर्व मिस्टर वार्ल्श का देहान्त हो चुका है।"

अमेरिका में भारतीय स्वाधीनता की समर्थक संस्था में पर्ल बक का प्रमुख हाथ था। अपने ग्रन्थों से उन्हें जो आमदनी हुई थी उसे उन्होंने कुछ भिन्न-भिन्न जातीय बच्चों के पालन-पोषण पर ख़र्च कर दिया था। उनका जन्म और पालन-पोषण चीन में हुआ था जहाँ उनके पिता मिशनरी थे। उनके ग्रन्थ 'गुड अर्थ', जिस पर उन्हें नोबुल प्राइज़ मिला था, में चीन के ग्रामीण जीवन का ही वर्णन है। उस ग्रन्थ पर एक उत्कृष्ट फ़िल्म भी बनी थी जिसे देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था।

अमेरिकन पत्रकार : लुई फ़िशर

एक दिन मैंने राइटर का यह तार किसी अंग्रेज़ी पत्र में पढ़ा कि लुई फ़िशर नामक अमेरिकन पत्रकार अमुक प्रकाशक के लिए महात्मा गांधी जी का जीवन चरित लिख रहे हैं। मैंने तुरन्त ही हवाई डाक से एक पत्र अमेरिका भेज दिया जिसका आशय यह था कि मैं आपके इस महत्त्वपूर्ण कार्य में सर्वथा निस्वार्थ भाव से कुछ सेवा करना चाहता हूँ। लौटती डाक से उनका पत्र आया। उसका एक वाक्य था, "आई एम ग्लैड दैट यू एक्ज़िस्ट" (यानी मुझे यह देखकर हर्ष होता है कि आप जैसा कोई व्यक्ति मौजूद है)। फिर उन्होंने लिखा था, "कृपया बताइये, आप क्या मदद दे सकते हैं?" मैंने तुरन्त ही चि० बुद्धिप्रकाश से ऐण्ड्रूज़-गांधी-पत्र व्यवहार की 53 चिट्ठियाँ टाइप करायीं और उन्हें हवाई डाक द्वारा तेरह रुपया ख़र्च करके अमेरिका भेज दिया। लुई फ़िशर ने उन पत्रों का उपयोग अपनी पुस्तक महात्मा गांधी जी की जीवनी में यथास्थान कर दिया। उस पुस्तक की रचना में उनके दो वर्ष से अधिक लग गये थे और उसके छपते ही सर्वप्रथम उसकी एक प्रति उन्होंने मुझे भेंट दी थी।

जब लुई फ़िशर साहब भारत पधारे तो मैंने उनकी सेवा में उपस्थित होकर उनसे बातचीत भी की थी। वह रूस में पंद्रह वर्ष रह चुके थे और उनकी पत्नी भी रूसी ही थी। वह तत्कालीन रूसी शासन पद्धति के विरोधी थे। अशोक होटल में जब मैं उनसे बातचीत कर रहा था, लुई फ़िशर साहब ने मुझसे एक सवाल किया, "पं० जवाहर लाल जी का स्थान कौन ले सकता है?" मैं उनके इस प्रश्न का उत्तर न दे सका तो उन्होंने स्वयं ही कहा, "क्या जयप्रकाश जी उनके उत्तराधिकारी नहीं बन सकते?" मैंने उत्तर दिया, "ही हैज़ आलरेडी मिस्ड दि बस" (यानी उन्होंने तो इसका अवसर खो ही दिया है)। अब मैं सोचता हूँ कि अपने उस वाक्य में मैंने श्रद्धेय जयप्रकाश जी के साथ न्याय नहीं किया था। वह पद-लोलुप नहीं थे और उस दिशा में उनकी कोई आकांक्षा भी नहीं थी।

लुई फ़िशर साहब की जो थोड़ी-सी सेवा मैंने की उसके बदले में उन्होंने मेरे कई कार्य किये। सुप्रसिद्ध अहिंसावादी सम्पादक विलियम लायड गैरीसन के पौत्र से उन्होंने 1200 रुपये हिन्दी भवन, दिल्ली में गैरीसन लाइब्रेरी खुलवाने के लिए भिजवाये और गैरीसन की चार बृहदाकार जिल्दों वाली जीवनी भी उन्होंने मुझे भेजी। वह ग्रन्थ सर्वथा दुर्लभ था और शायद एक हज़ार रुपये में भी न मिलता।

लुई फ़िशर एक सप्ताह तक महात्मा गांधी जी के साथ भी रह चुके थे और उन्होंने 'ए वीक विद गांधी' नामक पुस्तक भी लिखी थी। उनकी लिखी महात्मा गांधी जी की अंग्रेज़ी जीवनी का हिन्दी अनुवाद सस्ता साहित्य मण्डल ने प्रकाशित किया था। उनकी एक पुस्तक 'स्टालिन और गांधी' भी थी जिसमें दोनों का तुलनात्मक अध्ययन था।

लुई फ़िशर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के पत्रकार थे और उनका जीवन बड़ा संघर्षमय रहा। एक बार तो उन्हें भोजन के लाले भी पड़ गये थे और उन्हें अपना ओवर कोट बेचना पड़ा था। अपने जीवन के अन्तिम काल में वह एक विश्वविद्यालय के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्यापक भी बन गये थे। मेरे संग्रहालय में उनके बहुत-से पत्र सुरक्षित हैं।

जापान के गांधी : कागावा

कागावा का शुभ नाम मैंने पहले सुन रखा था। वाई०एम०सी०ए० के प्रकाशन विभाग से मैंने उनका जीवन-चरित भी मँगा लिया था और उसके आधार पर एक लेख 'जापान के गांधी : कागावा' लिखकर ट्रैक्टाकार में प्रकाशित भी करा दिया था। पर मुझे स्वप्न में भी यह आशा नहीं थी कि मुझे कभी कागावा के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा। इसलिए पत्रों में यह समाचार पढ़कर, कि ईसाई मिशनरियों की एक सभा में सम्मिलित होने के लिए कागावा जापान से भारत पधार रहे हैं, मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ। मैं उन दिनों बम्बई गया हुआ था और कागावा भी मद्रास से बम्बई आने वाले थे। इसलिए मैंने बम्बई में मिलने के लिए उनसे समय माँगा। उन्होंने सहर्ष समय दे दिया। उन्हीं दिनों महाराज वीरसिंह जूदेव भी बम्बई पधारे थे। मैंने उनसे अपने कागावा से मिलने की बात कही। उन्होंने तुरन्त ही कहा, "इस समय अंग्रेज़ों के सम्बन्ध जापान से अच्छे नहीं हैं। और स्वभावतः अंग्रेज़ों की ख़ुफिया पुलिस कागावा पर निगाह रखेगी। यदि आप कागावा से मिलेंगे, तो सी० आई० डी० की कुदृष्टि आप पर भी पड़ जायेगी। आप ख़ुद सोच-समझ लीजिये।" तब मेरे मन में यह ख़्याल आया कि मैं देशी रियासत में रह रहा हूँ। ओरछा राज्य के एक मंत्री ठाकुर सज्जन सिंह जी ने मुझे सावधान करते हुए कहा था, "चौबे जी, आप कोई ऐसा काम न करें जिससे महाराज पर धर्म संकट उपस्थित हो। यदि ब्रिटिश

सरकार ओरछेश पर यह दबाव डालेगी कि चौबे जी को राज्य से निष्कासित कर दिया जाय, तो वह ऐसा हरगिज़ नहीं करेंगे, चाहे उन्हें गद्दी छोड़नी पड़े।" ठाकुर साहब की इस बात को ध्यान में रखकर मैंने यही उचित समझा कि कागावा से न मिलूँ और मैंने उन्हें (कागावा को) लिख भी दिया कि मैं दो दिन पहले बम्बई छोड़ रहा हूँ। इस पर कागावा का उत्तर आया कि मैं दो दिन पहले बम्बई पहुँच सकता हूँ। इसका कोई उत्तर न देकर मैं बम्बई से टीकमगढ़ के लिए रवाना हो गया। इसके आठ-दस दिन बाद मुझे कलकत्ते जाना पड़ा। अकस्मात् उन्हीं दिनों कागावा भी कलकत्ते पहुँचे। मैंने पत्रों में पढ़ा कि उनका भाषण वाई० एम० सी० ए० के भवन में होने वाला है। मैं भाषण से कुछ मिनट पहले भवन में पहुँच गया और ज्यों ही कागावा साहब पधारे, मैंने तुरन्त उनसे प्रार्थना कर दी कि मीटिंग समाप्त होने के बाद मुझे पंद्रह मिनट समय दें। वह सहमत हो गये। मीटिंग समाप्त होने पर मैं अकेले ही उनसे मिला। मैंने उनसे कहा, "सम्भवतः अंग्रेज़ों की सी० आई० डी० आपका पीछा कर रही होगी। इसी कारण मैं बम्बई में आपसे न मिल सका।" उन्होंने कहा कि मुझे इस बात का पता है। मैंने अपने उस लेख की प्रति भी उन्हें भेंट कर दी, जो मैंने उनके विषय में लिखा था। उनके पास अधिक समय था भी नहीं, इसलिए विशेष बातचीत हो नहीं सकी। यह बात ध्यान देने योग्य है कि कागावा ने वर्धा पहुँचकर महात्मा गांधी जी के दर्शन किए थे और बातचीत भी की थी। उस बातचीत की पूरी-पूरी रिपोर्ट महादेव भाई देसाई ने 'यंग इंडिया' में छपा दी थी।

जापान में नगरों की गन्दी बस्तियों को सुधारने के लिए कागावा ने अपना सम्पूर्ण जीवन ही अर्पित कर दिया था। अपने विवाह के बाद वह अपनी पत्नी सहित एक गन्दी बस्ती के छोटे-से कमरे में रहने के लिए चले गये थे। उस कमरे में कई व्यक्ति पहले से मौजूद थे। कोठरी की लम्बाई छ फ़ुट थी और चौड़ाई भी इतनी ही थी। उसमें सत्तर वर्ष का एक बूढ़ा, साठ-पैंसठ वर्ष की एक बुढ़िया, ग्यारह वर्ष का एक अपराधी लड़का, एक अनाथ माता और उसके चार बच्चे और एक भिखारिन थे। यही कागावा का परिवार था। किसी नयी बहू के सामने ऐसी विकट समस्या शायद ही कभी उपस्थित हुई हो। कागावा की आमदनी कुल जमा तीन पौण्ड, यानी क़रीब 45 रुपये थी और इतने में ही ग्यारह प्राणियों का पेट भरता था। उस गन्दी बस्ती में चारों ओर अस्वच्छता तथा दुर्गन्ध का साम्राज्य था। पाखाना एक ही था। कपड़ों को एक छोटी से नदी में धोना पड़ता था और उनके सुखाने के लिए कोई जगह न थी। खटमलों की भरमार थी और वह अमर थे। जितने ही मारो, उतने ही बढ़ते थे।

कुछ वर्ष पूर्व कागावा का देहान्त हो चुका है, पर शान्ति-निकेतन के जापान अध्यापक साईजी माकिनो से मुझे ज्ञात हुआ था कि कागावा की धर्मपत्नी अभी जीवित हैं।

भाग : दो

आपबीती

1

मेरे पूज्य माता-पिता

"कक्का, तुम बु बात सुनाओ, जब तुम हमारी ननसार को पैदर ही गये।" यह प्रश्न हमने पूज्य पिताजी से न जाने कितनी बार पूछा होगा। और उन्होंने बिना धैर्य खोए बार-बार उस मनोरंजक यात्रा का विवरण हमें सुनाया था।

कोई 85 बरस पहले की बात है। हमारी ननसाल मैनपुरी में कोई विवाह होने वाला था और उस कुटुम्ब के जामाता होने के कारण कक्का के नाम निमन्त्रण आया था। मैनपुरी फीरोज़ाबाद से 42 मील दूर है। उन दिनों वहाँ के लिए रेल नहीं थी। इक्के और बैलगाड़ियों से ही काम चलाना पड़ता था। कक्का उन दिनों 8-10 रुपये महीने पाते थे और उनके पास ख़र्च करने के लिए इतना पैसा नहीं था कि वह बैलगाड़ी में जा सकें। इसलिए वह वहाँ पैदल ही गये। कक्का कहते थे, "सवेरे चार बजे उठकर कुछ पराँठे और कसार साथ में लेकर हम चल दिये और शाम को सात बजे मैनपुरी जा पहुँचे।" हम पूछते, "कक्का इक्कीस कोस तो बहुत दूर है।" कक्का जवाब देते, "घोड़न कौं घरी कित्तो दूर। पैर मजबूत होने चाहिए और देह में राम, फिर आदमी इक्कीस कोस क्या, पचास कोस भी पैदल जा सकता है।"

पूज्य माता जी



कक्का काफ़ी व्यवहार-कुशल थे। मैनपुरी के एक मील निकट पहुँचने पर किसी कुएँ पर उन्होंने हाथ-मुँह धोया और मैनपुरी के गंज से दो पैसे का इक्का किया और जमाई साहब ससुराल में इक्के पर घुड़घुड़ाते हुए जा पहुँचे। हम लोग इस इक्के वाली बात पर बहुत हँसते, पर कक्का को इस बात से सन्तोष था कि उन्होंने रुपया-सवा रुपया किराये का बचा लिया और अपने गौरव की भी रक्षा कर ली। हम लोग फिर पूछते, "कक्का तुम थके नहीं," वह जवाब देते, "हमने बरातियों

को भोजन कराया और सबके अन्त में स्वयं भोजन किया और किसी को भी यह मालूम नहीं होने दिया कि इक्कीस कोस पैदल चलकर आये हैं।" यह घटना हमारे पूज्य पिता जी के चरित्र पर और उनके संघर्षमय जीवन पर भी अच्छा प्रकाश डालती है। दरअसल उनकी सारी ज़िन्दगी संघर्ष करते हुए ही बीती।

ग़दर के आस-पास की बात है। मथुरा के चूना-कंकड़ मुहल्ले में लछमनदास नामक एक चौबे जी रहा करते थे। वह बजाज़ी करते थे। गज-गाढ़े की दुकान थी और आस-पास बसे हुए कोरी लोगों से कपड़ा ख़रीदते और बेचते थे। उनके दो पुत्र हुए—सकटूराम और गणेशीलाल—और एक पुत्री। सकटूराम का विवाह उन्होंने बाल्यावस्था में ही कर दिया था, पर दुर्भाग्यवश वह बालक थोड़े दिनों बाद ही स्वर्गवासी हो गया। इस दुर्घटना से लछमनदास इतने दुखित हुए कि उनका भी प्राणान्त हो गया। उनकी पत्नी पहले ही चल बसी थी। इस प्रकार गणेशीलाल और उनकी बहन, जो आठ-दस साल की थी, दोनों बिल्कुल अनाथ हो गये। फिर उनके बहनोई उन्हें और उनकी बहन को फीरोज़ाबाद ले गये। फीरोज़ाबाद में ही बहनोई निहालचन्द्र तथा उनके बड़े भाई जमनादास ने उनका पालन-पोषण किया था। वहीं से उनका विवाह हुआ और वहीं आगे चलकर हम सबका जन्म हुआ। कक्का जमनादास के गुण गाते-गाते अघाते नहीं थे। प्रबन्ध-शक्ति और क़िफ़ायतशारी उन्होंने जमनादास से ही सीखी थी।

कक्का बड़े गुरुभक्त थे। पं० जयराम जी का नाम वह बड़ी श्रद्धा के साथ लेते थे और उनके गुणों का वर्णन करते हुए हर्षातिरेक से उनकी आँखें सजल हो जाती थीं। अपने गुरु के प्रति श्रद्धा प्रकट करने का कोई भी मौक़ा वह हाथ से नहीं जाने देना चाहते थे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि पं० श्रीधर पाठक जी भी इन्हीं पं० जयराम जी के शिष्य थे।

पूज्य पिता जी



सन् 1852 से लेकर 24 दिसम्बर सन् 1944 तक का कक्का का 93 वर्षीय जीवन अत्यन्त संघर्षमय रहा। सन् 1875 मे वह मुदर्रिस हुए थे और पूरे पचास वर्ष उन्होंने ग्राम-स्कूलों की मुदर्रिसी की थी। प्रारम्भ में उनका वेतन छह रुपये मासिक था और अन्त में बढ़ते-बढ़ते वह पच्चीस-तीस तक पहुँच गया था, लेकिन ये पच्चीस-तीस रुपये उन्हें सिर्फ़ पाँच वर्ष तक ही मिले थे। ज़्यादातर वह दस-बारह रुपये महीने ही पाते रहे। कक्का बड़े क़िफ़ायतशार थे। उन दिनों में भी, जब गेहूँ 20-25 सेर बिकते थे, कक्का बेझर (जौ और चना का मिश्रण) ही खाते थे। वह कहा करते थे: "खायेगा चना तो रहेगा बना। खायेगा गेहूँ तो जायेगा कहूँ।" उनका अभिप्राय यही था कि जो आदमी अपने जीवन-स्तर को बढ़ायेगा, उसे नौकरी करने के लिए घर से दूर जाना पड़ेगा। कक्का ने आगरा ज़िले



स्वर्गीय बहिन रामप्यारी जी

की भिन्न-भिन्न तहसीलों में काम किया था। शमसाबाद में वह पंद्रह बरस रहे थे और वहाँ उन्होंने छात्रों को तथा छात्रों के लड़कों को भी पढ़ाया था। जगनेर में वह आठ वर्ष रहे थे। हमारे तीस रुपये महीने पर नौकर हो जाने के बाद भी कक्का साल में एक बार अपने शिष्यों के पास चक्कर लगा आते थे और उनसे दस-बारह रुपये भेंट में वसूल कर लाते थे। हमें इससे बुरा महसूस होता था, पर कक्का कहते : "अगर कोई चेला श्रद्धापूर्वक कुछ भेंट करता है तो लेने में बुराई भी क्या है?"

कक्का की क़िफ़ायतशारी यद्यपि हद तक पहुँची हुई थी, फिर भी मौक़ा पड़ने पर वह बड़ी उदारतापूर्वक ख़ूब ख़र्च भी कर देते थे। प्रबन्धकर्ता वह अव्वल नम्बर के थे। वेतन बहुत कम होने पर भी हमारे घर में कभी किसी चीज़ की कमी नहीं रहती थी। पानी पीने के बर्तन हमेशा स्वच्छ रखते थे। जाड़े के कपड़े पहले से बनवा देते थे, ताकि दर्ज़ी को अधिक पैसे न देने पड़ें। एक पसन्ना (मिट्टी का एक बर्तन) भरा हुआ घी बराबर घर में मौजूद रहता था। पंद्रह-पंद्रह बरस तक यद्यपि उन्होंने स्वयं घी का स्वाद नहीं जाना, रूखी रोटी ही खाई—लेकिन हम लोगों को किसी चीज़ की कमी महसूस नहीं होने दी। आगरा हमारे यहाँ से अट्ठाइस मील दूर है। जब मैं मैट्रिक का इम्तिहान देने वाला था, कक्का अट्ठाइस मील पैदल चलकर ग्यारह रुपये फीस देने के लिए आगरा पहुँचे थे। वह दिन भर पैदल चलकर रात को बेलनगंज में ठहर गये और फिर सवेरे तीन मील चलकर जब चार बजे 'चौबे बोर्डिंग हाउस' पहुँचे तो उस समय उन्होंने मुझे कड़वे तेल के दीपक की रोशनी में पढ़ते हुए पाया था। इस बात से वह बहुत प्रसन्न हुए कि मैं प्रातःकाल उठकर पढ़ रहा था। उन दिनों ग्यारह रुपये भेजने में शायद मनीआर्डर की फ़ीस दो आने ही लगती थी, पर कक्का भला दो आने क्यों ख़र्च करने लगे!

फ़िज़ूलख़र्ची से कक्का को सख़्त नफ़रत थी। अगर गेहूँ के चार दाने भी घर में पड़े हुए दीख पड़ते तो वह बहुत नाराज़ होते। चूँकि उनकी आवाज़ बहुत बुलन्द थी, इसलिए वह दूर-दूर तक पहुँच जाती थी। कभी-कभी तो बाहर वालों को यह भ्रम हो जाता था कि इस घर में कोई लड़ाई-झगड़ा हो रहा है। कक्का का तकियाक़लाम था—"का नाम जो है सो" और जब वह नाराज़ होते थे तो इन शब्दों का बार-बार प्रयोग करते थे। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि हम सब अत्यन्त निर्धन थे। विवाह के बाद भी निर्धनता इतनी अधिक थी कि न तो कक्का के पास और न माता जी के पास ही जाड़े के पर्याप्त कपड़े थे। पर बहू के

लिए और बच्चों के लिए उन्होंने पूरे-पूरे कपड़े बनवा दिये थे। घर में एक चद्दर थी, जिसे बाहर जाते समय कभी हमारी माँ, तो कभी हमारी काकी ओढ़ लिया करती थीं। जब मैं मैट्रिक तथा एफ० ए० की पढ़ाई के लिए आगरा गया तो ग्यारह रुपये महीने मेरे मौसा, श्री चोखेलाल जी ने चार वर्ष तक भेजे थे। यदि मौसा जी इतनी उदारता न दिखलाते तो मुझे अंग्रेज़ी मिडिल पास करके रेल की कोई नौकरी करनी पड़ती। उनके ऋण से मैं जन्म-जन्मान्तर में भी उऋण नहीं हो सकता।

कक्का ने 1930 या '31 में काम करना छोड़ दिया था और तब तक वह पूरे पचपन बरस अध्यापन कार्य कर चुके थे, फिर भी उन्होंने परिश्रम करना नहीं छोड़ा और अपने जीवन के एक महीने पूर्व तक वह बराबर शारीरिक श्रम करते रहे। एक रात को वह गिर पड़े थे और इस कारण उन्हें मजबूरन खाट पर लेटना पड़ा। सन् 1875 से, जब वह ग्राम स्कूल में अध्यापक हुए थे, 1944 तक यानी पूरे 69 वर्ष उन्होंने घर का सम्पूर्ण काम स्वयं सँभाला और मुझे सारी ज़िम्मेदारियों से मुक्त रखा। जब कक्का का स्वर्गवास हुआ, मैं 52 वर्ष का हो चुका था और तब तक मैं घरेलू प्रबन्ध का 'क ख ग' तो क्या 'अ आ इ ई' भी नहीं जानता था। पिता का दीर्घजीवी होना किसी भी पुत्र के लिए सबसे बड़ी नियामत है।

कक्का ने 93 वर्ष की उम्र पाई। अन्त तक वह पैदल चलते रहे और उनका हाजमा दुरुस्त रहा। वह कभी कब्ज़ नहीं होने देते थे। कक्का की भूख बहुत अच्छी थी, पर वह भोजन-भट्ट नहीं थे। उनकी भूख एक परिश्रमी मज़दूर की भूख थी। अपने जीवन में वह कम-से-कम डेढ़-दो लाख मील पैदल चले होंगे। जैसा कि प्रायः होता है, दीर्घजीवी आदमी के जीवन में अनेक दुर्घटनाएँ घट जाती हैं और कक्का पर तो कई वज्रपात ही हुए। मेरी छोटी बहन का स्वर्गवास हो गया, दूसरी बहन विधवा हो गई, मेरी पत्नी चल बसी और सबसे भयंकर दुर्घटना यह हुई कि मेरे छोटे भाई रामनारायण का देहान्त 28 वर्ष की उम्र में हो गया था, जबकि कक्का लगभग 80 वर्ष के थे। कक्का ने इन महान् दुःखों को बड़े धैर्य के साथ सहा।

● ●

पूज्य माताजी के विषय में अधिक बतलाने की आवश्यकता नहीं। वह रामायण की बड़ी प्रेमी थीं और उन्होंने इकतीस बार सम्पूर्ण रामायण का पाठ किया था। हमारी नानी भी रामायण की भक्त थीं और उनके भाई रामायण के बहुत अच्छे ज्ञाता थे। माता जी का अधिकांश जीवन ग़रीबी में ही बीता। वह बड़े मधुर स्वभाव की थीं और रामायण ने उनके जीवन को अत्यन्त सुसंस्कृत बना दिया था। चूँकि हमारी ननसाल में वैद्यक होती थी, इसलिए माता जी भी छोटी-मोटी औषधियाँ जानती थीं और मुहल्ले की स्त्रियों को खाँसी इत्यादि की दवाई दिया करती थीं। अनेक स्त्रियों में दूसरों की निन्दा या चबाव-चर्चा करने का दुर्गुण होता है, पर वह उससे सर्वथा मुक्त थीं। एक बार किसी स्त्री ने किसी लड़की की चरित्रहीनता की चर्चा की। माता जी ने उन्हें बहुत फटकारा और कहा, "अगर किसी से ग़लती हो जाय तो उसको छिपाना चाहिए, न कि उसकी चर्चा या प्रचार करना चाहिए।"

अम्मा ने जीवन-भर प्रायः कष्ट ही पाये, लेकिन उन्होंने बराबर संतोष से काम लिया। मेरी नौकरी लग जाने पर उनको कुछ आर्थिक सुविधा हो गयी थी। जब मैं नियमित रूप से घर पर दस-बारह रुपये महीने भेजने लगा—उन दिनों मुझे तीस रुपये ही मिलते थे—तो उसका माता जी पर काफ़ी प्रभाव पड़ा। अम्मा को रामायण कण्ठस्थ थी और उसका प्रयोग भी वह बड़ी ख़ूबी से करती थीं। जब मैं मन्दाग्नि से

पीड़ित हो मरणासन्न हो गया तो हमारी ननसाल के राजवैद्य हकीम बाबूराम जी, जो अम्मा के भतीजे होते थे, मैनपुरी में पधारे और उन्होंने मुझे स्वस्थ करके मेरे जीवन की रक्षा की। जब वह चलने लगे तो माताजी ने रामायण की चौपाई का वह अंश उद्धृत किया जिसे भगवान राम ने हनुमान जी से कहा था, "नाहि न तात। उऋण मैं तोही।"

कक्का और अम्मा का एक मधुर मज़ाक हमारी बहन ने सुनाया था। जाड़े के कपड़े न पिताजी के पास थे, न माताजी के पास। कक्का ने मज़ाक में कहा, "तमाखू खान वारेन को जाड़ो थोरे ही लगत है।" अम्मा ने जवाब दिया, "जाड़ो तो तन्दुरुस्त आदमी को नाँय लगै।" कक्का स्वास्थ्य का पूरा-पूरा ध्यान रखते थे। यही कारण है कि उन्होंने इतनी लम्बी उम्र पाई। माता जी का मुझ पर बड़ा स्नेह था और वह अक्सर कहा करती थीं, "जो इच्छा तुम करोगे, वह पूरी होगी।" और पूज्य पिताजी कहते थे, "जो इच्छा करिहौ मनमाहीं, राम कृपा कछु दुर्लभ नाहीं।" माता-पिता का यह आशीर्वाद ही मेरे जीवन का सबसे बड़ा सहारा रहा है।

2

मेरा विद्यार्थी जीवन

मेरे विद्यार्थी जीवन का प्रारंभ सन् 1900 में हुआ और अन्त सन् 1913 में। छह बरस हिन्दी मिडिल पास करने में लगे, फिर सात वर्ष अंग्रेज़ी की इंटर परीक्षा उत्तीर्ण होने में। ग़रीबी के कारण मैं बी० ए० क्लास में दाख़िल ही नहीं हो सका। पिता जी का वेतन उस समय बारह रुपये महीना था और हम लोग घर में आठ प्राणी थे। माता-पिता, हम चार भाई-बहनें, हमारी ताई और बुआ की लड़कियाँ। मेरा विवाह सन् 1909 में हो गया था, लेकिन गौना 1912 में हुआ। इस प्रकार घर में नवें प्राणी का प्रवेश हुआ। बारह रुपये महीने में इतने जीवों की भोजन-व्यवस्था ही अत्यन्त कठिन थी, फिर भला उच्च कक्षाओं में मेरी पढ़ाई कैसे हो सकती थी ! उन दिनों मैट्रिक तथा इण्टर की पढ़ाई के लिए आगरा जाना होता था। वहाँ पर मुरादाबाद के राजा श्री जयकृष्णदास जी का बनवाया हुआ एक छात्रावास था जिसे 'चौबे बोर्डिंग हाउस' कहते थे पर जिसका वास्तविक नाम था, 'पाठक वृन्दावन वैदिक आश्रम'। लोग राजा साहब का नाम भूलते जा रहे हैं। यह वही राजा साहब थे जिन्होंने स्वामी दयानन्द जी के 'सत्यार्थ-प्रकाश' का प्रथम संस्करण अपने ख़र्च से छपवाया था।[1] उनके पौत्र सर जगदीश प्रसाद आगे चलकर वायसराय की कौंसिल के सदस्य बने। चतुर्वेदी समाज उनका और उनके कुटुम्ब का अत्यन्त ऋणी है। वह छात्रालय अब भी विद्यमान है। उससे पचासों विद्यार्थियों ने लाभ उठाया है। मुझे उस छात्रावास से पाँच रुपये महीने की छात्रवृत्ति भी मिलती थी और आगे चलकर फ़ीस भी आधी हो गयी थी। इस प्रकार पूज्य मौसाजी के ग्यारह रुपये महीने की सहायता से मैं अंग्रेज़ी में एफ़० ए० पास हो सका। मौसा जी मुझे बी० ए० की पढ़ाई के लिए भी मदद देने को तैयार थे, पर कक्का साहब के भार को कुछ हल्का करने के लिए मुझे नौकरी करनी पड़ी। ग्रेजुएट बनने की मेरी लालसा मन में रह गयी।

अपने इस तेरह वर्षीय जीवन की मुझे अनेक मधुर स्मृतियाँ हैं जिनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं— अपने अध्यापकों की। चूँकि मैं एक मुदर्रिस पिता का पुत्र था, इसलिए अध्यापकों का विशेष कृपापात्र बन गया। हिन्दी मिडिल तक पढ़ने में मुझे पं० कुंजीलाल जी, पं० बाँकेलाल जी और पं० छिगामल जी, इन तीनों मास्टरों से पढ़ना पड़ा, जिनमें पिछले दो हमारी जाति के ही नहीं, हमारे मुहल्ले के भी थे और हमारे कक्का के साथी

1. उन्होंने सर सैयद अहमद ख़ाँ को भी अलीगढ़ के एंग्लो ओरिएंटल कॉलेज खोलने के लिए चन्दा दिया था।

तथा मित्र भी थे। पं० बाँकेलाल जी को हम लोग 'मरखने पण्डित जी' कहा करते थे। स्कूल में सबसे अधिक रुआब उन्हीं का था। आलसी लड़के उनके डर से थरथर काँपते थे। हम लोग यह ड्यूटी एक लड़के के सुपुर्द कर दिया करते थे कि वह देखता रहे कि मरखने पण्डित जी कहाँ पहुँच गये हैं। रास्ते में चौबे रामलाल की दुकान पड़ती थी और घर से आते वक्त पण्डित जी उस दुकान पर पाँच मिनट के लिए बैठ जाते थे। बस तभी से क्लास में हम लोगों का ऊधम बन्द हो जाता था और उस दुकान से चलते ही लड़के कहते, "डाकगाड़ी ने टूंडला स्टेशन छोड़ दिया है।" पण्डित जी के हाथ में एक लकड़ी रहती थी जिसका प्रयोग वह आवश्यकता के अनुसार निस्संकोच भाव से किया करते थे। वह इस सिद्धान्त के अनुगामी थे कि लड़के की पिटाई न की जाये तो वह बिगड़ जाता है। बात यह थी कि गणित का कठिन विषय उनके सुपुर्द था और उन दिनों गणित को ही अधिक महत्त्व दिया जाता था। जो विद्यार्थी गणित में फ़ेल हो जाता, उसे अगली कक्षा में ही नहीं चढ़ाया जाता था। इस प्रकार मरखने पण्डित जी की ज़िम्मेदारी सबसे भारी थी और यदि वह कठोर नियंत्रण न रखते तो आगे चलकर हिन्दी मिडिल के अनेक विद्यार्थी फ़ेल हो जाते। इसके विपरीत उनके ही बड़े भाई पं० छिगामलजी अत्यन्त भोले-भाले और सहृदय व्यक्ति थे और उन्होंने अपनी ज़िन्दगी में शायद ही किसी विद्यार्थी को कभी पीटा हो।

स्वयं हमारे पिता जी बड़े कठोर शिक्षक थे। यह उन दिनों की बात है जब विद्यार्थियों को बुलाने के लिए शिक्षकों को उनके घर जाना पड़ता था। कोई-कोई नटखट विद्यार्थी तो पेड़ पर चढ़ जाता और उसको वहाँ से उतारना आसान काम न होता। ग्रामों के विद्यार्थी प्रायः उद्दंड होते थे पर कक्का का घूँसा नं० एक खाने वाले छात्र को जन्म-भर उसकी याद रहती थी। मुझे सिर्फ़ एक बार घूँसा नं० दो खाने का मौक़ा मिला, सो इस कारण कि मैंने चक्कू से कक्का की लाठी को छील डाला था। उस नं० दो की याद करके अब भी कँपकँपी आ जाती है। एक बार जब कक्का ने हमारे चिरंजीव गुपलेश को घूँसा नं० दो खिलाया तो हमारी अम्मा बड़ी नाराज़ हुई और कक्का को बड़ी डाँट पिलाई। हिन्दी मिडिल मैंने फ़र्स्ट डिवीज़न से पास किया और उसके बाद मैं मिशन स्कूल के छठे दर्जे में दाख़िल हो गया। उन दिनों उसे स्पेशल क्लास कहते थे। अपनी मातृभाषा में सब विषय पढ़ लेने पर आगे चलकर उन्हें अंग्रेज़ी के द्वारा पढ़ने में बड़ी सुविधा होती थी। स्पेशल क्लास के विद्यार्थी प्रायः अपनी कक्षाओं में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होते थे और इसी कारण मैं भी छठे, सातवें और आठवें दर्जे में अव्वल रहा।

आगरा के विद्यार्थी जीवन में मैं रामायण के प्रसिद्ध टीकाकार पं० रामेश्वर भट्ट, हमारे हेड-मास्टर सी०ए० डाबसन, पं० किशनलाल जी, श्री घीसूलाल जी, श्री चन्द्रपुरी गोस्वामी और श्री एकनाथ बनर्जी का विशेष कृपापात्र था। भट्टजी ख़ूब हँसते और हँसाते रहते थे। एक दिन उन्होंने मुझसे कहा, "चौबे, कल तुम रामानन्दी तिलक लगाकर आना।" मैंने निवेदन किया, "मेरा उसमें तो विश्वास ही नहीं है।" पण्डित जी ने कहा, "इससे क्या, हमारा आदेश है।" दूसरे दिन रामानन्दी तिलक लगाकर गया तो लड़के ख़ूब हँसने लगे। इस पर मैंने भट्ट जी से शिकायत की तो वह बोले, "देखो चौबे! अगर तुम पैसा ख़र्च करके इनको मिठाई खिलाते तो भी तुम्हारे साथी इतने ख़ुश न होते। तुमने तो इनको मुफ़्त में प्रसन्न कर दिया। यह क्या कम बात है!" पण्डित जी के इस उपदेश का मुझ पर गहरा असर पड़ा। इस संसार में दुःखों और चिन्ताओं का इतना अधिक भाग है कि लोगों को हँसाने वाला व्यक्ति आसानी से लोकप्रियता प्राप्त कर सकता है। अपना मज़ाक उड़ाना भी एक कला है, जो मुश्किल से सीखी जा सकती है। मैंने उस कला का कुछ अभ्यास किया है

और साढ़े चौदह वर्ष तक महाराज ओरछा के यहाँ मुख्यतया उस कला के बलबूते पर अपनी जीविका चलाता रहा हूँ। श्री चन्द्रपुरी गोस्वामी की नियमबद्धता, पं० किशनलाल जी की हास्यप्रियता और श्री घीसूमल जी की चारित्रिक दृढ़ता का मुझ पर काफ़ी प्रभाव पड़ा था। लेकिन यदि कोई मुझसे पूछे कि तुम्हें अपने जीवन में सर्वश्रेष्ठ शिक्षक कौन मिला, तो मैं निस्संकोच कहूँगा—हमारे गणित के अध्यापक श्री एकनाथ बनर्जी। पूरे दो साल तक मैं दो-दो पीरियड रोज़ उनसे पढ़ता रहा और मुझे एक दिन भी ऐसा याद नहीं आता, जब उन्होंने किसी भी प्रकार का प्रमाद या एक मिनट का अपव्यय ही किया हो। क्लास में विद्यार्थियों के बैठते ही वह अपना काम शुरू कर देते थे और लगातार डेढ़ घण्टे तक गणित पढ़ाया करते थे। अपने जीवन में सिर्फ़ एक बार वह कॉलेज में लेट पहुँचे थे सो भी तब, जब आगरा में भयंकर हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया था और पुलिस ने उन्हें सीधे कॉलेज जाने से रोक दिया था। यद्यपि उनके वहाँ पहुँचने की कोई आवश्यकता नहीं थी, फिर भी घूम-फिरकर कॉलेज पहुँच ही गये। हाँ, इसमें उन्हें बीस-पचीस मिनट का विलम्ब हो गया। अपने शिक्षक जीवन में उन्होंने जिस नियमबद्धता और परिश्रमशीलता का परिचय कम-से-कम तीस-पैंतीस बरस तक दिया था, उसका उदाहरण आगरा विश्वविद्यालय में कठिनाई से ही मिलेगा। हमारे सहपाठी श्री चम्पाराम जी चतुर्वेदी भी बनर्जी साहब की तरह ही सुयोग्य शिक्षक रहे थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे शिक्षक वन्दनीय हैं और उनका महत्त्व राजनैतिक नेताओं से कहीं अधिक बढ़कर है।

एफ़० ए० के प्रथम वर्ष में मुझे कला विभाग में अव्वल आने पर प्रथम पुरस्कार महामना मालवीय जी के करकमलों से मिला था। अंग्रेज़ी के 143 विद्यार्थियों में मेरे नम्बर सबसे ऊँचे थे और इतिहास तथा संस्कृत में भी मैं प्रथम था। हाँ, गणित के 40 विद्यार्थियों में मेरा नम्बर तीसरा था। उन दिनों मेरी स्मरण-शक्ति इतनी अच्छी थी कि इतिहास के पृष्ठ-के-पृष्ठ मैं याद कर सकता था। द्वितीय वर्ष में उस स्मरण-शक्ति का ह्रास हो गया, इसका मुख्य कारण मेरा असंयत जीवन ही था। याददाश्त एक ऐसी मशीन है जो बड़ी सँभाल के साथ ही सुरक्षित रह सकती है। इंटर की परीक्षा मैं केवल द्वितीय डिवीज़न में ही पास कर सका।

मेरा छोटा भाई (स्व०) रामनारायण कभी-कभी अभिमान के साथ कहा करता था, "हिन्दी तो हमने माँ के दूध के साथ पी है।" जिस दिन पं० रामेश्वर भट्टजी ने निबन्ध में हमें 5 में से 4 नम्बर दिये और कहा, "चौबे, तू अच्छा लिख लेता है," उसी दिन सम्भवतः मेरे लेखक-जीवन का प्रारम्भ हो गया। मेरा प्रथम लेख 'स्वावलम्बन' काशी के 'नवजीवन' में मई-जून सन् 1912 के अंक में छपा था। स्व० केशव जी शास्त्री उस पत्र के सम्पादक थे। उस लेख में शब्दाडम्बर की भरमार थी। एक वाक्य सुन लीजिए :

"तात्पर्य यह है कि यदि हम परतन्त्रता की वैतरणी नदी को पार कर स्वतन्त्रता रूपी स्वर्ग-लाभ किया चाहते हैं तो हमें आत्मविलम्बन रूपी गाय की पूँछ पकड़नी चाहिए।"

'मर्यादा' के जुलाई सन् 1912 के अंक में प्रकाशित मेरे लेख ने सारी क्लास पर संकट ला दिया। लेख का शीर्षक था, 'औरंगज़ेब के जीवन पर एक दृष्टि'। उन दिनों प्रोफ़ेसर ईश्वर प्रसाद जी हमारे यहाँ आगरा कॉलेज में इतिहास पढ़ाया करते थे और कभी-कभी अनुवाद सिखाने का कार्य भी ले लिया करते थे। औरंगज़ेब के विषय में एक पुस्तक पढ़ाई जाती थी। उसी के आधार पर लिखकर मैंने वह लेख 'मर्यादा' को भेज दिया और उसके सुयोग्य सम्पादक पं० कृष्णकांत जी मालवीय ने मुझे प्रोत्साहन देने के ख़याल से उसे छाप भी दिया। हमारे किसी साथी ने 'मर्यादा' का अंक प्रोफ़ेसर साहब को दिखला दिया। वैसे भी मैं उनका

कृपापात्र था। वह मेरी ग़रीबी को जानते थे और उन्हें यह भी पता था कि मेरे पिता जी एक मामूली मुदर्रिस हैं, इसलिए मेरे साथ उनका व्यवहार बहुत ही सहृदयतापूर्ण था। अपने प्रिय शिष्य की इस करामात पर वह बड़े प्रसन्न हुए। क्लास के सामने उन्होंने मेरी प्रशंसा भी की और उक्त लेख का कुछ अंश अनुवाद को दे दिया। 'मर्यादा' की उन दिनों बड़ी धाक थी। सरस्वती के बाद उसी का नम्बर था और उसमें किसी नवयुवक के लेख का प्रकाशित हो जाना निस्सन्देह गौरवजनक था।

'मर्यादा' के बाद तो अन्य पत्रों में लेख छपना और भी सरल हो गया।

उन्हीं दिनों जब मैं नवें या दसवें दर्जे का विद्यार्थी था मैंने कविवर सत्यनारायण जी के दर्शन किये। जब महामना मालवीयजी हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए चन्दा करने आगरा पधारे थे, उस समय कविरत्न जी ने उनके स्वागत में एक कविता पढ़ी थी। इस मधुर कविता की ध्वनि अब भी मेरे कानों में गूँज रही है। मालवीयजी ने सत्यनारायण जी को अपने पास बुलाकर उनकी पीठ ठोकी थी और बहुत प्रोत्साहित किया था। उन्हें बहुत बरसों तक सत्यनारायण जी का स्मरण रहा। और जब सन् 1925 में मैंने उन्हें सत्यनारायण जी का जीवन-चरित भेंट किया तो उन्होंने उसे न केवल पढ़ा बल्कि उसकी आलोचना भी की। उन्होंने मुझसे कहा, "तुमने सत्यनारायण जी के गार्हस्थक जीवन पर जो कुछ लिखा है, उसे छोड़ देते तो ठीक होता। अंग्रेज़ लेखक अपने कवियों की चारित्रिक त्रुटियों पर अधिक प्रकाश नहीं डालते। बहुत बचाकर लिखते हैं। तुमने तो भण्डाफोड़ ही कर दिया है। यह अनुचित है।"

3

मेरा भी एक भाई था

मिलहि न जगत सहोदर भ्राता।

—**तुलसीदास**

दिसम्बर सन् 1908 : "बनारसी उठो तो सही। दाई के घर हमारे साथ चलना है।" दादा केशवदेव ने रात के चार बजे कहा। मैं हड़बड़ी में उठ बैठा और दादा के साथ हो लिया। दाई का घर कोई मील-भर दूर था। हम लोग उसे बुला लाये। दो घण्टे बाद एक बालक का जन्म हुआ, जिसका नाम रखा गया रामनारायण, जिसे हम सब प्रेमपूर्वक 'पटे' के नाम से पुकारते थे।

पटे उम्र में मुझसे सोलह साल छोटा था और उस समय काका 56 वर्ष के थे। वह उनकी अन्तिम सन्तान था। पटे को अम्मा और कक्का ने बड़े स्नेहपूर्वक पाला था। परिणामस्वरूप पटे ने माता-पिता, दोनों के सद्गुणों को ग्रहण कर लिया था।

पटे अक्सर कहा करता था, "हिन्दी प्रेम तो हमने अपनी माँ के दूध के साथ पिया था, जिन्होंने इक्कीस बार रामायण का पाठ किया था और हमारे कक्का को हज़ारों कवित्त कण्ठस्थ थे। हिन्दी काव्य के समझने के लिए हमें घर से दूर जाने की ज़रूरत नहीं।"

निस्संदेह पटे का हिन्दी विषयक ज्ञान असाधारण था। सम्मेलन की विशारद परीक्षा उसने पास की थी। उस समय की एक घटना मुझे अब भी याद है। सम्मेलन वालों की अव्यवस्था के कारण विशारद के पर्चे फीरोज़ाबाद केन्द्र पर पहुँचे ही नहीं। पटे ने परीक्षा की सब तैयारी कर ली थी अतः उसे बड़ी निराशा हुई। उसी वक्त मैंने यह तय किया कि जल्दी से आगरे जाने वाली ट्रेन पकड़ी जाय और नागरी प्रचारिणी सभा में पटे को बिठलाया जाय। ट्रेन के आने में पच्चीस मिनट की देरी थी और स्टेशन मील-सवा मील की दूरी पर था। हम दोनों बेतहाशा भागे और ट्रेन पकड़ ली।

हम लोग भाई हरिशंकर जी के यहाँ ठहरे। पटे उन दिनों भोजन-सम्बन्धी नियमों में काफ़ी कट्टर था और अन्य किसी ब्राह्मण के यहाँ की भी कच्ची रसोई नहीं खाता था। अतएव भाई हरिशंकर जी को ख़ास-तौर पर उसके लिए पूड़ियाँ बनवानी पड़ीं।

एक बार हरिशंकर जी ने पटे से पूछा, "तुम्हारे दादा तो हमारे यहाँ की कच्ची रसोईं खा लेते हैं, तुम्हें क्या एतराज़ है?" पटे ने तुरन्त उत्तर दिया, "दादा तो भ्रष्ट हो गये हैं।" हरिशंकर जी पटे के इस

जवाब की याद करके अक्सर हँसा करते थे। आगे चलकर पटे की यह कट्टरता स्वयं ही दूर हो गयी। जब मैं पटे के साथ लखनऊ गया था और रत्नाकर जी के घर पर ठहरा था, उस समय भी पटे के लिए पक्की रसोई का प्रबन्ध कराना पड़ा था। आचार्य पं० पद्मसिंह जी उस समय हमारे साथ थे। तभी से वह आचार्य का कृपापात्र बन गया था।

पटे को इस बात की शिकायत थी कि उसके लेख मैं 'विशाल भारत' में नहीं छापता; और उसने यह बात पं० पद्मसिंह जी को लिख भी भेजी थी। उन्होंने अपने एक पत्र में मुझको डाँट पिला दी। आगे चलकर पटे के दो-तीन लेख मैंने छाप भी दिये थे। आज मुझे इस बात का हार्दिक पश्चात्ताप है कि पटे की साहित्यिक प्रतिभा के विकास के लिए मैंने कुछ भी नहीं किया। जितना समय मैंने हिन्दी के अन्य लेखकों तथा कवियों को अर्पित किया उसका शतांश भी यदि मैं पटे को दे सकता तो वह भी एक प्रतिष्ठित लेखक बन गया होता। पर सार्वजनिक कार्यकर्ता के जीवन का एक अभिशाप होता है कि उसके घरवालों की प्रायः उपेक्षा हो जाती है। अपनी एक कहानी 'सम्पादक की समाधि' में मैंने एक वाक्य लिखा है: "जो आदमी अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अपने अधीनस्थों के व्यक्तित्व का विनाश करता है, वह पापी है, अधम है, नीच है, पामर है।" यह अपराधी आत्मा की स्वीकारोक्ति ही थी।

पटे पद्मसिंह जी का अनन्य भक्त था और आचार्य जी भी उससे मिलने के लिए लोहामण्डी से 'चौबे बोर्डिंग' अक्सर जाया करते थे। उन्होंने पटे को संस्कृत पढ़ाने की बात भी कही थी। वैसे बी० ए० में पटे ने संस्कृत ली थी। अपने अन्तिम दिनों में सितम्बर सन् 1936 में पटे ने मुझसे कई बार कहा था, "दादा, तुम सब काम छोड़कर पं० पद्मसिंह का जीवन-चरित लिख दो।" मैंने पटे को उस समय यही उत्तर दिया था, "पटे तुम पहले स्वस्थ हो जाओ, फिर हम-तुम दोनों मिलकर यही पुण्य कार्य करेंगे।"

दुर्भाग्यवश पटे का स्वर्गवास 6 अक्टूबर, सन् 1936 को हो गया और पं० पद्मसिंह जी की जीवनी लिखने का विचार जहाँ का तहाँ पड़ा रहा। एक बार मैंने लिखने का निश्चय भी किया और जीवन-चरित के भिन्न-भिन्न विभाग भी करा लिए। कुछ काम आगे बढ़ा भी पर फिर वह बन्द कर देना पड़ा।

'विशाल भारत' के पद्मसिंह अंक के लिये पटे ने अपने संस्मरण भी लिखे थे जिनका अन्त इस उर्दू कविता में किया था—

"कोई बैठ के लुत्फ़ उठायेगा क्या,
जब रौनक़े बज़्म, तुम्हीं न रहे।"

अर्थात्—कोई आदमी आनन्द कैसे लेगा, जब सभा की रौनक़ आप ही नहीं रहे।

एक बार फुटबाल खेलते हुए पटे की टाँग टूट गयी थी और उसे महीने-भर खाट पर पड़ा रहना पड़ा था। उस समय मैंने उसे कुछ चिट्ठियाँ भी भेजी थीं, जिन्हें उसने बहुत सम्हाल कर रखा था। मुझे पत्र लिखने का व्यसन है। ज़िन्दगी में शायद लाख-डेढ़ लाख चिट्ठियाँ तो मैंने भेजी ही होंगी। आज भी सौ रुपये महीने के लगभग पोस्टेज इत्यादि पर ख़र्चा प्रतिमाह करना पड़ता है; पर पटे मेरे पत्रों के लिए तरसता रहता था। एक बार मैंने उसे लिखा था: "लुकास द्वारा लिखित 'जेंटल आर्ट' नामक किताब आगरा कॉलिज लाइब्रेरी से लेकर भेज दो।" पटे ने वह किताब तो भेज दी पर साथ ही लिखा: "दादा, तुम ख़ुद बहुत बढ़िया पत्र लेखक हो। लुकास की किताब से तुम्हें कुछ भी सीखने की ज़रूरत नहीं।"

पटे की उस उक्ति को मैंने तब भी अत्युक्तिमय समझा था और और आज भी यही मानता हूँ।

एक बार जीवन में निराशा का ऐसा 'मूड' आया कि दिल्ली, पूना, काशी इत्यादि के सम्मेलनों के अवसर पर कई विभागों के सभापतित्व का जो सम्मान मुझे मिलने वाला था उसे मैंने सधन्यवाद अस्वीकृत कर दिया। पटे को इससे बहुत बुरा लगा। उसने मुझे लिखा, "तुमको जो गौरव मिलता है, उससे हमें भी ख़ुशी होती है। दादा, तुम उसे अस्वीकृत क्यों कर देते हो?" पटे के हृदय में मेरे लिए अत्यन्त स्नेह था। अपने अन्तिम दिनों में उसने काश्मीर की यात्रा की थी और वहाँ बहिन सत्यवती मलिक के भी दर्शन किये थे और उनसे बहुत प्रभावित भी हुआ था। पटे ने मुझे लिखा था: "दादा, मुझे इस बात से बहुत दुख हुआ कि तुम आर्थिक कठिनाइयों के कारण काश्मीर यात्रा नहीं कर सकते। मैं उसका प्रबन्ध करूँगा, तुम निश्चिंत रहो।"

गुलमर्ग में पटे एक खड्ड में गिरते-गिरते बचा। उसका पैर फिसल गया, पर ख़ैरियत यह हुई कि एक लकड़ी में उलझ जाने के कारण वह कई सौ फ़ुट नीचे गड्ढे में गिरने से बच गया।

अन्तिम बीमारी के दिनों में पटे मेरे पास कलकत्ता आ गया था। उसने उन दिनों कई बार था, कहा "कक्का मर्द आदमी हैं। लाला (चि० बुद्धिप्रकाश) बहुत होशियार लड़का है।"



छोटे भाई स्वर्गीय रामनारायण चतुर्वेदी

जापान से लौटे हुए एक भारतीय विद्यार्थी हमारे यहाँ पधारे। उन्हें पटे की एक कविता कण्ठस्थ थी, सो उन्होंने पटे को सुना दी। हम दोनों को बड़ा हर्ष हुआ।

पटे को टाइफ़ाइड (मोतीझला) हुआ था और जैसा कि अक्सर होता है वह बीमारी किसी किसी अंग पर अपना ख़राब असर छोड़ जाती है। पटे की नेत्र-ज्योति पर टाइफ़ाइड ने अपना दुष्प्रभाव छो दिया था। यह तय किया गया कि पटे की रीढ़ की हड्डी से रस निकाला जाय। उसी क्रिया का पटे के स्वास्थ

विघातक असर हुआ। सुना है कि हज़ार में सिर्फ़ एकाध केस में ही ऐसा हुआ करता है। मैं इन बातों सर्वथा अनभिज्ञ था और पटे की बीमारी को मामूली ही समझता रहा। जब डॉक्टर बुलाया गया तो उसने थति गम्भीर बतलाकर तुरन्त कारमाइकेल अस्पताल भेजने का आदेश दिया। अस्पताल से एम्बुलेंस मँगाई ी और पटे को वहाँ भेज दिया गया।

साथ में मुझे भी अस्पताल जाना था, पर मैं जा नहीं सका। मैं थका हुआ था और दोपहर का ना मेरे लिए अनिवार्य था। इसलिए मैं विश्राम करने के लिए लेट गया। दो घण्टे बाद मैं भड़भड़ा कर उठ ा और मैंने अंग्रेज़ी में कहा, "मदर, पटे कैन नॉट डाई। देअर इज़ सो मच ऑफ़ वर्क टू बी डन फॉर सोश-ज़्म।" (अम्मा पटे मर नहीं सकता, क्योंकि समाजवाद के लिए अभी तो बहुत काम करना बाक़ी है।)

चूँकि मैं लगभग 54-55 वर्षों से अंग्रेज़ी द्वारा ही अपना मानसिक भोजन लेता रहा हूँ, मेरे मुँह अंग्रेज़ी वाक्य ही निकल गये।

बहुत वर्षों तक मैं यही मानता रहा कि पटे का स्वर्गवास हुआ ही नहीं। कई बार पटे ने स्वप्न में झसे कहा भी, "दादा, मैं तुम्हारे जीवन के साथ जीवित हूँ। तुम अपनी तन्दुरुस्ती का ख़्याल रखो। अपने ास्थ्य की हानि करके मेरी डबल मौत मत करना।"

पटे के स्वर्गवास के बाद जितनी बार मैंने उसको याद किया है, उतनी बार उसके 28 वर्षीय ीवन में भी नहीं किया था। मैं उसकी उपस्थिति का अनुभव प्रायः करता रहा हूँ और मेरा अब यह दृढ़ श्वास हो गया है कि जिन्हें हम प्रेमपूर्वक स्मरण करते हैं, वह मरते नहीं। उन्हें भुलाकर हम विस्मृति के गढ़े भले ही ढकेल दें।

पूज्य महात्मा जी ने हमारे कक्का के स्वर्गवास पर हमें लिखा था, "और मरता है कौन? जीव हर्गिज़ नहीं, जिसके साथ हमारा सम्बन्ध था और है और रहेगा।"

इस सिद्धान्त के अनुसार पटे की आत्मा अब भी जीवित है और समय-समय पर मुझे वह साव-ान भी करती रहती है।

जब कारमाइकेल अस्पताल से 'विशाल भारत' ऑफ़िस को फ़ोन पहुँचा कि पटे का स्वर्गवास हो या तो ब्रजमोहन वर्मा ने मेरे पास वह दुःखद समाचार भेज दिया। मैं अस्पताल गया और वहाँ काले पर्दे भीतर पटे की लाश को देखा। वह मेरे जीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना थी। मैं चाहता था कि कोई सहानु-ति युक्त आदमी मुझे वहाँ मिल जाता जिससे मैं यह कह सकता, "यह लड़का फ़र्स्ट क्लास फ़र्स्ट एम० ए। कॉलिज में अध्यापक रह चुका है। मेरा छोटा भाई है।" पर अस्पताल में तो सभी अजनबी थे।

पटे चला गया। महात्मा जी ने किसी से उसके स्वर्गवास का समाचार सुनकर लिखा था: "भाई मनारायण जिस रास्ते गये हैं उस रास्ते हम सभी को जाना है, केवल समय का ही फ़र्क़ है।"

बापू की बात बिल्कुल ठीक थी। पर बकौल कविवर मैथिलीशरण जी गुप्त—"पर अन्त तक रोते हेंगे हम तुम्हारे शोक में।"

पटे की मृत्यु से हृदय को जो घाव लगा वह अब तक नहीं भरा। आज उस दुर्घटना को 47 र्ष से अधिक हो चुके हैं।

पटे को तो जाना ही था—हम सभी को जाना है—पर कई बातें मेरे हृदय में काँटे की तरह टकती रहती हैं। पहली बात तो यह है कि मैं पटे की बीमारी में कोई तीमारदारी नहीं कर सका। मैंने

नर्सिंग का काम सीखा ही नहीं और बीमार आदमी की सेवा करने की कुछ भी सामर्थ्य मुझ में नहीं है। अब मैं समझता हूँ—घर के हर बच्चे को प्रारम्भ से ही नर्सिंग की शिक्षा देनी चाहिए। दूसरी बात जो मुझे निरन्तर खटकती रहती है, वह यह है कि अपनी आर्थिक अव्यवस्था के कारण मेरे पास उन दिनों एक रुपया भी न या, यद्यपि पौने दो सौ रुपये मासिक वेतन मिलता था, जो 1936 में अच्छा वेतन माना जाता था। पटे को होमियोपैथ डॉक्टर को दिखलाना चाहता था पर उनकी फ़ीस, आठ रुपये मेरे पास नहीं थी। और तो और कफ़न के लिए पैसे भी नहीं थे जो भाई बसन्तलाल चतुर्वेदी ने दिये।

"कौड़ी न रख कफ़न को"—मेरा आदर्श रहा है। पर इसके माने यह नहीं कि अपने छोटे भाई के लिए भी पैसा पास न रखा जाय।

एक बात मुझे और भी बड़े दुख के साथ याद आ रही है। आगरा कॉलेज की मैनेजिंग कमेटी के एक सदस्य ने पटे की पुनः नियुक्ति का विरोध किया था और उसकी नौकरी छुड़ाकर बड़े अभिमान से कहा था, "वी हैव गॉट रिड ऑफ़ कम्यूनिस्ट" अर्थात् "हमने एक साम्यवादी से छुटकारा पा लिया।" यह बात पटे के साथी मिस्टर काटजू ने मुझे सुनाई थी। पटे निस्संदेह प्रगतिशील विचारों का था। फ़ासिस्ट लोगों के विरुद्ध उसने लेख लिखा था। साम्यवादी कार्यकर्ताओं से वह मिलता-जुलता भी था। कृष्णस्वामी[1] से उसका परिचय था पर किसी पार्टी से उसका सम्बन्ध न था।

काटजू साहब ने मुझे बतलाया था, "पटे इधर-उधर भटकते हुए पूछता था, 'मुझे किस अपराध के लिए निकाला जा रहा है।' "

आज जब मैं पटे की उस स्थिति की कल्पना करता हूँ तो हृदय में एक हूक-सी उठती है।

पर अब मैं समझने लगा हूँ कि नवीन सामाजिक क्रान्ति लाते समय ऐसी लाखों ही दुर्घटनाएँ होंगी। यह अनिवार्य है। हज़ारों ही प्रगतिशील युवक तलवार के घाट उतारे जायेंगे और लाखों की ही नौकरियाँ छूटेंगी। पटे की दुर्घटना से मुझे विचलित न होना चाहिए था पर मनुष्य आख़िर मनुष्य है। वह अपने निजी दुख को असाधारण महत्त्व देता है। पटे तो साम्यवादी था नहीं पर मैं अपने 78वें वर्ष से साम्यवादी विचारधारा का समर्थक हो गया हूँ। जिन दिनों पटे का स्वर्गवास हुआ था, फीरोज़ाबाद में रामलीला हो रही थी। लक्ष्मण के शक्ति लगने पर भगवान राम के विलाप का अभिनय हो रहा था। मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने कहा—"मिलहि न जगत सहोदर भ्राता।"

इस उक्ति की सत्यता का अनुभव वही अभागे कर सकते हैं जिनके जीवन में वैसी दुर्घटना घटी हो। मैं भी अभागा हूँ। मेरे भी एक भाई था जो 28 वर्ष की आयु में चल बसा।

पुनश्च:

पटे एक मेधावी विद्यार्थी था। बी० ए० में भी उसकी पाँचवीं पोज़ीशन आयी थी। वह बड़ा स्नेही व्यक्ति था और उसके स्वाभाविक स्नेह के कारण उसके मित्रों की संख्या काफ़ी बड़ी थी। पटे के कितने ही साथी-संगी अब भी उसे प्रेमपूर्वक स्मरण कर लेते हैं।

1. आगरा के एक साम्यवादी कार्यकर्ता

4

धर्मपत्नी को श्रद्धांजलि

मेरी पत्नी का स्वर्गवास 30 सितम्बर, सन् 1930 ई० को हुआ था। उस दुर्घटना को अब 53 वर्ष होने को आये। इस लम्बे अर्से में कभी भी मैंने उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित नहीं की, यद्यपि एक अपराधी की भाँति मैं उन्हें निरन्तर याद करता रहा। 'सम्पादक की समाधि' नामक कहानी में मैंने अपना हृदय उड़ेल ;या था। उस कहानी को और उसे इस अध्याय में आगे उद्धृत भी कर रहा हूँ। यद्यपि वह कल्पित कहानी है थापि उसमें मेरी हृदयगत भावनाओं का सजीव चित्रण हो गया है।

यह कहना तो ग़लत होगा कि मैंने जान-बूझकर घर वालों पर कोई अत्याचार किया, पर उनकी पेक्षा मुझसे अवश्य हो गयी। बात दरअसल यह हुई कि पत्रकारिता के सार्वजनिक जीवन में फँस जाने के ारण मेरा जीवन अन्तर्मुखी होने के बजाय बहिर्मुखी बन गया। मैं सन्तोषजनक ढंग पर अपने गार्हस्थक र्त्तव्यों का पालन न कर सका। सुप्रसिद्ध अमरीकी लेखक एमर्सन ने शायद मेरे जैसे व्यक्तियों को ध्यान में खकर कहा होगा : "माई लव अफ़ार इज़ स्पाइट ऐट होम"। (यानी बाहर वालों से तुम्हारे प्रेम के मानी हैं, ार वालों से विद्वेष)।

मेरा विवाह सन् 1909 में हुआ पर वास्तविक गृहस्थ-जीवन सन् 1912 में प्रारम्भ हुआ। ;स प्रकार मेरा गृहस्थ-जीवन कुल जमा 18 वर्ष रहा। चतुर्थ सन्तान के दस-बारह दिन बाद प्रसूति में मेरी त्नी का आकस्मिक देहान्त हो गया। यह कैसी दुर्भाग्य की बात थी कि चार बच्चों का पिता होने पर भी मैं ।सूति नामक बीमारी से परिचित भी न था। तब तक आगरा में सरोजिनी नायडू अस्पताल की स्थापना भी ाहीं हुई थी। मैंने सुना है कि अपने प्रारम्भ से अब तक सरोजिनी नायडू अस्पताल 20-21 हज़ार बालक- ालिकाओं को सकुशल जन्म दे चुका है। सहस्रों माता-पिताओं के आशीर्वाद स्व० हजारीलाल जैन को प्राप्त ो चुके हैं।

मेरे एकांगी जीवन की भूल से दूसरे युवक कुछ शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। मैं प्रत्येक विवाहित ुवक से, जो मेरे सम्पर्क में आता है, 'सम्पादक की समाधि' पढ़ने का अनुरोध करता हूँ। अपने बाह्य जीवन की चिन्ता में व्यस्त रहने के कारण न तो मैं अपनी मानस सन्तान (ग्रन्थ इत्यादि) की चिन्ता कर सका और न औरस सन्तान (बाल-बच्चों) की।

आज से इक्यावन वर्ष पूर्व 9 जनवरी, सन् 1932 को अपनी एक तुकबन्दी में अपनी स्वर्गीया

सहधर्मिणी को इन शब्दों में निमंत्रित किया था। उस दिन पौष शुक्ल 2 थी और मेरी 40वीं वर्षगाँठ :

"जीवन बसंत की अवाई आज देखो प्रिये,
स्वागत करे को, कूकि कोकिला सुनावौ तुम।
आशालता झूमें मन सुमन प्रफुल्लित हो,
आली बानि माली तिन्हे सफल सजावौ तुम।
जस की जुही की गन्ध जग में पसारिवे कों,
हीतल कर सीतल समीर सरसावौ तुम।
जो पै छरछन्द में न कविता ह्वै आवौ देवि,
जीवन उद्यान मेजु सविता ह्वै आवौ तुम॥
प्रेम रस प्यासे भटकत फिरौ चाहे जितै,
भावन के भूखे बस म्हौं की ही खाओगे।
सूखि जैहै सरिता सरोवर विलीन ह्वै हैं,
जीवन की आस लै जिते ही तुम जाओगे।
मारग अकेले में दुकेले अब ह्वै हो नाँहि,
साथी बिछुरे को कहूँ खोज हूँ न पाओगे।
व्याकुलता त्यागि मनीराम धीर धारी अब,
सूखे रस हीन वृथा वासर बिताओगे॥

जैसा ऊपर लिखा है, 'सम्पादक की समाधि' ही मेरी पूरी भावना तथा अनुवाद का प्रतीक है। वह इस प्रकार प्रकाशित हुई थी :

सम्पादक की समाधि

टन न्न् न्।

"हैलो हू आर यू प्लीज़ (आप कौन हैं) ?" मैंने टेलीफ़ोन पर पूछा।

"का हल्लो-हल्लो करि रए हौ ? कछु पतौऊ है, कै बजे हैं ? पाँच की गाड़ी से चलनौ है और साढ़े तीन बज चुके। हम तो तुम्हारे मारे तंग हैं।"

"अच्छा, अच्छा ! श्रीमती जी हैं ! लेउ अभैंई आए। फ़ाइनल प्रूफ़ के लिए रुकना पड़ा।"

"फ़िनाइल रहन देउ। जल्दी आऔ।"

'देशभक्त' का वार्षिक अंक निकालकर मैं मदुरा, विजयनगर, सेतुबन्ध रामेश्वर इत्यादि की यात्रा पर जा रहा था। कम्पोज़ीटर और फ़ोरमैन दनादन काम में लगे हुए थे। प्रूफ़ आया। सरसरी निगाह से एक बार देखकर और सहकारियों से विदा ग्रहण करके मैं टैक्सी लेता हुआ घर आया। श्रीमतीजी अत्यन्त व्यस्त थीं। ख़ैरियत यह थी कि सब सामान उन्होंने बाँध रक्खा था। रात के तीन बजे से उठकर वह तैयारी कर रही थीं। भोजन बनाया था, कपड़े ठिकाने रखे थे। नौकर का हिसाब साफ़ किया था, और न जाने क्या-क्या किया था। मैं सात बजे सोकर उठा, और डेली पेपर पढ़ने लग गया था। पहुँचते ही मधुर मुस्कान

के साथ उन्होंने ख़ासी डाँट बतलाई, "तुम्हें तो कोई अंग्रेज़ी पढ़ी-लिखी अख़बार-बाँचनबारी स्त्री मिलती, तो तुम्हारे होस ठिकाने आउते। पाँच बरस बाद तो तीरथ करिबैको विचार करौ है, सोऊ अब आइ बैठे। कछु खबरऊ है, का का लै चलनौ है? जब हम न रहेंगे तब मालूम परैगी, कैसे घर कौ काम होत हैं।"

मैंने कुछ झेंपकर कहा, "अच्छा, अबकी बार और माफ़ करो। कृष्ण भगवान ने शिशुपाल के सौ कसूर माफ़ किये थे, अभी तो हमारे चार दर्जन भी नहीं हुए। रही अख़बार-बाँचनबारी स्त्री की बात, तो सो हमने एक ईसाइन लड़की के लिए 'देशभक्त' में विज्ञापन दे दिया है। सहायक की हमें सचमुच ज़रूरत है। कोई-न-कोई मिल ही जायेगी। अगर बदसूरत हो, तो तुम भी उससे रोटी-ब्यालू का काम ले लेना, और ख़ूबसूरत हुई तो···तो अब हम का कहैं।"

"चलौ रहन देउ, तुम्हें जेई बातें सूझिति हैं।"

●

मदरास मेल से रवाना हुआ। पत्नी तीर्थ यात्रा के लिए जा रही थीं, मैं जर्नलिस्टिक टूर पर था, और साथ में चार वर्ष की लड़की सरला भी थी। तीनों अपने-अपने विचारों में मग्न थे।

पत्नी ने लम्बी साँस लेकर कहा, "अख़बार वालों का काम भी बहुत ख़राब है। छुट्टी ही नहीं मिलती। अब पाँच बरस बाद निकास हुआ है।" वह पिंजरे से छूटे हुए पक्षी की तरह अपने को स्वतन्त्र पा रही थी और तुलसीकृत रामायण में से सेतुबन्ध का प्रकरण उसने पढ़ने के लिए निकाल रखा था। मैं सोच रहा था—'विजयनगर में 'आंध्र प्रकाश' के सम्पादक मि० सुब्रह्मण्यम, एम० एल० ए० आवेंगे। उनसे अनेक विषयों पर बातचीत करनी है। अगर हो सका तो दो दिन के लिए उतर जाऊँगा। सफ़र लम्बा है। जर्नलिस्ट एसोसिएशन के विषय में भी बातचीत कर लूँगा।' सरला को रेल में चढ़ते ही भूख लग आयी थी, और वह अपनी माँ से खाना माँग रही थी। स्टेशन पर ज़िद करके उसने चार-पाँच खिलौने भी ख़रीदवा लिए थे और उन्हें वह इधर-से-उधर रख रही थी। हम तीनों व्यक्ति इतने पास होते हुए भी एक-दूसरे से कितनी दूर, कितने परे थे। जाते एक ही तरफ़ थे, मगर लक्ष्य सबका जुदा-जुदा था।

विजयनगर में मि० सुब्रह्मण्यम मिले। आख़िर ठहरना ही तय हुआ। हम लोग एक सुसज्जित बँगले में ठहरे। श्रीमतीजी और सरला को वहाँ छोड़कर मैं घूमने निकला। इस लेखक से मिला, उस जर्नलिस्ट से बातचीत की। प्रत्येक स्थान पर डेढ़-दो घंटे लग गये। मैंने दिल में सोचा, बड़ी देर हो गयी। जल्दी से मि० सुब्रह्मण्यम को लेकर लौटा। अपराधी की भाँति बँगले पर आया। पत्नी ने कोई शिकायत नहीं की, पर लड़की सरला भला क्यों चूकने वाली थी—"बड़ी देर में आये, हमें क्यों नहीं लै गये, हमारे लयें कछु लाये, और अम्मा भूखी बैठी हैं और हमारी चिरैया टूटि गयी।"

मैंने पत्नी को डाँटकर कहा, "बस इसी से हमारी लड़ाई होती है। अब तक भूखी क्यों बैठी रहीं? तुलसीदास ने यह किस काण्ड में लिखा है कि भूखी रहकर पति की आत्मा को कष्ट दो।"

मैं यह जानता था कि वह मुझे भोजन कराये बिना स्वयं कभी नहीं खाती थी, चाहे दिन-भर भूखा रहना पड़े, पर फिर भी मैं अपराधी उसे ही समझता था। वह चुपचाप सुनती रही। मैंने भोजन करना प्रारम्भ किया। बीच में मैंने कहा, "भई यहाँ से दस-बारह मील दूर एक वृद्ध साधु रहते हैं। बड़े पहुँचे हुए सुने जाते हैं। कहो तो उनके दर्शन करते चलें।"

यह सुनते ही पत्नी के मुँह पर कुछ प्रसन्नता के लक्षण दिखाई दिये। साधु-सन्तों के प्रति उनके

हृदय में स्वाभाविक श्रद्धा थी। उन्होंने कहा, "हाँ, ज़रूर-ज़रूर !"

इस पर मैं बोला, "मगर एक बात और सुनी है। इस साधु महात्मा ने एक कठोर नियम बना रखा है; वह यह कि वह दो प्रकार के आदमियों से नहीं मिलते, एक तो पत्रकार-अख़बार वाले से और दूसरे किसी स्त्री से ।"

यह सुनकर वह निराश हो गयीं। उस समय मुझे एक चालाकी सूझी। मैंने कहा, "देखो। अगर तुम एक बात पर राज़ी हो जाओ तो सब काम बन जायें। मर्द की पोशाक पहन लो, ऊपर से ओवरकोट डाल लो, साफ़ा बाँध लो और सिख बन जाओ। मैं कह दूँगा कि मैं व्यापारी हूँ और ये पंजाबी, टैक्सी ड्राइवर हैं। मुझसे बहुत मेल-जोल है। इस यात्रा पर रवाना हुआ तो ये भी तैयार हो गये। (मुस्कराकर) कहूँगा, बड़े सज्जन आदमी हैं।"

श्रीमती कुछ परेशान-सी हो गयीं। बोलीं, "जि तुमने बुरी सुनाई। हम मर्दन के कपड़ा कैसे पहने ? नाहि-नाहि, हम नहीं जायेंगी।"

मगर साधु महात्मा के दर्शनों का मोह ऐसा न था जिसे श्रीमतीजी आसानी से छोड़ देतीं। थोड़ी देर बाद राज़ी हो गयीं।

प्रातःकाल में विजयनगर के प्राचीन स्थानों को देख-भालकर तीसरे पहर हम लोग साधु जी के दर्शन के लिए चलने की तैयारी कर रहे थे। कोट-पैण्ट पहनना श्रीमती जी के लिए आसान न था। मैंने कहा, "मैं पहना सकता हूँ, नेकटाई भी बाँध दूँगा, पर पहनाई देनी पड़ेगी। स्त्री से पुरुष बनाना आसान नहीं। भई, आख़िर कुछ-न-कुछ ज़ुर्माना देना ही पड़ेगा ?"

पत्नी बोली, "तो हम नाँहि जाति।"

ज्यों-त्यों मनाकर और नेकटाई पहनाकर मैंने उनसे कहा, "देखिए, इस दर्पण में देखिए, आप सरदार सुन्दरसिंह टैक्सी-ड्राइवर बन गये, या नहीं।"

जब तक वह दर्पण देखें, तब तक मैंने उनका एक चुम्बन ले लिया। सच्ची नाराज़ी दिखलाते हुए उन्होंने कहा, "बड़े पापी हो। आज एकादशी है। तीरथ के लिए और साधु जी के दर्शन के लिए चल रहे हैं।"

मैंने जवाब दिया, "कोई अन्न की चीज़ तो मैंने तुम्हें खिलाई नहीं, जिससे तुम्हारा व्रत भंग हो गया हो।"

उन्होंने सिर्फ़ इतना ही कहा, "चलो, रहन देउ।"

हम लोग बैलगाड़ी से रवाना हुए। रास्ते-भर श्रीमती जी मुँह फुलाए बैठी रहीं, शायद इसलिए कि मैं बच्ची की निगाह बचाकर वही भूल दुबारा न कर बैठूँ। अफ़सर की टेढ़ी निगाहें देखकर जूनियर बाबुओं को छुट्टी माँगते हुए डर लगता है, यहाँ तो तरक्क़ी का सवाल था।

सरला ने कहा, "अरे, अम्मा तो लोग हो गयी।"

तब भी श्रीमती के चेहरे पर हँसी न आयी। मैं बोला, "तीर्थ यात्रा से चाहे जिसको लाभ हो, हमारा तो बड़ा नुकसान हुआ है। कई वर्ष की ब्याही हुई मेहरिया छिन गयी !"

सरला भी अपनी अम्मा को मर्दानी पोशाक में देखकर हँसी से लोट-पोट हुई जाती थी। मैंने उसे सावधान किया, "देखो, साधुजी के यहाँ इनसे अम्मा मत कहना, नहीं तो साधु जी तुम्हें पकड़कर अपनी झोली में डाल लेंगे।"

सरला साधुजी की झोली से कुछ डरी, फिर भी उसने पूछा, "अम्मा से अम्मा क्यों नहीं कहें ?"

साधुजी का आश्रम दस-पन्द्रह मील दूर था। पहुँचते-पहुँचते शाम हो गयी। छोटा-सा बग़ीचा था। बीच में एक कुटी थी। द्वार पर एक आदमी मिला। किसान-सा मालूम होता था। पहले उसने अपनी भाषा में कुछ कहा, जिसका हम लोग कुछ भी मतलब न समझ सके। ऐसा प्रतीत होता था कि कोई आदमी लोटे में कंकड़ डालकर बजा रहा हो। सरला उसकी बोली सुनकर हँस पड़ी। मैंने उसे डाँट पिलाई। फिर उस किसान ने अंग्रेज़ी में लिखा हुआ एक काग़ज़ जेब से निकालकर दिया। उसमें लिखा था, "जर्नलिस्ट्स एण्ड लेडीज़ आर नॉट अलाउड इनसाइड," अर्थात् "पत्रकार और स्त्री कुटीर में न आयें।"

सरदार सुन्दरसिंह ने पूछा, "क्यों क्या बात है ?"

"सरदारजी, कोई बात नहीं।" मैंने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया, और फिर एक काग़ज़ पर पेंसिल से लिख भेजा, "एस० के० भट्टा और सरदार सुन्दरसिंह" और फिर मन में सोचा, 'चलो, अच्छी प्रेस सामग्री मिलेगी। वर्षों से जिस साधु से कोई पत्रकार इंटरव्यू नहीं ले सका, उससे आज बातचीत करूँगा, और अख़बारों में उस पर एक लेख लिख डालूँगा।'

जिस समय हमें साधु जी ने अन्दर बुलाया, काफ़ी अँधेरा हो चुका था। मैंने सुन्दरसिंह से हँसकर कहा, "बड़े भाग्यवान हो भाई। शाम हो चुकी है। साधु जी को ज़रा भी सन्देह नहीं होगा। दिन होता तो तुम्हारी सारी करतूत खुल जाती। चले हैं पैंट-कोट पहनकर सरदार साहब बनने।"

अब जाकर मेरी स्त्री के चेहरे पर ज़रा-सी मुस्कराहट आयी।

प्रणाम करके हम लोग बैठ गये। अंग्रेज़ी में बातचीत प्रारम्भ हुई, और घंटे-भर तक होती रही। बीच में सरदार साहब चुपचाप बैठे मुँह देखते रहे। तत्पश्चात् साधु जी ने पूछा, "आप लोग किस प्रान्त के रहने वाले हैं ?"

मैंने कहा, "मैं भरतपुर राज्य के एक ग्राम का रहने वाला हूँ और ये पंजाबी सिख हैं।"

मेरे आश्चर्य का कुछ ठिकाना न रहा और मैंने सुना कि साधु जी हमारे ग्राम के निकट के ही निवासी हैं। फिर तो उन्होंने अपनी ग्रामीण बोली में बोलना प्रारम्भ किया। सरला कुछ चौकन्नी-सी हुई और सरदार साहब भी सचेत हो गये। आज वर्षों बाद साधु जी को अपनी मातृभाषा में या यों कहिये कि ग्राम्य भाषा में किसी से बोलने का अवसर प्राप्त हुआ था, इसलिए प्रयत्न करने पर भी वह अपनी भावुकता को न दबा सके। अब तक वह अपने ग्राम का पता भी किसी को न बतलाते थे, पर आज वह अपने को रोक न सके। उनकी एक लड़की हमारे ग्राम में ब्याही थी। जब उसका नाम पूछा तो उन्होंने कहा, "सरला।"

मेरी सरला डरी। उसने समझा कि साधु जी ने झोली में रखा।

मैंने कहा, "अरे सरला, वह तो हमारे पड़ोस में ही रहती है।" साधु जी का दिल भर आया।

मैंने कहा, "बीस-पच्चीस दिन बाद मैं अपने घर लौटूँगा। कहिये तो उससे कुछ कह दूँ।"

साधु जी ने एक दीर्घ निश्वास ली और कहा, "क्या कहोगे ? कोई कहने की बात भी तो हो।"

साधु जी को भावुकता में देखकर मैंने समझा कि तवा गरम है, जर्नलिस्ट रोटी सेकने का अच्छा मौक़ा है। पूछा, "महात्मा जी, एक जिज्ञासा है। आपने यह नियम क्यों बनाया कि आप किसी पत्रकार या स्त्री से न मिलेंगे।"

साधुजी ने जवाब दिया, "क्या करेंगे आप सुनकर ? आप व्यापारी आदमी हैं, आपको इससे कुछ

लाभ न होगा।"

मैंने फिर भी आग्रह किया, तो साधु जी ने यह आत्मकथा सुनाई :

"सत्तर वर्ष का हो चुका, आज यह बोझ हलका करना चाहता हूँ। यह बात मैंने आज तक किसी से नहीं कही, पर तुमसे कहता हूँ। तुम मेरे निकट के हो, इसीलिए मेरा मन विवश हो गया, पर एक शर्त है कि तुम यह बात मेरे मरने के पहले किसी से नहीं कहोगे, यहाँ तक कि मेरी लड़की से भी नहीं। उसकी माता के प्रति मैंने घोर अपराध किया था।"

मैं कुछ चौंका। दिल में ख़्याल आया कि साधु जी पहुँचे हुए हज़रत मालूम होते हैं। सम्भव है इन्होंने कोई हत्या की हो। जासूसी कहानी के लिए अच्छा मसाला मिलेगा। मैंने कहा, "साधु जी महाराज! हम लोग यात्री ठहरे। अंग्रेज़ी पोशाक ज़रूर पहन ली है पर दिल हमारा भारतीय है। हममें धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा है। तीर्थ यात्रा पर जा रहे हैं, भला हम विश्वासघात कर सकते हैं! हम किसी से कुछ न कहेंगे, आप बेखटके सुनाइये।"

साधु जी ने कहा, "पहले मैं एक दैनिक पत्र का सम्पादक था। पत्र का नाम नहीं बताऊँगा। हर जगह मेरा नाम छपता था। सभाओं में मेरी पूछ होती थी। डिनर्स में मुझे बुलाया जाता था। प्रेस एजेंसी मेरी बीमारी तो क्या छींकने तक की ख़बर देश-भर में फैला देती थी। हाँ, एक बात मैं भूल गया। मेरी एक स्त्री थी और मैं उसे सदा भुलाए रहता था। वह हिन्दी तो पढ़ लेती थी, मगर अंग्रेज़ी का एक अक्षर भी नहीं जानती थी, इसलिए मैं उसे अशिक्षित और असभ्य समझता था।"

यह सुनकर मैंने सरदार सुन्दरसिंह की तरफ़ देखा, मानो मौन भाषा में कहा, वह भी तुम्हारी साथिन थी। सुन्दरसिंह ने धीरे से मेरा पाँव दबाकर चुप रहने का संकेत दिया। साधु बोल रहे थे : "मैं उससे कहा करता था कि तुम मेरे लिए उपयुक्त साथी नहीं हो। दो-तीन बार मैंने उसे डेली न्यूज़पेपर सुनाने की कोशिश की पर उसे तुलसीकृत रामायण में जो आनंद आता था, वह अख़बार में कभी नहीं आया। मैं उसे दासी की भाँति ही समझता था। मैं उससे कपड़े धुलवाता था, बर्तन मँजवाता था, पानी भरवाता था और भोजन बनाना तो उसका जन्मसिद्ध कर्त्तव्य था ही। मैं समझता था कि ईश्वर की ओर से जीवन-भर के लिए मुझे एक अच्छी अवैतनिक दासी मिल गयी है। स्त्रियों की स्वाधीनता के विषय में लिखे हुए मेरे लेख कितने ही पत्रों में उद्धृत हुए थे, और पुस्तकाकार भी छपे थे। पर मैंने यह कभी ख़्याल नहीं किया कि मेरी स्त्री को भी कुछ स्वाधीनता चाहिए। जिन दिनों मैं अपने लेख पर दूसरे पत्रों में लीडिंग आर्टिकल देखकर ख़ुश होता था, उन्हीं दिनों सरला और उसकी माँ जाड़े के कपड़े न बन सकने के कारण बग़ल में हाथ दबाये घर पर सर्दी के दिन काटती थीं। बाहर मैं सूटेड-बूटेड प्लेटफ़ार्म से धाराप्रवाह व्याख्यान देता था, उधर घर पर पत्नी अपनी फटी हुई धोती में पैबन्द लगाती थी। आफ़िस में मैं सरकार के कठोर शासन की निन्दा करता था और घर पर मेरा शासन उससे कम कठोर न था। जिस दिन मैंने अपना इण्टरव्यू तार के द्वारा भारत-भर के पत्रों को छपने के लिए भेजा था, उस दिन घर में तरकारी के लिए भी पैसा नहीं बचा था और जब मैं अमुक सभा का सभापित होकर गया था, पत्नी ने अपने हाथ के कड़े बेचकर घर के लिए अनाज मँगाया था। जब सरला टाइफ़ायड ज्वर से पीड़ित थी, मैं घर से सात सौ मील दूर एक पोलिटिकल मीटिंग अटेण्ड कर रहा था और भारतवर्ष के दीन-हीन बच्चों की दुर्दशा पर चार आँसू बहा रहा था—

" 'दूध पीना तो प्रत्येक बच्चे का जन्मसिद्ध अधिकार है।' यद्यपि मेरी पत्नी को अपनी बाली

बेचकर बीमार लड़की के लिए विदेशी दवा का प्रबन्ध करना पड़ा था, मगर देशी दूध उसे फिर भी न मिल सका।"

यहाँ पहुँचकर साधु जी ने एक लम्बी साँस ली। मैं अपराधी की भाँति घबराया हुआ था। मैं डर रहा था कि कहीं मेरी स्त्री का हृदय द्रवित न हो जाये। चुनाँचे मैंने आँख के इशारे से उन्हें सावधान भी कर दिया।

साधु जी ने एक ठंडी साँस भरकर कहा, "उन दिनों पत्रकार का जीवन बड़ा ख़तरनाक था। आप व्यापारी आदमी उसका अन्दाज़ा भी नहीं लगा सकते। कभी नौकरी लगती, कभी छूटती। महीनों घर पर बेकार बैठा रहना पड़ा। इस बीच मैं अपनी स्त्री के लगभग सब गहने बेचकर खा गया। केवल दो गहने रह गये थे—नाक की नथ और पाँव के बिछुए। यद्यपि उसके सब गहने मेरे ही काम आये थे, पर मैं उससे बराबर झगड़ा करता रहता। कहता, 'तुमने व्यर्थ ही इतना रुपया इनमें फँसा रखा है। रुपये होते तो बैंक में जमा होते।' वह यही उत्तर देती थी, 'मुझे गहनों का शौक़ नहीं। गृहस्थी में ये गहने वक्त-बेवक्त काम आ जाते हैं। मैं नहीं चाहती कि तुम किसी के सामने हाथ पसारो। घर में चीज़ हो, तो उसे रखकर हारी-बीमारी में काम निकल सकता है।' इस प्रकार हारी-बीमारी आती रहीं और गहनों से काम निकलता रहा। यद्यपि स्त्रियों के लिए वोटाधिकार पर मैंने बड़े तगड़े लेख लिखे थे, और मेरी मित्र 'चाली' की सम्पादिका श्रीमती ज्योतिष्मती, एम० ए० ने उन पर मुझे ख़ूब बधाई दी थी, पर मैंने स्वप्न में भी यह ख़्याल नहीं किया था कि ज्योतिष्मती के लिए वोट पर जितना अधिकार चाहिए, कम-से-कम उतना तो सरला की माँ को अपने मायके से लाये हुए गहनों पर है ही।"

साधु जी फिर कुछ रुके, और अपने को ज़रा सँभालकर बोले, "आप नहीं जानते कि पत्रकार का जीवन कितना बाह्य हो जाता है। जनता के सम्मुख बार-बार आने की प्रवृत्ति आन्तरिक आध्यात्मिक भावों को कुचल डालती है। अस्त-व्यस्त जीवन में यह सोचने का अवकाश ही नहीं मिलता कि आख़िर इस विज्ञापन से जीवन को कुछ वास्तविक लाभ है या नहीं। मैं समझता रहा कि ज़िन्दगी यों ही कट जायेगी, सरला की माँ जीवन-भर मेरी सेवा यों ही करती रहेगी, पर भाग्य में कुछ और ही लिखा था।

"आख़िर दुर्भाग्य का वह काला दिन आ ही गया। रात के बारह बजे थे। सर्दी से हाथ-पाँव ऐंठे जाते थे, गली-बाज़ार सब ख़ाली थे। कहीं पर कुत्ता भौंक रहा था, कहीं-कहीं किसी के चलने की आहट सुनाई दे जाती थी। मैं एडीटोरियल लिखकर घर लौटा। पत्नी को कई दिन से ज्वर आ रहा था। पर मैंने उसकी कुछ भी परवाह न की थी। उन्हीं दिनों मेरे यहाँ दो-तीन पत्रकार अतिथि भी ठहरे हुए थे, और उनके लिए, उन बीमारी के दिनों में भी, वह भोजन बनाया करती थी। मैं समझता था कि स्त्रियाँ बिना कारण के बीमार होती हैं, और यों ही बिना दवा के तन्दुरुस्त हो जाती हैं। मैंने पूछा, 'कहो कैसी तबीयत है?' उसने जवाब दिया, 'कुछ नहीं, ठीक है।' शरीर जल रहा था। देखा तो ज्वर 104 डिग्री था। घबरा गया। भागा-भागा डॉक्टर के यहाँ पहुँचा। डॉक्टर साहब आये। उन्होंने मरीज को देखकर कहा, 'एडीटर साहब, आप भी गज़ब के अक़लमन्द आदमी हैं। अब तक क्या कर रहे थे? इन्हें तो डबल निमोनिया हो गया है।' डॉक्टर साहब ने नुसख़ा लिखा। मैंने जेब में हाथ डाला तो पैसा नहीं। स्त्री ने ठाकुर जी के सिंहासन की ओर इशारा किया। उसके नीचे दबे हुए दो रुपये निकल आये। उन्हें डॉक्टर साहब के हवाले किया। दवा खाने के साथ ही उसका बोल बन्द हो गया। ग़रीब अपनी मन की बात भी न कह सकी। हाँ, एक बार सरला की ओर देखकर

उसने मेरी ओर ज़रूर देखा था। सूर्योदय होते-होते मेरा जीवन अंधकारमय बन गया। वह हृदय बेधक दृश्य अब भी मेरी आँखों के सामने है। वह मर चुकी थी, परन्तु उसके चेहरे पर अब भी पूर्ण शान्ति थी, मानो उसने मेरा सम्पूर्ण अपराध क्षमा कर दिया हो। वह लाल कपड़े पहने हुए थी। ऐसे ही कपड़े पहनकर वह अपनी माँ के घर से मेरे घर आई थी, वैसे ही कपड़े पहनकर आज वह मेरे घर से सदा के लिए विदा हो रही थी। मैं फूट-फूटकर रोने लगा। पड़ोसी लोग अर्थी की चिन्ता में थे। ऑफ़िस से वेतन मिलने में दस दिन की देर थी। पागल की तरह मैंने पत्नी के सन्दूक़ को टटोला। रामायण में पाँच रुपये का नोट मिल गया। तब मुझे ख़्याल आया कि प्रतिवर्ष रामायण का पाठ समाप्त कर वह एक रुपये का नोट चढ़ाया करती थी, जिसे मैं घोर अंधविश्वास कहा करता था। इस अंधविश्वास ने ही उस समय मेरी लाज रख ली।

"अंत्येष्टि के बाद घर लौटा, तो मुझे पता लगा कि मेरा क्या खो गया है। अब मुझे चिन्ता थी, तो केवल एक बात की कि स्त्री के फूल त्रिवेणी तक कैसे पहुँचाए जाएँ। एक बार उसने कहा था, 'मेरी एक बात मानो तो कहूँ। मेरे फूल त्रिवेणी पर पहुँचा देना।' मैंने घोर अंधविश्वास कहकर उस बात को उड़ा दिया था। तीसरे दिन जब मैं चिता की भस्म से फूल बीनने गया, तो उसके साथ ही मुझे वह सोने की नथ मिली, जिसे पहनकर वह सौभाग्यवती श्मशान को गयी थी। उस समय मुझे उसकी बात याद आ गयी कि गहना समय-कुसमय काम आता है, और उसका गहना बड़े संकट के समय काम आया। उसने, जब तक वह जीती रही, किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया, आज मरने के बाद भी उसकी ख़ातिर मुझे किसी के सामने हाथ नहीं फैलाना पड़ा।

"संध्या समय जब पण्डित जी के साथ पीपल के पेड़ पर घड़ा बाँधने तथा दीपक रखने गया, तो पण्डितजी ने कहा, 'इस दीपक को आप जलाइये, और फिर कहिये—मैं दीपक को इसलिए जलाता हूँ कि जिससे गतात्मा का मार्ग प्रकाशमय हो।' उस समय मेरे दिल को धक्का लगा। कँपकँपी-सी आ गयी। हाथ से दीपक छूट पड़ा। पण्डितजी ने कहा, 'यह क्या, आपका ध्यान किस दिशा में है?' मैंने कहा, 'पण्डित जी, मेरा ध्यान अब ठीक दिशा में है। जीवन-भर जिसके हृदय को जलाकर अपना मार्ग प्रशस्त और उसका मार्ग अंधकारमय बनाता रहा, अब दो पैसे का स्नेहहीन दीपक जलाकर उसके मार्ग को कैसे प्रकाशमय बना सकता हूँ।' जो मनुष्य अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अपने अधीनस्थ प्राणियों के सुख-दुख की चिन्ता न करता हुआ, उसके व्यक्तित्व को कुचलकर, यश-लिप्सा से आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है वह अधम है, नीच है, पापी है, पामर है।"

साधु जी थोड़ी देर चुप रहे फिर बोले, "अब आप समझ गये होंगे, मैं पत्रकारों से क्यों नहीं मिलता। जिनका जीवन सर्वथा बाह्य बन जाता है, उनसे मिलकर मैं क्या करूँ? रही स्त्री की बात, सो एक स्त्री पर घोर अत्याचार करने के बाद मैं अब क्या किसी स्त्री को मुँह दिखलाने लायक रहा हूँ?"

मैं स्तब्ध रह गया। वृद्ध साधु की आँखों में आँसू झलक रहे थे, जिन्हें रोकने का वह निष्फल प्रयत्न कर रहे थे। बिल्कुल सन्नाटा था। सरदार साहब की ओर देखा तो उन्हें गश आ गया था। भोली-भाली सरला ने, जो अब तक खिलौनों की धर-उठाई कर रही थी, यह देखा, तो वह अकस्मात् बोल उठी, "बाबूजी, अम्मा को क्या हुआ, देखो।"

सारा भंडाफोड़ हो गया। साधुजी ने आँखें मूँद लीं। हाथों से मुँह ढक लिया और कहा, "आपने मेरे साथ विश्वासघात किया। आप स्त्री को यहाँ क्यों लाये? मालूम होता है, आप भी कोई चालाक पत्रकार

हैं। आपकी इस ऊपरी सज्जनता के भीतर अधमता इतनी दूर तक चली गयी है, इसका मुझे पता न था। अब आप कृपा करके चले जाइये।"

मैंने सिर्फ़ इतना ही कहा, "यह अधर्मी अपने भयंकर अपराध के लिए क्षमा-याचना करता है, और अपना तुच्छ जीवन आपकी सेवा में अर्पित करता है।"

साधु ने कहा, "बस, आप चले जाइये। अभी वक्त नहीं आया।"

साधु जी चुप हो गये। हम लोग लौट आये। सेतुबन्ध रामेश्वर की यात्रा की, और फिर अपने घर वापस आ गये।

●

कुछ वर्ष बाद मेरी पत्नी भी चल बसीं। जिस दिन उनकी मृत्यु हुई अकस्मात् उसी दिन विजय नगर की मुहर लगी एक चिट्ठी मुझे मिली। उसमें लिखा था: "जीवन-यात्रा अब समाप्त हो रही है। यह उपवन और यह कुटीर तुम्हारे लिए छोड़े जाता हूँ।"

नीचे साधु जी के हस्ताक्षर थे। मैंने दिल में सोचा कि अब वक्त आ गया है।

●

मैं अब उसी कुटी में रहता हूँ। सम्पादक की समाधि बनवा दी है, और मैंने भी यह नियम बना लिया है, दो प्रकार के आदमियों से नहीं मिलता—एक तो पत्रकार से और दूसरा स्त्री से।

5

इन्दौर के राजकुमार कालेज में

जब मैं फर्रूखाबाद के सरकारी स्कूल में सहायक अध्यापक था, उन दिनों 'आर्य मित्र' के सम्पादक श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी से मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। उन्हें मैं गुरुतुल्य पूज्य मानता था। वह 'आर्य मित्र' का काम छोड़कर इन्दौर से निकलने वाले 'नवजीवन' में कार्य करने के लिए जाने वाले थे। उन्होंने मुझसे आग्रह किया कि मैं 30 रुपया मासिक पर उनकी जगह आगरा में 'आर्य मित्र' में चला जाऊँ। पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश करने की मेरी इच्छा पहले ही से थी, इसलिए मैंने सहर्ष उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और एक महीने की छुट्टी के लिए प्रार्थना-पत्र भेज दिया। छुट्टी के बाद सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा देने का निश्चय था, पर एक घटना ऐसी घटी, जिसकी मैंने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी। जिस दिन सरकारी नौकरी से एक महीने की छुट्टी की स्वीकृति की सूचना आई उस दिन उसी डाक से इन्दौर के राजकुमार कॉलेज के हिन्दी अध्यापक के पद पर नियुक्ति का आदेश मिल गया। बात यह हुई थी कि महीने डेढ़-महीने पहले अपने हाईस्कूल के हेडमास्टर साहब मुहम्मद ऐजाज़ आलम के विशेष आग्रह पर मैंने वहाँ अपनी अर्ज़ी भेज दी थी। प्रार्थना-पत्र में लिख दिया था कि मैं वर्नाक्यूलर फाइनल परीक्षा पास हूँ। हेडमास्टर साहब ने सिफारिश के तौर पर मेरी अत्युक्तिमय प्रशंसा भी कर दी थी। नौकरी मिलने की कोई उम्मीद नहीं थी क्योंकि ग्रेड 80 से 120 रुपये तक का था। अर्ज़ी हेडमाटर साहब ने ख़ुद ही बोलकर लिखवाई थी। मैंने उसे अपने अच्छे-से-अच्छे अक्षरों में लिखा था। मेरे सौभाग्य से मेरा प्रार्थनापत्र स्वीकृत हो गया। मैं आगरा के बजाय इन्दौर चला गया। जाने के पूर्व जब मैं आगरा के इंस्पेक्टर ऑफ स्कूल्स (शिक्षा निरीक्षक) से मिला तो वह बोले, "यंगमैन, यू आर एक्सेप्शनली फॉरचूनेट फॉर थर्टी टू एटी इज़ ए बिग जम्प।" (अर्थात्—नवयुवक तुम अत्यंत भाग्यशाली हो, क्योंकि 30 से 80 की फलांग बड़ी ऊँची है।)

इन्दौर निवास (1914 से '20) मेरे लिए अत्यंत लाभदायक सिद्ध हुआ। सन् 1918 के प्रारंभ में वहाँ हिन्दी साहित्य सम्मेलन का आठवाँ अधिवेशन होने वाला था। मैं उसके साहित्य विभाग का मंत्री चुना गया। श्री सम्पूर्णानन्द जी उस विभाग के प्रधान थे। मैं इन्दौर 1914 में पहुँचा था और वह सन् 1915 में। तभी से मेरा-उनका घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। वह उम्र में मुझसे तीन वर्ष बड़े थे। वह मेरे साथ छोटे भाई जैसा व्यवहार करते थे। उनके सम्पूर्ण जीवन काल में मैं उनका कृपापात्र रहा।

सन् 1917 के अन्तिम महीनों में मैंने अपने ख़र्च पर वृन्दावन तथा प्रयाग की यात्रा भी सम्मेलन

के कार्य के लिए की थी। वृन्दावन में मुझे स्व० राधाचरण गोस्वामी तथा श्री किशोरीलाल गोस्वामी के भी दर्शन हुए और प्रयाग में श्रद्धेय टण्डन जी तथा पं० सुन्दरलाल जी के। टण्डन जी उस समय खपरैल से पटी एक छोटी कोठरी में सम्मेलन का संचालन करते थे।

वह दृश्य मुझे अभी तक याद है जब लोगों ने इन्दौर स्टेशन पर महात्मा जी का स्वागत किया था। वह उस समय अँगरखा पहनते और काठियावाड़ी पगड़ी बाँधते थे। उस सम्मेलन में कई उल्लेख योग्य व्यक्ति पधारे थे, जैसे शिवप्रसाद जी गुप्त, सेठ जमनालाल जी बजाज, अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी और श्री वेंकटेश नारायण जी तिवारी इत्यादि। श्री जमनालाल जी, श्री वाजपेयीजी और मुझे अपनी कार में बिठाकर अपनी आढ़त की दुकान पर भी ले गये थे। सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशनों से यह एक बड़ा लाभ होता था जो भावी साहित्यिक जीवन के लिए लाभदायक तथा सहायक सिद्ध होता था। इसी सम्मेलन के लिए मैंने सत्यनारायण जी कविरत्न को विशेष रूप से आमंत्रित किया था। वह पधारे और उन्होंने कई कविताएँ, जो हाल ही में लिखी थीं, सुनाईं। वे मुझे इतनी अच्छी लगीं कि मैंने उनके हस्ताक्षरों में उनसे लिखवा लिया था। उनमें वह कविता भी थी जिसके अन्त में होता है: "कोरो सत्य ग्राम को बासी कहा तकल्लुफ़ जाने।" सत्यनारायण उन दिनों मिर्ज़ई पहनते थे और दुपल्ली टोपी लगाते थे तथा ब्रजभाषा में बात करते थे। जब वह पण्डाल में आना चाहते थे तो एक स्वयंसेवक ने गँवार समझकर उन्हें घुसने नहीं दिया था। जब मुझे यह बात मालूम हुई तब मैं उन्हें वहाँ ले आया। जब सत्यनारायण जी ने गांधी जी के बारे में अपनी कविता पढ़ी तो पंद्रह हज़ार की भीड़ ने स्तब्ध होकर उसे सुना। उस समय 'लीडर' के संवाददाता श्री वेंकटेश नारायण तिवारी जी ने कहा था—उस कविता ने उपस्थित जनता पर जादू जैसा असर किया।

सम्मेलन के पूर्व महात्माजी ने अपने दो प्रश्न गश्ती-चिट्ठी द्वारा जनता तक पहुँचाये भी थे। वे प्रश्न इस प्रकार थे—

1. कौन-सी भाषा राष्ट्रभाषा होनी चाहिए?
2. शिक्षा किस भाषा में होनी चाहिए?

मैंने प्रथम प्रश्न भारत के प्रसिद्ध पुरुषों के पास भेजकर उनके उत्तर मँगाए थे। उनके जो उत्तर आये, उन्हें मैंने सम्पादित कर राष्ट्रभाषा नामक पुस्तिका में सम्मेलन द्वारा छपवा दिया था। उस समय श्रद्धेय वियोगी हरि जी सम्मेलन में काम करते थे। वह यमुना नदी के किनारे इलाहाबाद में रहते थे। एक दिन शाम को मैंने उनके निवास-स्थान पर सात्विक भोजन भी किया था।

सम्मेलन की प्रदर्शिनी का उद्घाटन महात्माजी ने किया था और उस समय प्रोफ़ेसर गीडीज़ ने उन्हें इन्दौर के विकास के विषय में अपने नक्शे भी दिखलाये थे। प्रोफ़ेसर गीडीज़ नगर-निर्माण-कला के विशेषज्ञ थे। उन्होंने बारह भारतीय नगरों के प्लान बनाये थे। आगे चलकर मैंने उनका एक रेखाचित्र भी प्रस्तुत किया था।

इन्दौर में ही मैंने चार वर्ष लगाकर 'प्रवासी भारतवासी' नामक पुस्तक लिखी थी।

6

मेरे सहायक और सहयोगी

एक बात में मैं अत्यन्त सौभाग्यशाली रहा हूँ, यानी समय-समय पर मुझे सुयोग्य सहायक मिलते रहे हैं। विशाल भारत में ब्रजमोहन वर्मा तथा श्री धन्यकुमार जी जैन मेरे सहायक सम्पादक थे और स्व० श्रीपति पांडे प्रूफ़ रीडर। दरअसल पत्रों के संचालन और सम्पादन में सहायकों का ज़बरदस्त हाथ रहता है पर सम्पूर्ण श्रेय प्रधान सम्पादक को मिलता है। सहायक का कोई नाम भी नहीं जानता। 'विशाल भारत' में मैंने सहायक सम्पादकों के नाम देने की प्रथा प्रारम्भ कर दी थी। यहाँ तक प्रूफ़ रीडर श्रीपति पांडे का नाम भी दे दिया था।

स्व० वर्मा जी अंग्रेज़ी और बांग्ला दोनों से अच्छे अनुवाद कर लेते थे और धन्यकुमार जी तो बांग्ला के श्रेष्ठ अनुवादक थे ही। परशुराम (राज शेखरबोस) तथा गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं के अनुवाद धन्य कुमार ने ही किए थे। 'विशाल भारत' में आने के पहले धन्यकुमार जी छुटपुट अनुवाद करते रहते थे। जब मैं 'विशाल भारत' में पहुँचा, एक दिन वह मेरे निवास स्थान पर पधारे और परिचय देते हुए बोले, "हम भी फीरोज़ाबाद के ही रहने वाले हैं। मेरे पूछने पर उन्होंने बतलाया कि उनके बाबा फीरोज़ाबाद में ही किसी सेठ के मुनीम थे। धन्यकुमार के पिता जी बंगाल में ही रहे थे, इस प्रकार बांग्ला पर उनका विशेष अधिकार था। हिन्दी विश्वकोष के लिए उन्होंने कुछ अनुवाद भी किये थे। मैंने तीस रुपये महीने पर उन्हें 'विशाल भारत' में रख लिया था और इसी प्रकार पचास रुपये महीने पर ब्रजमोहन वर्मा को भी। वर्मा जी के ख़ास चाचा जी स्व० कृष्णबलदेव मोहन जी हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखकों में से थे। वह श्रद्धेय टण्डन जी के फूफा लगते थे और बाबू श्यामसुन्दरदास के सहयोगियों में से थे। मैं उनके शुभ नाम से परिचित था और उन्हीं के अनुरोध पर मैंने वर्मा जी को नियुक्त कर दिया था। वर्मा जी विकलाँग थे और बैसाखी के बल ही चल पाते थे। उन्हें बोन टी० बी० (हड्डियों का क्षय) हो गयी थी। और इसलिए उन्हें नौ महीने खाट पर लेटे रहना पड़ा था। इस बीच उन्होंने 'मॉर्डन रिव्यू' के सभी पुराने अंक पढ़ डाले थे। उनकी स्मरण शक्ति बहुत अच्छी थी। 'विशाल भारत' छोड़ते समय मैंने लिखा था : "विशाल भारत की सफलता का 75 प्रतिशत श्रेय वर्मा जी को है। मेरे इस कथन को कुछ लोगों ने सामान्य शिष्टाचार की बात माना था पर वह था नितान्त सत्य। वर्मा जी के लेखों का संग्रह मैंने ज्ञान-मण्डल काशी द्वारा छपवा दिया था और समीक्षकों ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। भाई धन्यकुमार जी आगे चलकर कवीन्द्र रवीन्द्र के सर्वश्रेष्ठ अनुवाद सिद्ध हुए। उन्होंने कवीन्द्र की 27-28 पुस्तकों के अनुवाद

स्वयं छापे थे। स्वयं प्रकाशक बन जाने पर उन्हें घोर परिश्रम करना पड़ा था, क्योंकि पुस्तकों की बिक्री करना अत्यन्त कठिन था। उनके अन्तिम दिन आर्थिक संकट में बीते। वर्ष-दो वर्ष के लिए उन्हें उत्तर प्रदेश सरकार से 150 रुपये मासिक की सहायता मिलने लगी थी। उन्होंने शरत् के कुछ उपन्यासों का भी अनुवाद किया था। खेद की बात है कि लोग उनको भूल गये हैं।

'मधुकर' के दिनों में बन्धुवर यशपाल जैन और भाई जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी ने पूरा-पूरा सहयोग दिया था। यशपाल जी छः वर्ष तक और जगदीश जी चार वर्ष तक मेरे साथ रहे थे। उन दोनों के सहयोग के कारण और महाराज वीरसिंह जू देव की उदारता से कुण्डेश्वर साहित्यिक केन्द्र बन गया था। और कई आन्दोलन वहाँ से संचालित हुए थे, जैसे—बुन्देलखण्ड प्रान्त निर्माण आन्दोलन, जनपद आन्दोलन, पत्रकार आन्दोलन आदि। 'मधुकर' के जनपद आन्दोलन अंक का सम्पादन तो जगदीशजी ने ही किया था जबकि वह 103.5 डिग्री बुखार से पीड़ित थे। नाथूराम प्रेमी-अभिनन्दन ग्रन्थ का सम्पादन मुख्यतया यशपाल जी ने ही किया था और हेमचन्द्र स्मृति-ग्रन्थ का भी। 'अहार' क्षेत्र के संग्रहालय की स्थापना का कार्य मैंने उन्हीं के सुपुर्द कर दिया था। जो कुछ वहाँ बन पड़ा उसका मुख्य श्रेय उन्हीं को है।

विन्ध्यवाणी में भाई प्रेमनारायण खरे, श्री चतुर्भुज पाठक, स्व० पीताम्बर अध्वर्यु, श्री नन्दराम कठैल तथा श्री पस्तौर जी का पूरा-पूरा सहयोग मुझे मिला था।

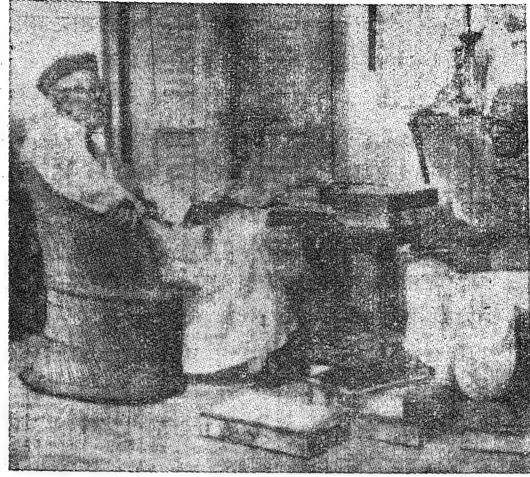
मधुकर एक ठेठ जनपदीय पत्र था और उसके पुराने अंक अब भी शोधकर्ताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं।

सम्पादन कार्य मैंने मुख्यतः दो ही पत्रों में किया—'विशाल भारत' और 'मधुकर' में। वैसे कुछ महीने मैं आर्यमित्र में भी भाई हरिशंकर जी शर्मा का सहायक रहा था और इक्कीस दिन तक दैनिक 'अभ्युदय' का भी सम्पादन मैंने किया था।

यद्यपि सन् 1912 से ही मैं लेख लिखता रहा हूँ पर सन् 1964 से जब मैं दिल्ली से राज्य सभा की सदस्यता छोड़कर अपने नगर फीरोज़ाबाद में आया, तो मुझे सहायक की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। भाई राजेन्द्र नाथ ने मेरे लेखन कार्य में मुझे कई वर्ष तक सहयोग दिया। वह साहित्य प्रेमी थे और कविता भी कर लेते थे। उनके पूज्य पिताजी पं० कुँजीलाल जी तहसीली स्कूल में मेरे अध्यापक भी रहे थे। इस प्रकार राजेन्द्र जी मेरे गुरु भाई थे। भारती भवन की सेवा भी उन्होंने सर्वथा निस्वार्थ भाव से की थी पर उनका कोई चित्र भी अब वहाँ नहीं है।

श्री राजेन्द्र जी के चले जाने के बाद श्री पूरनचन्द्र जी ने भी एक साल मुझे सहायता प्रदान की थी। वह ट्रेण्ड अध्यापक थे पर आज के आपाधापी के ज़माने में शिक्षा जगत् में स्थान न पा सके। सुना है कि वह आजकल हैदराबाद में हैं और कोई बिजनेस करके अपनी जीविका कमाते हैं। वह सुखी हैं, यह और सन्तोष की बात है। आजकल बन्धुवर डा० मथुराप्रसाद मानव, एम० ए०, पी-एच० डी० मुझे सहयोग प्रदान कर रहे हैं। वह नित्य प्रति दो-ढाई घण्टे का समय मेरे लिए देते हैं। उनका सहयोग मुझे 5-6 वर्ष से निःस्वार्थ भाव से मिल रहा है। यदि उनका सहयोग न मिलता तो इस इक्यानवें वर्ष की आयु में भी सक्रिय रहना मेरे लिए संभव न होता। वह ही मेरे पत्र तथा लेख लिख देते हैं। मैं बोलता जाता हूँ और वह मेरे भावों तथा विचारों को लिपिबद्ध करते जाते हैं। मेरी 'नब्बे वर्ष' नाम की पुस्तक की पाण्डुलिपि उन्हीं ने तैयार की थी और यह 'महापुरुषों की खोज' भी उन्हीं के हाथों की लिखी हुई है। वह मेरा दाहिना हाथ बन गये हैं।

मानव जी हमारे नगर के डी० ए० वी० कॉलेज से सेवा-निवृत्त हो चुके हैं। वहाँ उन्होंने सहायक अध्यापक, हिन्दी प्रवक्ता तथा प्रधानाचार्य के रूप में सेवाएँ सम्पन्न की हैं। उन्हें सेवा निवृत्त हुए छठा वर्ष चल रहा है और तभी से वह मुझे सहयोग दे रहे हैं। वैसे उनसे मेरा परिचय पुराना है। सन् 52-53 से ही मेरा उनका पत्र-व्यवहार होता आ रहा है। मानव जी स्वयं एक अच्छे कवि हैं। उनकी छोटी-बड़ी आठ-नौ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। वह लेख भी अच्छे लिख लेते हैं और कॉलेज पत्रिका तथा जीवन-चरितों का सम्पादन भी उन्होंने किया है। मैंने स्वयं उनका जीवन वृत्तान्त 'एक संघर्षशील व्यक्तित्व' के नाम से छपाया था। मानव जी राष्ट्रीय परिवार के व्यक्ति हैं। उनके पूज्य चाचा स्व० शम्भूदयाल सक्सेना मैनपुरी षड्यन्त्र के क्रान्तिकारियों में से थे और स्व० विश्वम्भरदयाल सक्सेना मैनपुरी में काँग्रेस के संस्थापकों में थे। विशम्भरदयाल सक्सेना स्वाधीनता से पहले यू० पी० एसेम्बली के निर्विरोध एम० एल० ए० निर्वाचित हुए थे। वह भ्रष्टाचार के घोर विरोधी थे और उसी के उन्मूलन के प्रयास में उनका देहावसान हुआ। मानव जी का परिवार ज़मींदार था। इनके पूज्य पिता जी, श्री रामस्वरूप धर्मप्राण व्यक्ति थे। उन्हें तुलसी की रामायण, जिसके वह नित्य-नियमित अध्येता थे, कण्ठस्थ थी। मानव जी कुल जमा 66 वर्ष के हैं। उनके लिए लम्बा समय साहित्य-सेवा के लिए पड़ा है।



डॉ० मथुराप्रसाद जी मानव (दायें) को 'महापुरुषों की खोज में' लिखवाते हुए लेखक

पिछले उन्नीस वर्षों से मैं फीरोज़ाबाद में रह रहा हूँ। यद्यपि इस बीच ज्ञानपुर और कोटद्वार में भी कई वर्ष रहना पड़ा। इस नगर के साहित्यिक कार्यों में सबसे अधिक सहयोग मुझे बन्धुवर जगन्नाथ लहरी ने दिया है। उनके पत्र 'फीरोज़ाबाद सन्देश' ने मेरी पूरी-पूरी सहायता की थी। तत्पश्चात् 'युग परिवर्तन' के सम्पादक भाई जगदीश मृदुल का नाम आता है। इन दोनों पत्रों ने मेरे पचासों लेख छापे होंगे। मेरे साहित्यिक कार्यों में भाई उमेश जोशी का पूरा-पूरा सहयोग रहा है। गाँधी विचार केन्द्र उन्हीं के द्वारा संचालित हुआ था। आज भी वह नगर की साहित्यिक गातिविधियों के केन्द्र बने हुए हैं।

फीरोज़ाबाद के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में भाई रतनलाल बंसल का नाम सर्वोपरि उल्लेख योग्य है। स्कूली शिक्षा तो उन्होंने नाममात्र को ही पायी है, पर पढ़ा बहुत है। बाल्यावस्था से ही वह राजनैतिक तथा साहित्यिक कार्यों में रुचि रखते रहे हैं और संकटग्रस्त साहित्य-सेवियों की उन्होंने बहुत सेवा की और करायी है। मुझे अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट कराने का सुझाव उन्हीं का था और दो हज़ार रुपये का चन्दा कराकर उन्होंने ही उसे प्रारम्भ भी कर दिया था। शेष की सारी ज़िम्मेदारी बन्धुवर वृन्दावन दास जी (मथुरा) पर पड़ी थी। क्रान्तिकारियों की भी काफ़ी सहायता उन्होंने करायी है। उनके प्रारम्भिक साहित्यिक जीवन में उन्हें भी कुछ प्रेरणा मुझसे मिली थी पर उसका बदला उन्होंने दस-बीस गुनी सेवा करके चुका दिया है।

इस अवसर पर मुझ स्व० गणेशलाल शर्मा प्राणेश की याद आती है। वह अच्छे कवि तथा लेखक थे और मेरे प्रति बड़ी श्रद्धा भी रखते थे। समय-समय पर साथ टहलते हुए, जो बातचीत उनसे हुई थी उसे उन्होंने लिपिबद्ध कर लिया था, यह बात उनके स्वर्गवास के बाद ही मुझे मालूम हुई। उन्होंने आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा जी पर शोध-कार्य किया था। उसमें उनके 1200 रुपये ख़र्च भी हो गये थे पर उनका शोध-ग्रन्थ संशोधनार्थ लौटा दिया गया था ! वह संशोधन नहीं कर सके। उनकी पुत्री ने पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त कर ली है। 'फीरोज़ाबाद-परिचय' ग्रन्थ उन्होंने मेरी प्रेरणा से ही लिखा था जिसमें फीरोज़ाबाद के सर्वांगीण विकास पर प्रकाश डाला था। उनका एक काव्य संग्रह 'प्राणेश-पुष्पाञ्जलि' के नाम से प्रकाशित हुआ था। 'फीरोज़ाबाद के पंचरत्न' एक छोटी-सी पुस्तिका भी उन्होंने छपवायी थी जिसमें नगर के प्रमुख पाँच समाज-सेवियों के काव्य-चित्र थे।

बहुत कम लोग इस बात को जानते हैं कि स्व० भाई द्वारिकाप्रसाद सेवक फीरोज़ाबाद के ही निवासी थे और भारती भवन की स्थापना उन्होंने ही की थी। आगे चलकर वह इन्दौर में रहने लगे थे और वहीं से उन्होंने मेरी 728 पृष्ठ की पुस्तक 'प्रवासी भारतवासी' छपायी थी और उसके बाद 'अमेरिका में केशवदेव शास्त्री' पुस्तिका भी। मेरे इन्दौर निवास के छः वर्षों में उनसे मुझे बड़ी सहायता मिली थी। उनके अन्तिम दिन बम्बई में ही बीते। फीरोज़ाबाद में उनकी कुछ ज़मींदारी थी, जिसे उन्होंने बेच दिया था। उनकी गणना घर-फूंक तमाशा देखने वालों में की जाती थी।

मेरे 'विशाल भारत' के दिनों में और उसके बाद भी सर्वथा निस्वार्थ भाव से, बिना एक पैसा लिए भाई श्यामसुन्दर खत्री जी ने मेरी बड़ी सहायता की थी और वह जीवन के अन्त तक मेरे सहायक बने रहे। विश्व भारती का रामानन्द चटर्जी अंक उन्हीं की सहायता से निकला था और ब्रजमोहन वर्मा स्मृति ग्रन्थ भी। 'विशाल भारत' की सफलता का अधिकांश श्रेय उसके लेखकों और कवियों को ही मिलना चाहिए। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरण जी, कविवर दिनकर जी, बन्धुवर सोहनलाल द्विवेदी, बहिन सत्यवती मलिक, स्व० कमला चौधरी तथा चन्द्रगुप्त विद्यालंकार इत्यादि अनेक प्रतिष्ठित लेखकों और कवियों ने 'विशाल भारत' में अपनी रचनायें भेजी थीं। यह सूची इतनी लम्बी है कि यहाँ दी नहीं जा सकती।

मेरे पूज्य पिताजी अक्सर यह दोहा दुहराते रहते थे—

जो तृन सम उपकार को, जानत सदृश पहार
ऐसे सुजन कृतज्ञ की, होति न कबहूँ हार ॥

मेरे प्रचार-कार्य में रामराज्य के सम्पादक भाई रामनाथ जी गुप्त ने भी बड़ी मदद की थी। आज भी 'अमर उजाला', 'विकासशील भारत', 'निंजन गढ़ गौरव' 'सत्यपथ', 'जनतायुग', 'देश-धर्म', 'स्वतन्त्र भारत' आदि अनेक पत्र-सम्पादक मेरे लेख छापते रहते हैं। मैं अपने इन सभी सहायकों और सहयोगियों का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

7

प्रवासी भारतीयों के लिए

श्री तोताराम सनाढ्य से भेंट

15 जून, सन् 1914 को मैं अपने जीवन का एक महत्त्वपूर्ण दिवस मानता हूँ, क्योंकि उसी दिन फीरोज़ाबाद के भारती-भवन पुस्तकालय में मुझे पण्डित तोताराम जी सनाढ्य के दर्शन हुए थे। वह एक महीने पूर्व फ़ीजी द्वीप में इक्कीस वर्ष रहकर भारतवर्ष लौटे थे और कलकत्ते में उनका एक भाषण हुआ था। भारती-भवन के प्रबंधक लाला चिरंजीलाल ने मेरा परिचय पण्डित तोताराम जी से कराया। मैंने छूटते ही कहा, "पण्डित जी ! आप अपने विदेश निवास के अनुभव लिख क्यों नहीं देते ?" उन्होंने उत्तर में कहा, "मैं कोई लेखक तो हूँ नहीं, बोलकर कुछ बतला सकता हूँ। कोई लिख सके तो अच्छी बात है।" मैंने सहर्ष इस काम को अपने जिम्मे ले लिया और पन्द्रह दिन तक निरन्तर वह अपने अनुभव मुझे सुनाते रहे। मैंने उन्हें अपनी भाषा में लिपिबद्ध कर दिया। चूँकि मैं सरकारी नौकर था, इसलिए अपना नाम दे ही नहीं सकता था। इस कारण 'फ़ीजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष' नामक पुस्तक पण्डित तोताराम के नाम से ही छपी। दरअसल उसके वास्तविक लेखक वही थे और मैंने तो केवल एक लिपिक का काम किया था। उस पुस्तक को जो प्रसिद्धि प्राप्त हुई, उसका विवरण आगे चलकर दिया जायेगा। इस समय तो इतना ही कहना चाहता हूँ कि इस पुस्तक ने मेरे जीवन में एक मोड़ ला दिया था और पूरे बाईस वर्ष तक प्रवासी भारतीयों की सेवा मेरे जीवन का मुख्य विषय रहा।

पण्डित तोताराम सनाढ्य



महात्मा गांधी, पण्डित मदनमोहन मालवीय, श्री गोपाल कृष्ण गोखले, श्री मोतीलाल नेहरू, श्री जवाहरलाल नेहरू, श्रीमती सरोजिनी नायडू व माननीय श्रीनिवास शास्त्री इस आन्दोलन में सहायक रहे। इसके फलस्वरूप शर्तबन्द कुली प्रथा, यानी गिरमिट प्रथा की समाप्ति हुई। भारत से बाहर बसे प्रवासी भारतीयों की ओर देश का ध्यान गया। वहाँ पर अध्यापक, प्रचारक, पुस्तकें तथा समाचार-पत्र भेजे गये, जिनसे उनमें जागृति आई व भारत के प्रति उनका तथा उनकी सन्तान का प्रेम बढ़ा। दक्षिण अफ्रीका, गयाना, फ़ीजी या अन्य उपनिवशों से जो भारतीय लौटे उनके पुनर्वास तथा सहायता का काम हाथ में लिया गया। फ़ीजी से वापस लौटने वालों तथा कलकत्ते के मटिया बुर्ज पर बसने वाले प्रवासियों की सहायता के लिए स्थानीय मित्रों, सरकार तथा देश-भर के अन्य सहयोगियों द्वारा सहायता व पुनर्वास के काम को आगे बढ़ाया गया। मैंने स्वामी भवानीदयाल संयासी के सहयोग से उनकी समस्याओं के बारे में 1936 में एक रिपोर्ट भी तैयार की। स्वामी जी ने भारत लौटकर अजमेर में एक प्रवासी भवन बनाया परन्तु दिल्ली में प्रवासी भवन का अभाव अब तक खटकता रहा है। प्रधानमंत्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू उससे सहमत थे व प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भी उसमें रुचि दिखाई है। भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद ने मेरे सुझाव पर 'फ़ीजी में भारतीयों के आव्रजन' का एक प्रामाणिक इतिहास बन्धुवर जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी से लिखवा भी लिया है। उन्हें मैंने अपनी सारी सामग्री उपयोग करने के लिए दी तथा समय-समय पर परामर्श भी दिया। इस प्रकार प्रवासी भारतीयों का काम यद्यपि बीच में कुछ रुक गया था परन्तु एक प्रकार से अब तक चलता रहा है। प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी मारीशस, गयाना, बर्मा तथा फ़ीजी जाकर प्रवासी भारतवासियों से मिल आई हैं और उनकी समस्याओं पर विचार हुआ है। हाल ही में नये सिरे से भारतवासी अमेरिका, यूरोप तथा पश्चिमी एशिया में रोज़गार के लिए जा रहे हैं और समस्याओं को समझने व उनसे सम्पर्क रखने की ज़रूरत भी उतनी ही है।

पूर्वी अफ्रीका की मेरी यात्रा

स्वभाव से ही मैं यात्रा-भीरु हूँ। यात्रा करने के कितने ही सौभाग्यपूर्ण अवसर मैंने अपनी भीरुता के कारण खो दिये। मैं केवल एक बार पूर्वी अफ्रीका की यात्रा कर सका और दो बार रूस की। मेरी अफ्रीका की यात्रा की कहानी पढ़ लीजिये :

काँग्रेस की वर्किंग कमेटी की मीटिंग उन दिनों साबरमती आश्रम में होने वाली थी। महात्मा जी जेल में थे। कोंडा वेंकटापैय्या वर्किंग कमेटी के प्रेसीडेण्ट थे और राजगोपालाचारी जी उसमें पधारे थे। जिस दिन मीटिंग हो रही थी उस दिन आचार्य गिडवानी जी ने मुझसे कहा, "चलिये, वर्किंग कमेटी की मीटिंग देख लें।" मैंने निवेदन किया कि मुझे वहाँ कौन जाने देगा? गिडवानी जी ने कहा, "आप मेरे साथ चलिये, कोई नहीं रोकेगा।" हम दोनों मीटिंग में चले गये। कुल दस-बारह आदमी थे। राजा जी वहाँ मौजूद थे। उनसे मेरा परिचय कराया गया तो छूटते ही उन्होंने कहा, "आप हम लोगों की पत्रों में बहुत निन्दा कर रहे हैं।" मैं हक्का-बक्का रह गया। तब उन्होंने बतलाया, "आप हम लोगों पर 'क्रिमिनल नेग्लीजेंस' (अपराधपूर्ण उपेक्षा) का इल्ज़ाम लगा रहे हैं कि हम लोग प्रवासी भारतीयों की उपेक्षा जान-बूझकर कर रहे हैं।" बात दरअसल यह हुई थी ये दो शब्द 'क्रिमिनल नेग्लीजेंस' मुझे बहुत पसन्द आ गये थे। मैं उनका अनाप-शनाप प्रयोग अपने लेखों में कर देता था। मद्रास का हिन्दू भी मेरे लेख छापता रहा था। इसलिए उसी में उन्होंने मेरे शब्द पढ़े होंगे।

मैंने राजा जी की सेवा में इतना ही निवेदन किया कि मुझे उन शब्दों के लिए खेद है। ज़्यादा बात करने का समय भी नहीं था इसलिए मामला जहाँ का तहाँ रह गया। वर्किंग कमेटी में इस प्रश्न पर विचार हुआ कि काँग्रेस को अपना कोई प्रतिनिधि मंडल पूर्व अफ्रीका भेजना चाहिए। उस समय काँग्रेस के सेक्रेटरी ने स्वयं ही कहा, 'बनारसीदास चतुर्वेदी और जार्ज जोसेफ़ को क्यों न पूर्व अफ्रीका भेजा जाये ?'' जोसेफ़ साहब उस समय 'यंग इण्डिया' का सम्पादन कर रहे थे। वह उस समय उस मीटिंग में मौजूद थे। इन्होंने तुरन्त ही कहा, "चतुर्वेदी जी तो कांग्रेस के चवन्नी वाले मेम्बर भी नहीं हैं और मेम्बर बनना भी नहीं चाहते। फिर काँग्रेस उन्हें अपना प्रतिनिधि कैसे बना सकती है ?" मैंने बड़ी विनम्रतापूर्वक निवेदन किया कि जोसेफ़ साहब का कथन ठीक ही है। नतीजा यह हुआ कि अकेले जार्ज जोसेफ़ साहब का नाम ही प्रतिनिधि मंडल के लिए रखा गया। मीटिंग समाप्त हो गयी। तत्पश्चात् मैंने उचित समझा कि राजा जी से मिलकर अपने द्वारा प्रयुक्त उन अपशब्दों के लिए क्षमा-प्रार्थना कर लूँ। मैं उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। मैंने राजा जी से निवेदन किया कि भावावेश में आकर मैंने उन अपशब्दों का प्रयोग किया था। इन शब्दों के ज़ोरदार प्रभाव को मैं नहीं समझ पाया था। इसलिए आपसे क्षमा-प्रार्थी हूँ। राजा जी बड़े सुलझे हुए दिमाग़ के आदमी थे। वह बोले, "आपने अपनी ग़लती मान ली, बस यही काफ़ी है। यह बात तो बतलाइये कि आप पूर्व अफ्रीका क्यों नहीं जाना चाहते ?" मैंने कहा कि मैं तो काँग्रेस का मेम्बर भी नहीं हूँ फिर उसका प्रतिनिधि कैसे बन सकता हूँ। राजा जी ने उत्तर दिया, "आप चवन्नी वाले मेम्बर हैं या नहीं, इस सवाल का कोई महत्त्व नहीं। आपने दस वर्ष तक प्रवासी भारतीयों की जो सेवा की है उसी को ध्यान में रखकर आपको अनुभव प्राप्त करने का मौक़ा देना है।" उसी समय राजा जी ने काँग्रेस अध्यक्ष कोंडा वेंकटापैय्या से कहा, "आप अपने अधिकार से पाँच सौ रुपया इस युवक की पूर्व अफ्रीका यात्रा के लिए दे सकते हैं ताकि यह भी जोसेफ़ के साथ अफ्रीका जा सके।" काँग्रेस प्रेसीडेण्ट ने राजा जी के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और पाँच सौ रुपये जोसेफ़ साहब को दी हुई रक़म में बढ़ा दिये। जोसेफ़ साहब पैसा लेकर ट्रावनकोर चले गये। वह किसी कारणवश वहाँ से लौट नहीं सके। मैं जब बम्बई पहुँचा तो मेरे पास पूर्व अफ्रीका की यात्रा के लिए एक पैसा भी नहीं था। तब मैं श्रीमती सरोजिनी नायडू की सेवा में ताजमहल होटल में उपस्थित हुआ और सम्पूर्ण स्थिति उन्हें बतला दी। उन्होंने सारी बात ध्यानपूर्वक सुनकर कहा, "मैं तो लाचार हूँ। कुछ नहीं कर सकती।" पूर्व अफ्रीका के भारतीय नेता एम० ए० देसाई ने मेरी सर्वथा उपेक्षा ही की, तब मैं बिल्कुल निराश हो गया। उस समय एक सिख सज्जन ने मुझसे कहा, "ये लोग आपको छोड़ ही देना चाहते हैं पर आप निराश न हों। अगर 100 रुपया आपको उधार मिल सके तो डेक (थर्ड क्लास) का टिकट लेकर अफ्रीका चले जाइये क्योंकि आपको तो भारतीय काँग्रेस ने अपना प्रतिनिधि चुना है।" मैंने स्वर्गीय जमनालाल जी बजाज की दुकान से सौ रुपया उधार लिया और डेक का टिकट ले लिया। अब सवाल था, डॉक्टरी परीक्षा का। उन सिख महोदय ने डॉक्टरी परीक्षा का झूठा निशान मेरे हाथ पर लगा दिया और मुझे अन्य यात्रियों के साथ जहाज़ पर बिठला दिया। जहाज़ पर बैठने पर मैं यह सोचने लगा कि इन लोगों ने मेरी उपेक्षा जान-बूझकर की है। डेक की यात्रा का यह मेरा पहला ही अवसर था। निःसंदेह वह बड़ी कष्टप्रद होती है। जहाज़ के चलने पर बार-बार उबकाई आती थी। शौच का प्रबन्ध भी असन्तोषजनक था। आठ दिन तक यह यात्रा करनी पड़ी। श्रीमती सरोजिनी नायडू, एम० ए० देसाई और भारत सेवक समाज के सदस्य श्री सदाशिव गोविन्द बझे फ़र्स्ट क्लास में यात्रा कर रहे थे। शिष्टता के नाते मैंने ऊपर फ़र्स्ट क्लास में जाकर श्रीमती सरोजिनी नायडू से कहा, "मैं भी इसी

जहाज़ से चल रहा हूँ। यदि मेरे योग्य कोई सेवा-कार्य हो, तो मुझे आदेश दीजिये।"

उस यात्रा की केवल एक बात मुझे याद है, वह यह कि मैंने अपने लम्बे रजिस्टर में एक लेख श्री गणेशशंकर विद्यार्थी पर अंग्रेज़ी में लिखा था। गणेशजी उन दिनों जेल में थे। अफ्रीका पहुँचने पर उस लेख को मैंने भारतीय पत्रों को भेज दिया था।

आठ दिन बाद हम लोग पूर्व अफ्रीका के बन्दरगाह, मोमबासा पहुँचे।

भारत कोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू में अद्भुत भाषण-शक्ति थी। उपस्थित जनता को वह मन्त्र-मुग्ध-सा कर देती थीं। अंग्रेज़ी और उर्दू दोनों में ही ख़ूब बोलती थीं। पूर्व अफ्रीका काँग्रेस के अधिवेशन में उनका भाषण अत्यन्त प्रभावशाली रहा। फिर तो उनके साथ लगभग एक महीने तक यात्रा करने और जगह-जगह पर उनका भाषण सुनने का सौभाग्य मुझे मिला। अफ्रीका के जंगलों में भी मोटर द्वारा उनके साथ यात्रा करनी पड़ी। वह प्रकृति की अनन्य प्रेमिका थीं। नेरोबी से युगाण्डा तक रेल में जाने के बजाय उन्होंने मोटर द्वारा घने जंगलों में होते हुए एक हज़ार मील की यात्रा करने का निश्चय किया था। जंगलों में उन दिनों शेर पाये जाते थे और मोटर द्वारा शेर के दर्शन करने की उनकी इच्छा थी। दो-तीन मोटरें साथ-साथ चल रही थीं। उनकी मोटर में बन्दूक लिये हुए शिकारी भी उनके साथ था। दुर्भाग्यवश सिंह के दर्शन नहीं हुए पर उसकी आवाज़ दूर से अवश्य सुनाई पड़ी। उसी समय अफ्रीकन मोटर ड्राइवर ने कहा था 'शिम्बा'। स्वाइली भाषा में सिंह को 'शिम्बा' कहते हैं। सिंह तो नहीं मिला, चरख के दर्शन हो गये थे। नील नदी के जल प्रपात—रिपन फाल्स के दर्शन हम लोगों ने साथ-साथ किये थे।

टांगानिक्या (भूतपूर्व जर्मन ईस्ट अफ्रीका) की यात्रा भी बड़ी मनोरंजक रही। वहाँ के मोशी नामक स्थान से अफ्रीका की सबसे ऊँची चोटी किलीमंजार के दर्शन हुए थे। उस हिममण्डित पर्वत श्रेणी को देखकर मैं मुग्ध रह गया था। उस पर मैंने एक तुकबन्दी भी की थी जिसे भाई माखनलाल चतुर्वेदी की सेवा में भेजा था। पूर्व अफ्रीका में उन दिनों जगह-जगह आगाखानी खोजा मुसलमानों की छोटी-छोटी बस्तियाँ थीं जहाँ सुदूर जंगलों में वह छोटे-मोटे व्यापार करते थे। कभी-कभी हमारी मोटर रात को बारह बजे उस वन्य प्रदेश में पहुँच जाती और बीस-पच्चीस भारतीयों के बीच श्रीमती सरोजिनी नायडू का भाषण होता था। श्रीमती सरोजिनी देवी के अद्भुत पराक्रम के दृष्टान्त मुझे देखने को मिले। प्रमाद का उनमें नामोनिशान भी न था और हास्यप्रवृत्ति तो उनमें पराकाष्ठा पर थी। किसी आदमी ने उनसे कहा, "आप दक्षिण अफ्रीका जा रही हैं वहाँ जनरल स्मट्स से मुक़ाबला होगा।" सरोजिनी नायडू ने तुरन्त जवाब दिया, "जनरल इज़ ए स्ट्राँग मैन, आई एम ए स्ट्राँग वोमैन।"

पूर्व अफ्रीका से श्रीमती सरोजिनी नायडू दक्षिण अफ्रीका जाने वाली थीं। वह यह नहीं चाहती थीं कि मैं उनके साथ जाऊँ इसलिए उन्होंने मुझे बुलाकर कहा, "यू आर नॉट वैल इक्विप्ड फ़ार दि टूर।" (आप उस यात्रा के लिए पूर्णतया सुसज्जित नहीं हैं।) उत्तर में मैंने निवेदन किया, "भारत से पण्डित जवाहरलाल जी ने दो हज़ार रुपये तार द्वारा मुझे भेज दिये हैं और उनसे दक्षिण अफ्रीका की यात्रा के लिए साजो-सामान इकट्ठा कर सकता हूँ। लेकिन अब मैं यात्रा नहीं करना चाहता, घर लौट जाना चाहता हूँ। ये सब बातें सर्वे ऑफ़ इण्डिया—भारत सेवक समिति के सदस्य सदाशिव गोविन्द बझे को ज्ञात हो गई थीं और उन्होंने ठक्कर बापा को एक पत्र में लिख भेजी थीं। बझे साहब के उस पत्र को गश्ती चिट्ठी बनाकर सोसाइटी के अन्य सदस्यों को भी भेज दिया गया था। अकस्मात् जिस दिन बझे साहब का वह पत्र मैनपुरी में मिस्टर ऐण्ड्रूज़

दुबे को मिला, उसी दिन 'लीडर' में उन्होंने श्रीमती सरोजिनी नायडू की प्रशंसा में मेरा लेख पढ़ा और वह चकित रह गये। बात दरअसल यह थी कि श्रीमती सरोजिनी देवी के रहन-सहन का स्टेण्डर्ड बहुत ऊँचा था। पोशाक के विषय में मेरी उपेक्षा उन्हें अरुचिकर लगी थी। इसलिए उन्होंने मेरे बजाय अफ्रीका के लखपति मुस्लिम सज्जन को साथ ले जाना ठीक समझा। ये सब बातें महात्मा जी के कानों तक पहुँच गयी थीं। जब मैं अफ्रीका से बम्बई लौटा तो महात्मा जी ने श्री देवदास गांधी को आदेश दिया कि बनारसीदास चतुर्वेदी को जहाज़ से सीधा मेरे पास लाओ। उन दिनों महात्मा जी समुद्र तट पर जुहू (बम्बई) में विश्राम कर रहे थे। जब मैं उनकी सेवा में पहुँचा तो उन्होंने कहा, "नाट ए वर्ड अगेंस्ट मिसिज़ नायडू" (यानी एक शब्द भी सरोजिनी देवी के खिलाफ़ न कहिये)। मैंने तभी उनकी सेवा में निवेदन किया, "मैंने तो उनकी प्रशंसा में एक लेख अंग्रेज़ी पत्रों में भेजा था।" महात्मा जी मेरे उत्तर से बहुत सन्तुष्ट हुए। अपने उस लेख की प्रति मैंने श्रीमती सरोजिनी देवी की सेवा में भी भेज दी थी। उसकी स्वीकृति में उन्होंने एक बहुत बढ़िया पत्र मुझे अँग्रेज़ी में भेजा था। वह मूल पत्र तो राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित है पर उसकी प्रतिलिपि तथा अनुवाद मेरे पास है। उनके अंग्रेज़ी पत्र का अनुवाद यहाँ दिया जाता है—

ब्रिटिश इंडिया स्टीम नेवीगेशन कं० लि०
एस० एस० खंडाला
19 फरवरी, 1924

प्रिय श्री बनारसीदास,

आपके कृपा पत्र तथा उससे भी अधिक कृपालु उस प्रशंसापूर्ण लेख के लिए, जो आपने मेरे केनिया के काम के बारे लिखा है, धन्यवाद। वहाँ सब मज़े ही मज़े नहीं रहे हैं, लेकिन यह वास्तविक गौरव की बात है कि उस समस्या के हल में, जो प्राय: हमारे हाथों में ही निहित है, कुछ थोड़ा योगदान हो सका।

मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि आपको अपनी कोठरी छोड़कर वास्तविकताओं का आमना-सामना करना पड़ा। परछाइयों के पीछे पड़ने से नहीं बल्कि वास्तविकता को साहसपूर्वक पकड़ने से ही कोई किसी उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है—हमेशा आसान व लोकप्रिय बातें कहने से ही कर्त्तव्य की पूर्ति नहीं हो जाती—कभी-कभी कड़ी परन्तु लाभकारी बात भी कहनी पड़ती है। मैं समझती हूँ कि आप अब प्रवासी भारतीयों की वास्तविक सेवा करने की स्थिति में होंगे। तुमको उनकी समस्याओं को अध्ययन करने की बढ़िया सुविधा मिली—सरकार द्वारा पैदा की गयी समस्याएँ और स्वयं उनके द्वारा पैदा की गयी समस्याएँ जिनका भार वह ढो रहे हैं। दृढ़ तथा न्याययुक्त ढंग से तराज़ू को बराबर रखकर ही उनकी सहायता व सेवा कर सकते हो। मुझे प्रसन्नता है कि तुम्हारी शेष यात्रा श्री बझे के मार्गदर्शन में होगी। वह इतने योग्य तथा स्पष्ट-द्रष्टा हैं कि एक निष्ठावान विद्यार्थी तथा संसार के प्रति जागरूक पुरुष का सुनहरा संयोग बन जाता है। कृपया उन्हें मेरा स्मरण करावें और बताएँ कि मुझे दुःख है कि हम साथ-साथ वापस नहीं जा पायेंगे।

महात्मा जी से मेरा प्रणाम कहिए और बा से प्यार तथा सब मित्रों को सलाम, श्री ऐण्ड्रूज़ को भी, जो आपके आध्यात्मिक माँ-बाप हैं, मैं चाहती हूँ कि वृहत्तर भारत के तुम्हारे लग्नपूर्ण श्रम को सभी सफलताएँ प्राप्त हों। आपके स्वार्थविहीन, केवल प्रेम के लिए किये गये परिश्रम से मैं बहुत द्रवित हुई हूँ और अब जब आपने विश्व का विशालतर परिप्रेक्ष्य प्राप्त कर लिया है, मुझे विश्वास है कि आप अपने अकेले दम से महत्त्वपूर्ण काम को प्रथम ज्ञान, अनुभव तथा विवेक से परिपूर्ण करेंगे जिसे आपने केनिया तथा युगांडा के

छोटे प्रवास-काल में प्राप्त किया है—इन गुणों की आपको आवश्यकता थी। विदा, तथा आपके प्यार तथा हार्दिकता के लिए पुनः धन्यवाद।

आपकी बहुत शुभाकांक्षी
सरोजिनी नायडू

कांग्रेस में प्रवासी विभाग की स्थापना

प्रवासी भारतीयों की सेवा का कार्य मैंने 15 जून, 1914 को प्रारम्भ किया था। तभी से मेरे मन में यह भावना थी कि इस पवित्र कार्य के लिए किसी संस्था की स्थापना होनी चाहिए। संस्था का मोह अधिकांश कार्यकर्ताओं को ग्रस लेता है और वे उसके चक्कर में पड़कर अपने समय, शक्ति तथा धन का भी अपव्यय कर बैठते हैं। स्वभावतः मैं भी इस मोह में फँस गया।

सन् 1925 के प्रारम्भ में जब मैं साबरमती आश्रम में रह रहा था, काँग्रेस ने अपने प्रतिनिधि के रूप में मुझे अफ्रीका भेजने का निश्चय किया था। दूसरे दिन बम्बई जाने के पूर्व मैंने रात को श्रद्धेय काका साहब कालेलकर से भेंट करने का निश्चय किया। वह बातचीत अंग्रेज़ी में हुई थी क्योंकि मैं उसे अंग्रेज़ी पत्रों को भेजना चाहता था। उस इंटरव्यू में काका साहब ने सुझाव दिया था कि प्रवासी भारतीयों के लिए काँग्रेस में प्रवासी भारतीय विभाग खुलवा देना चाहिए। यह प्रस्ताव मुझे बहुत पसन्द आया और मैंने नैरोबी पहुँचकर इस विषय पर पत्र-व्यवहार आरम्भ कर दिया। यह पत्र-व्यवहार राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित है। साल-भर तक इस विषय की चर्चा इन पत्रों में चलती रही और कानपुर के काँग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर, जो भारत कोकिला सरोजिनी नायडू की प्रधानता में हुआ था, यह प्रस्ताव रखा गया था। स्व० भाई श्री कृष्णदत्त जी पालीवाल ने कृपाकर मुझे ऑल इण्डिया काँग्रेस कमेटी का सदस्य बना दिया था, इसलिए विषय-निर्धारिणी समिति में भाग लेने का अवसर मुझे मिल गया था। मैंने हिन्दी में अपना भाषण दिया और दक्षिण भारत के सदस्यों की सुविधा के लिए अंग्रेज़ी में अपना भाषण पढ़कर सुनाने लगा। इस पर पं० जवाहरलाल जी ने एतराज़ करते हुए कहा, "मैडम प्रेसीडेण्ट, आर मैनस्क्रिप्ट स्पीचिज़ आर अलाउड हियर!" (अर्थात् प्रेसिडेंट महोदया! क्या हस्तलिखित व्याख्यानों के पढ़ने की अनुमति यहाँ दी जाती है?) मैंने उत्तर में इतना ही कहा, "यदि मैं अच्छी अंग्रेज़ी नहीं बोल सकता तो भाव प्रकट करने की अनुमति मुझे मिलनी ही चाहिए।" मैंने अपना पढ़ना जारी रखा।

श्रीमती सरोजिनी नायडू ने मेरे प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और कहा कि इसे प्रेसीडेण्ट के प्रस्ताव के रूप में रख दिया जायेगा क्योंकि यह कोई विवादग्रस्त प्रश्न नहीं है। ऐसा ही किया भी गया। उक्त प्रस्ताव में पाँच व्यक्तियों की एक कमेटी मुक़र्रर की गई थी— (1) लाला लाजपतराय (2) डॉ० अंसारी, (3) श्रीमती सरोजिनी नायडू, (4) श्री टी० सी० गोस्वामी और पाँचवाँ मैं स्वयं।

इस सम्बन्ध में एक बात कहना आवश्यक है कि महात्मा जी ने निजी तौर पर मुझसे कहा था, "प्रवासी विभाग की स्थापना का प्रस्ताव मत रखो, क्योंकि काँग्रेस वाले न तो ख़ुद काम करेंगे और न तुम्हें करने देंगे। मैं तो तुम्हारे प्रस्ताव का विरोधी हूँ।" मैंने विनम्रतापूर्वक बापू से प्रार्थना की कि आप मुझे प्रयोग कर लेने दीजिए। विरोध न कीजिए। बापू ने मेरी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए कहा, "अच्छा भाई, प्रयोग करके देख लो।" महात्मा जी की भविष्यवाणी सच हुई और काँग्रेस ने मुझे कार्य करने का मौक़ा नहीं दिया,

क्योंकि मैं अवैतनिक कार्य कर ही नहीं सकता था। ग़रीबी एक अभिशाप है और निर्धन कार्यकर्त्ताओं को कार्य करने के अवसर ही नहीं मिलते। उन दिनों लाला लाजपतराय जी दिल्ली में थे और मैं उनकी सेवा में उपस्थित हुआ था। बातचीत करते हुए मैंने शिकायत की कि काँग्रेस लीडर यह नहीं करते। इस पर लाला जी ने बड़े तपाक से कहा, "आप यह उम्मीद क्यों करते हैं कि लीडर लोग आपकी मदद करें?" लाला जी के इस स्पष्ट उत्तर से मुझे कुछ बुरा तो अवश्य मालूम हुआ था। उनके पास से लौटते समय सड़क पर यह सोचता चला जा रहा था, 'प्रवासी भारतीयों का कार्य अकेले मेरा ही है!'

1925 की कानपुर काँग्रेसी में प्रवासी विभागकी स्थापना का प्रस्ताव तो जहाँ का तहाँ पड़ा रहा और पं० जवाहरलाल जी ने इसी विषय परएक नया प्रस्ताव कलकत्ते की काँग्रेस में पास करा दिया। एक बार पण्डित जी से मुलाकात होने पर मैंने अपनी फाइल जब उन्हें दिखाई तो उन्होंने कहा, "आपको तो बहुत महीनों तक परिश्रम करना पड़ा, पर मैंने यह प्रस्ताव कुछ मिनटों में ही पास करा लिया था।" इस उत्तर को सुनकर मैं चुप रह गया। मेरे मन में यह विचार अवश्य आया कि मैं यह निवेदन कर दूँ कि आप जैसे साधन सम्पन्न और शक्तिशाली नेता के लिए जो काम मिनटों में कराना आसान है उसके पूरा करने में मेरे जैसे साधनहीन मामूली आदमी को महीनों लगाने ही पड़ते हैं।

काँग्रेस के प्रवासी विभाग से क़रीब ढाई वर्ष तक मुझे 25 रुपये महीने प्रवासी भारतीयों की सेवा-कार्य के लिए मिलते रहे फिर वह भी बन्द हो गये। सन् 1936 में पं० जवाहरलाल जी का पत्र मिला जिसका आशय यह था: "आप जानते ही हैं कि काँग्रेस में एक प्रवासी विभाग है और इस विषय का सारा काम उसी विभाग से होगा। इसलिए आपकी सहायता बन्द की जाती है।" इस पत्र से मेरे हृदय को धक्का लगा और मैंने अत्यन्त निराश होकर प्रवासी भाइयों के कार्य को तिलांजलि ही दे दी। जिस मिशन में मेरे क्षुद्र जीवन के 22 वर्षों का सर्वोत्तम समय ख़र्च हुआ था, जिसके लिए मैंने राजकुमार कॉलेज की नौकरी छोड़ दी और जिस पर काफ़ी साहित्य भी मैंने प्रकाशित करा दिया था, उसको छोड़ते हुए मुझे हार्दिक वेदना हुई थी। पर इसके कुछ दिनों बाद ही मैंने दूसरा विषय 'शहीदों का श्राद्ध' अपना लिया। तब से अब तक मैं उसी कार्य में व्यस्त रहा हूँ। मेरे प्रवासी भारतीयों के कार्य छोड़ने से स्वामी भवानीदयाल जी तथा दीनबन्धु ऐण्ड्रूज को बहुत खेद हुआ था। महात्मा जी की सेवा में मैंने निवेदन किया, "आपका कहना ठीक ही था। काँग्रेस ने कार्य करने का मौक़ा मुझे नहीं दिया, पर उसे मैं दोष नहीं देता।"

इस देश में ग़रीब कार्यकर्त्ताओं के लिए कार्य करना कितना कठिन है, इसका अनुमान मेरे जीवन की इस दुर्घटना से लगाया जा सकता है।

काँग्रेस में प्रवासी विभाग कायम हुआ और कुमारी मुकुल बनर्जी उसकी मंत्री बनीं। उनके द्वारा एक काम तो अच्छा हुआ कि प्रवासी भारतीयों पर अंग्रेज़ी में एक अच्छा ग्रन्थ निकल गया।

सन् 1914 से 1936 तक मेरे द्वारा जो सेवा बन पड़ी उसका रिकार्ड राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित है। यह एक प्रकार से अच्छा ही हुआ कि उस मिशन के बाद मैंने शहीदों के श्राद्ध का विषय अपने हाथ में ले लिया और उससे मेरी आत्मा को बड़ी शांति भी मिली। तब से अब तक वह मेरा प्रिय मिशन बना हुआ है।

8

रूस की यात्राएँ

रूस का भक्त मैं सन् 1918 से बन चुका था। जिन दिनों मैं डेली कॉलेज में अध्यापक था और इन्दौर छावनी में रह रहा था, एक शाम को घूमते-घामते वहाँ के सार्वजनिक पुस्तकालय विक्टोरिया लाइब्रेरी में पहुँचा और एक अलमारी की पुस्तकें टटोलने लगा। वहाँ एक पुस्तक 'मेमोयर्स ऑफ ए रिवोल्यूशनिस्ट' (एक क्रान्तिकारी के संस्मरण) देखकर मैंने उसे निकाल लिया। वह प्रिंस क्रोपाटकिन का आत्म-चरित था। चूँकि क्रांति शब्द के प्रति मेरे हृदय में एक आकर्षण था, इसलिए मैं उसे अपने नाम लिखवाकर घर ले आया। यह बात तरेसठ वर्ष पहले की है। मैंने उस दिन स्वप्न में भी इस बात की कल्पना नहीं की थी कि यह ग्रन्थ मेरी आत्मा को जकड़ लेगा और मुझे क्रोपाटकिन के विचारों का हिन्दी में प्रचार करने का सौभाग्य आगे चलकर मिलेगा। वह आत्म-चरित उन्नीसवीं शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ आत्म-चरित माना जाता है। उसका हिन्दी अनुवाद मेरे नाम से ही छपा है यद्यपि यह मेरे पुत्र चिरंजीव बुद्धिप्रकाश द्वारा किया गया है। क्रोपाटकिन के विभिन्न निबन्धों का अनुवाद भी मैंने सस्ता साहित्य मंडल द्वारा प्रकाशित कराया था। आगे चलकर मंडल ने ही क्रोपाटकिन की दोनों किताबें—'संघर्ष या सहयोग' तथा 'रोटी का सवाल'—छापी थीं। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि क्रोपाटकिन अराजकवादी थे, यानी शासनमात्र के विरोधी।

प्रिंस क्रोपाटकिन



यद्यपि मैं मनसा, वाचा अराजकवाद का अनुयायी था परन्तु त्राईकोव नामक एक रूसी लेखक

ने मास्को में मज़ाक करते हुए कहा, "जनाब, आप अराजकवादी हो ही नहीं सकते।" मैंने पूछा, "क्यों ?" उन्होंने तपाक से जवाब दिया, "कहाँ अराजकवाद और कहाँ राज्यसभा जिसके कि आप सदस्य हैं ?" मैं लज्जित होकर चुप रह गया था।

सन् 1959 में रूस में अखिल रूसी लेखक सम्मेलन होने वाला था और उन लोगों ने भारत से दो व्यक्ति निमंत्रित किये थे—उत्तर भारत से मैं और दक्षिण भारत से केरल के मलयाली भाषा के एक यशस्वी लेखक। जब रूसी राजदूतावास के सांस्कृतिक कार्यकर्ता मिस्टर ऐफ़ीमोव ने यह प्रस्ताव मेरे सामने रखा तो मैंने कहा, "आप मुझे क्यों निमंत्रित कर रहे हैं ? मैं तो साम्यवादी नहीं हूँ बलिक साम्यवाद का विरोधी अराजकवादी हूँ।" ऐफ़ीमोव साहब बड़े चतुर राजनीतिज्ञ थे। वह बोले, "आप भले ही अराजकवादी बने रहें, कौन आपसे कहता है कि आप अराजकवाद छोड़ दें। हम लोग अपने देश के लेखकों की एक मीटिंग कर रहे हैं। आप उसमें दर्शक के रूप में सम्मिलित हो जाइये।" मैं उनके तर्क का उत्तर न दे सका और रूस यात्रा के लिए उद्यत हो गया। आज जब मैं अपनी तत्कालीन मनोवृत्ति की याद करता हूँ तो अपनी हिमाकत पर मुझे हँसी आती है। यदि ऐफ़ीमोव साहब होशियारी से काम न लेते तो रूस यात्रा का अवसर मेरे हाथ से निकल जाता। तत्पश्चात् मुझे रूस की यात्रा सन् 1966 में दूसरी बार भी करनी पड़ी। बड़े खेदपूर्वक और पछतावे के साथ मैं यह स्वीकार करता हूँ कि अपने दम्भ और नासमझी के कारण मैंने विदेश यात्रा के कितने ही अवसर खो दिये। सन् 52 या 53 में डाक्टर किचलू साम्यवादियों की किसी परिषद में वीयना(आस्ट्रिया) जाने वाले थे और पं० सुन्दरलाल जी ने यह तय किया था कि मैं उनका सहायक बनकर जाऊँ। उसके लिए उन्होंने मुझे तार भी दिया था और मार्ग-व्यय का प्रबन्ध भी कर दिया था, पर मैंने जाना अस्वीकार कर दिया। इसके बाद जब पं० सुन्दरलालजी एक यात्री दल के साथ चीन गये थे तब भी वह मुझे साथ ले जाना चाहते थे। उसके बाद पीकिंग से चीनी युवक मंडल का मेरे लिए निमन्त्रण आया था पर उसे भी मैंने स्वीकर नहीं किया था।



लेखक प्रिंस क्रोपाटकिन के मास्को स्थित जन्म स्थान पर

क्यूबा-इंडिया फ्रेंडशिप एसोसिएशन का मैं प्रेसीडेण्ट था। दो बार क्यूबा जाने का निमन्त्रण मुझे मिला। पर उसे भी मैंने अस्वीकार कर दिया। मौलवी अब्दुल हक साहब ने अंजुमन तरक्क़िये उर्दू के वार्षिक उत्सव पर मुझे कराची बुलाया था पर मैं वहाँ भी नहीं गया, जबकि जैदी साहब, एक साम्यवादी मित्र, किराये का प्रबन्ध करने को तैयार थे। ताशकन्द की एक कान्फ्रेंस में जाना भी मैंने अस्वीकार कर दिया था। यहाँ यह भी निवेदन कर दूँ कि फ़र्स्ट क्लास रेलवे पास होने पर भी संसद सदस्यता के दिनों में मैंने बहुत कम यात्राएँ की थीं।

रूस की प्रथम यात्रा से मुझे बहुत अनुभव प्राप्त हुए। जब रूसी लेखकों की मीटिंग में बोलने का मौक़ा मुझे मिला तो मैंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया, "आप लोग केवल मार्क्स और लेनिन के ही सिद्धान्तों से सन्तुष्ट न रहें, क्रोपाटकिन और गांधी जी को भी साथ-साथ ले लें।" यहाँ यह भी बतला दूँ कि मैं क्रोपाटकिन के जन्म स्थान पर भी गया था और उनकी समाधि पर पुष्प चढ़ाने वाला मैं प्रथम भारतीय था। मास्को के निकट वहाँ बड़ा लम्बा-चौड़ा समाधि-स्थल है और एक वृद्धा रूसी महिला उसकी संरक्षिका हैं। उस महिला से मैंने जब पूछा, "क्या कोई अन्य भारतीय भी फूल चढ़ाने आया था?" तो उन्होंने उत्तर दिया, "क्रोपाटकिन की समाधि पर फूल चढ़ाने वाले प्रथम भारतीय आप ही हैं।" जैसा कि मैं लिख चुका हूँ कि मैं सन् 1918 से ही क्रोपाटकिन का भक्त बन चुका था और पूरे इकतालीस वर्ष बाद मुझे उनकी समाधि पर पुष्प चढ़ाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

रूस से हम क्या सीख सकते हैं

यद्यपि मैं रूस का अनन्य भक्त रहा हूँ तथापि यह मानने को तैयार नहीं कि सम्पूर्ण सत्य का ठेका रूस ने ही ले लिया है। मैं समन्वयवादी हूँ। इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रांस और चीन, जापान इत्यादि में जो कुछ अच्छे कार्य हुए हों उन सबकी हमें क़द्र करनी चाहिए और उनके सर्वोत्तम गुणों का अनुकरण अपनी परिस्थितियों के अनुसार कर लेना चाहिए। जैन बन्धुओं के यहाँ अनेकान्त दर्शन है जिसका अर्थ यह है कि सत्य के अनेक पहलू होते हैं। पंचशील का आधुनिक सिद्धान्त अनेकान्त का अनुवाद ही है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानव-जाति के उद्धार के लिए रूसी लोगों ने महान् कार्य किये हैं। उनकी उपलब्धियाँ विश्व के इतिहास में सुप्रसिद्ध हैं। यदि रूसी लोगों ने हिटलर की नाज़ी सेनाओं का डटकर विरोध न किया होता तो संसार का एक बड़ा भाग अत्याचारियों द्वारा पददलित हो जाता। यह सौदा रूसी लोगों को बहुत महँगा पड़ा। स्वाधीनता की बलिवेदी पर लाखों ही युवक बलिदान हो गये।

लेनिनग्राद से 20-25 मील की दूरी पर लाखों बलिदानियों का एक स्मारक है जहाँ एक कुंड में निरन्तर आग प्रज्वलित रहती है। वहाँ कितने ही खेत हैं जिन पर लिखा हुआ है—सन् 42 के शहीद, सन् 43 के शहीद इत्यादि। पत्थरों की बड़ी-बड़ी दीवारों पर ये शब्द अंकित हैं: "आप लोगों के बलिदान भुलाये नहीं गये हैं और कभी भुलाये नहीं जायेंगे।" रूस की अपनी दोनों यात्राओं में मैंने उस समाधि स्थल की तीर्थ-यात्रा की थी। मेरे साथ जो रूसी दुभाषिया थे उन्होंने एक लेख में मेरी इस श्रद्धा का उल्लेख भी किया था। अपनी तथा विश्व की स्वाधीनता की रक्षा के लिए रूस के एक करोड़ से अधिक युवक बलिदान हो गये और लाखों ही रूसी युवतियाँ विधवा हो गयीं। उन विधवाओं को काम में लगाने का प्रश्न अत्यन्त कठिन था, पर रूस सरकार ने उसे बड़ी सफलतापूर्वक हल कर लिया है। उन्होंने हर महकमे में और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनको स्थान दिया है।

रेलवे में गार्ड का काम करते हुए मैंने उन्हें देखा और उषाकाल में बड़े-बड़े रबड़ के पाइपों द्वारा सड़कों को धोते हुए भी देखा। होटलों में टेलीफ़ोन पर काम करते हुए वे दीख पड़ीं। साइकिल बनाने की फैक्टरी में बहुत-सी औरतें काम करती हुई दिखायी दीं। घर पर उनके बच्चों की देखभाल करने के लिए धायें मुक़र्रर थीं। पुरुषों की अपेक्षा उन्हें कुछ सुविधायें अधिक दी जाती हैं—जैसे गर्भवती होने की छुट्टी और स्वास्थ्य की सुरक्षा का प्रबन्ध। रूस में बहुत स्वास्थ्यागार—सेनीटोरियम—विद्यमान हैं जिनका उपयोग समय-समय पर मज़दूर लोग करते हैं। जहाँ तक बच्चों की देखभाल का सम्बन्ध है, रूस दुनिया में सबसे आगे है। विलायत की सुप्रसिद्ध कार्यकत्री मिस म्यूरियल लीस्टर ने एक बार रूस की यात्रा की थी और लिखा था : "यदि मेरा पुनर्जन्म हो तो मैं रूस में पैदा होना पसन्द करूँगी, जहाँ बच्चों की इतनी अधिक परवाह की जाती है।" स्वयं रूसी लोग बड़े गौरव के साथ कहा करते हैं, "यदि हमारे देश में किसी को विशेषाधिकार प्राप्त हैं तो वह बालक ही हैं।" रूस में कोई प्रिविलेज्ड (सुविधाभोगी) क्लास नहीं है। सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी विजयकुमार सिन्हा ने रूस की यात्रा के बाद एक किताब लिखी है, 'नया इन्सान'। इसमें सन्देह नहीं कि रूस ने नवीन मानव समाज के निर्माण के लिए महान् कार्य किये हैं और अपने इन प्रयोगों में उसे लाखों ही आदमियों का बलिदान करना पड़ा है। विश्व के महान् लेखक रोमा रोलां ने एक जगह लिखा है : "मुख्य सवाल यह नहीं है कि भवन-निर्माण के कार्य में मज़दूरों के हाथ गारा और सीमेण्ट से कितने मैले हो गये हैं, बल्कि प्रश्न यह है कि जिस भवन का निर्माण उन्होंने किया है वह कितना मज़बूत है।" स्वयं महात्मा जी ने रूसी लोगों के बलिदान की मुक्त कंठ से प्रशंसा की थी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि वाणी की जैसी स्वाधीनता हमें भारत में प्राप्त है, वैसी रूसी लोगों को अपने देश में नहीं है। हम अपने प्रधानमंत्री को रोज़ गालियाँ सुना सकते हैं। अपनी प्रथम रूस यात्रा में मैंने एक रूसी सम्पादक महोदय से पूछा, "हमने सुना है कि आपके देश में वाणी की स्वाधीनता नहीं है। यह बात कहाँ तक ठीक है?" उन्होंने बड़े तपाक से जवाब दिया, "देखिये जनाब, यदि आप उस समाज-व्यवस्था को ही नष्ट-भ्रष्ट करना चाहें जो लाखों आदमियों के बलिदान के बाद हमने प्राप्त की है तो वैसा हम आपको नहीं करने देंगे और यदि आप गन्दे साहित्य की रचना करना चाहें तो हम आपको दबोच देंगे।" हमारे देश में तो अश्लील साहित्य की रचना की पूरी-पूरी स्वाधीनता है।

अभी दो-तीन साल पहले रूस के महान् लेखक अध्यापक वारान्निकोव जी मेरे घर पर पधारे थे। उन्होंने बातचीत के सिलसिले में कहा था, "मुझे अध्यापक के रूप में उतना ही वेतन मिलता है जितना हमारे यहाँ किसी मोटर ड्राइवर को मिलता है।" उनकी इस बात से मुझे आश्चर्य हुआ था। रूस में शिक्षा, चिकित्सा निःशुल्क है। उसमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है।

अपने साहित्य-सेवियों की कीर्ति-रक्षा के लिए रूसी लोगों ने जो महान् कार्य किये हैं उनकी प्रशंसा विश्व-भर के पर्यटकों ने की है। अकेले मास्को नगर में चालीस संग्रहालय हैं। रूस में चेखव (कहानी लेखक) के चार संग्रहालय हैं। अपनी दोनों यात्राओं में मैंने टाल्स्टाय के महान् आश्रम की तीर्थ यात्राएँ की थीं। वहाँ एक निर्देशक है जिसके अधीन एक सौ रूसी काम कर रहे हैं। टाल्स्टाय के जीवन में जो चीज़ जैसी थी यथाशक्ति वैसी ही बनाये रखने का प्रयत्न किया गया है। गज़-डेढ़ गज़ ऊँचे एक पौधे को देखकर मैंने उसके बारे में पूछा तो हमारे निर्देशक ने कहा, "यह पौधा हमने इसलिए लगा दिया है कि पाँच-सात वर्ष बाद पास का वृक्ष जीर्ण हो जायेगा और तब यह उसका स्थान ले लेगा।" टाल्स्टाय की समाधि जैसी कच्ची बनी हुई थी वैसी ही बनी हुई है और उस पर फूल उग रहे हैं।

9

मेरे जीवन के मिशन

मैंने जान-बूझकर जीवन के मिशन निर्धारित किये हों ऐसा मैं नहीं मानता। मेरे पूर्वजन्मों के पुण्य के कारण अथवा माता-पिता के आशीर्वादों से वे मिशन आकस्मिक ढंग पर ही मेरे हाथ लग गये।

15 जून, 1914 को मैंने यह स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी कि प्रवासी भारतवासियों की सेवा का यज्ञ मेरे द्वारा प्रारम्भ होगा और उसमें मेरे जीवन के पूरे 22 वर्षों का सर्वोत्तम समय लग जायेगा। 16 अप्रैल, 1918 को मैंने कविरत्न सत्यनारायण जी के देहावसान पर उनकी कीर्ति-रक्षा के लिए जो संकल्प किया था उसके पूरे होने में 63 वर्ष लग जायेंगे, यह भी मैं नहीं सोच पाया था। शहीदों के श्राद्ध में मेरे 30-35 वर्षों का समय बीत चुका है। यद्यपि इतने लम्बे अर्से में मेरे द्वारा कुछ छुटमुट कार्य भी हुए, जैसे—जनपद-आंदोलन, घासलेटी साहित्य-विरोधी आंदोलन, प्रांत-निर्माण आंदोलन, इत्यादि, पर मुख्य मिशन तीन ही रहे।

प्रवासी भारतीयों की संख्या इस समय लगभग एक करोड़ है और वे संसार के भिन्न-भिन्न भागों में बसे हुए हैं। सन् 1914-15 में मैंने 'फ़ीजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष' पण्डित तोताराम के नाम से लिखी थी और पूरे चार वर्ष लगाकर 728 पृष्ठ का ग्रन्थ 'प्रवासी भारतवासी' लिखा, जिसकी भूमिका दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ ने लिखी थी। उन दिनों की एक घटना मुझे ख़ासतौर पर याद आ रही है। ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार हो गयी थी और वह छपने जा ही रहा था कि फीरोज़ाबाद से मुझे इन्दौर में एक पत्र मिला जिसमें लिखा गया था कि पुलिस 'फीजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष' के असली लेखक को तलाश कर रही है और शायद इन्दौर में तलाशी हो। मैं उन दिनों राजकुमार कॉलेज में अध्यापक था और तलाशी होने पर नौकरी छूटने की पूरी-पूरी आशंका थी। मैंने पुस्तक की पाण्डुलिपि को अनाज के एक व्यापारी के यहाँ रखवा दिया और उन्होंने भी डर के मारे उसे एक पिसनहारी के यहाँ सुरक्षित कर दिया। तत्पश्चात् मैं पुलिस द्वारा तलाशी की प्रतीक्षा करने लगा। उस समय मैं इतना चिंतित था कि रात को भोजन भी नहीं किया और रोटी-साग एक मोरी में डाल दिया। वह ब्रिटिश गवर्नमेण्ट का ज़माना था और राजकुमार कॉलेज के किसी अध्यापक का सरकार-विरोधी आंदोलन में मुब्तला (सम्मिलित) होना ख़तरनाक समझा जाता था। सौभाग्य से तलाशी की ख़बर निराधार निकली और मैं साफ़ बच गया। 'प्रवासी भारतवासी' पुस्तक सकुशल बम्बई में छप गयी और उसकी लिखाई के पारिश्रमिक के रूप में मुझे 100 प्रतियाँ मिलीं, उन्हें मैंने रजिस्ट्री द्वारा अपने ख़र्च से देश

के भिन्न-भिन्न लेखकों और नेताओं को भेज दिया। पुस्तक पर लेखक की जगह 'एक भारतीय हृदय' छपा और बहुत वर्षों तक इसी उपनाम से मेरे लेख छपते भी रहे। समाचार पत्रों में पुस्तक की भूरि-भूरि प्रशंसा भी हुई। पर महात्मा गांधी को उस पुस्तक में बहुत-सी भूलें प्रतीत हुईं और महादेवभाई की डायरी में बापू का दीनबन्धु एण्ड्रूज़ के नाम एक पत्र भी छपा है। यद्यपि महादेवभाई ने मेरा नाम छोड़ दिया था तथापि उस पत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह मेरी पुस्तक के विषय में ही था। बहुत वर्षों बाद वह पत्र मुझे महादेव भाई की डायरी में पढ़ने को मिला। निस्संदेह मेरी पुस्तक में बहुत-सी भूलें रह गयीं पर एक साधनहीन लेखक के लिए ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय पर ग्रन्थ लिखना एक दुस्साहस ही था। न तो मुझे यात्रा की सुविधा थी और न पुस्तकों के ख़रीदने के लिए पैसा। समय का अधिकांश भाग जीविका के लिए कार्य करने में बीतता था, बाक़ी का वक्त ही पुस्तक को अर्पित किया जा सका। उसके पूर्व प्रवासी भारतीयों का कोई इतिहास अंग्रेज़ी तक में नहीं लिखा गया था। इस अवसर पर मैं भाई द्वारिका प्रसाद सेवक को कृतज्ञतापूर्वक स्मरण कर रहा हूँ क्योंकि उन्होंने कई सहस्र रुपये इस ग्रन्थ के प्रकाशन पर लगा दिये थे।

स्वर्गीय माधवराव विनायक किबे साहब उन दिनों इन्दौर राज्य में उपमंत्री थे और राष्ट्रभाषा हिन्दी के बड़े हिमायती थे। उन्होंने 'प्रवासी भारतवासी' को इतना पसन्द किया कि मराठी की एक केन्द्रीय संस्था से उस पर मुझे चार सौ रुपये का पुरस्कार दिलवा दिया।

दीनबन्धु एण्ड्रूज की फ़ीजी विषयक रिपोर्ट का मैंने हिन्दी में अनुवाद भी किया था और उसे 'फ़ीजी में भारतीय' के नाम से प्रताप कार्यालय में छापा था। उसके बाद साबरमती आश्रम में मैंने 'फ़ीजी की समस्या नामक पुस्तक लिखी। उसके भी पूर्व मैंने दीनबन्धु एण्ड्रूज़ और मिस्टर पियर्सन द्वारा लिखित 'फ़ीजी की रिपोर्ट' का हिन्दी अनुवाद 'प्रताप' द्वारा छपवा दिया था। इसके अतिरिक्त 'विशाल भारत', 'चाँद', 'मर्यादा', तथा गुजराती 'नवजीवन' के प्रवासी अंक भी प्रकाशित कराये थे। ये चारों अंक राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित हैं।

मैं एक मिशनरी पत्रकार रहा। कोई न कोई मिशन हाथ में लेता रहा। इस कारण स्वाध्याय के लिए मेरे पास वक्त ही नहीं रहा। इसमें आश्चर्य ही क्या हो सकता है, कि मैं स्थायी साहित्य की रचना न कर सका, प्रचारक मात्र ही बनकर रह गया। अपनी एक भूल को मैं यहाँ स्वीकार कर लूँ। स्वयं सत्यनारायण कविरत्न के जीवन-चरित में मेरे द्वारा उनकी पत्नी श्रीमती सावित्री देवी के प्रति अन्याय हो गया है। दरअसल मौलिक भूल सत्यनारायण जी की ही थी, उन्होंने अस्वस्थता और शारीरिक निर्बलता की दशा में विवाह किया। आगे चलकर वही ग़लती बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने की।

शहीदों का श्राद्ध

शहीदों और क्रान्तिकारियों के विषय में मेरी रुचि बहुत वर्षों से रही है और सन् 1918 में मैंने अपनी पुस्तक 'प्रवासी भारतवासी', जो चार वर्ष के परिश्रम के बाद लिखी गयी थी और जिसकी भूमिका दीनबन्धु एण्ड्रूज़ ने लिखी थी, दक्षिण अफ्रीका के आन्दोलन में शहीद हुई कुमारी वली अम्मा को समर्पित की गयी थी। वह तमिल भाषा-भाषी एक भारतीय लड़की थी जो महात्मा गांधी जी के सत्याग्रह संग्राम में जेल गयी थी। पिछले पचास वर्षों में मेरे समय का एक अच्छा भाग शहीदों का श्राद्ध और क्रान्तिकारियों की सेवा करते ही बीता। अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी से मेरा साक्षात् परिचय सन् 1915 में हुआ और जीवन-

पर्यन्त मैं उनका कृपापात्र भी रहा। गणेश जी की शहादत के बाद उनके विषय में जितने लेख 'विशाल भारत' में छपे उतने प्रताप में भी नहीं छपे। गणेशशंकर स्मृति-ग्रन्थ श्रद्धेय पण्डित झाबरमल शर्मा तथा मेरे द्वारा सम्पादित होकर कालपी के हिन्दी भवन द्वारा प्रकाशित हुआ था। शहीदों के श्राद्ध के बारे में काफ़ी सहायता मुझे बन्धुवर शम्भुनाथ जी सक्सेना से मिली। नर्मदा का शहीद अंक, चन्द्रशेखर आज़ाद अंक तथा गणेशशंकर विद्यार्थी अंक ये तीनों विशेषांक भाई सक्सेना जी ने छापे थे। स्वर्गीय श्री रामलाल पुरी ने तो अपने प्रकाशन गृह (आत्मा राम एण्ड संस) द्वारा शहीद ग्रन्थमाला ही निकाल दी थी। उसमें छः पुस्तकें छपी थीं—(1) रामप्रसाद बिस्मिल की आत्मकथा, (2) यश की धरोहर, (3) गणेशशंकर विद्यार्थी, (4) भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास, (5) बन्दी जीवन और (6) ग़दर पार्टी का इतिहास।

स्वर्गीय स्वामी केशवानन्द जी को जो अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया था उसका दो-तिहाई भाग शहीदों तथा क्रान्तिकारियों को ही अर्पित था। शहीद अशफ़ाकुल्ला की उर्दू और हिन्दी जीवनियाँ मेरे द्वारा ही लिखी गयी थीं। पण्डित परमानन्द (झाँसी) अभिनन्दन ग्रन्थ मेरे द्वारा ही सम्पादित हुआ था। 'विशाल भारत' का शहीद अंक उससे बहुत पहले निकल चुका था। मेरी प्रार्थना पर बम्बई के सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ी साप्ताहिक 'इलस्ट्रेटेड वीकली' ने अपने तीन अंक इस विषय को अर्पित कर दिये थे। डॉ० मलखान सिंह सिसोदिया, प्रिंसिपल आर्य इण्टर कॉलेज ने शहीद महावीर सिंह अंक तथा अंडमान अंक निकाले थे। इसी उद्देश्य से मैंने 'विद्यावाणी', 'मानवधर्म' तथा 'ज्ञान भारती' के शहीद अंक निकलवाये थे। हमारी प्रार्थना पर अमर शहीद फुलैना प्रसाद श्रीवास्तव की धर्मपत्नी श्रीमती तारारानी श्रीवास्तव ने अपने पति की स्मृति में 'उनकी याद' नामक पुस्तिका लिखी थी, जिसकी भूमिका लिखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। कुछ दिन पहले जयपुर के 'लोक शिक्षक' ने भी इस विषय पर एक विशेषांक निकाला था।



शहीद चन्द्रशेखर आज़ाद बाल्यावस्था में, जब उन पर कोड़े बरसाये गये थे : एक दुर्लभ चित्र

इसके अतिरिक्त इस विषय पर बीसियों लेख मैंने निरन्तर हिन्दी पत्रों में लिखे हैं। इस श्राद्ध-

कार्य में मेरे समय, शक्ति और साधनों का भी पूरा-पूरा उपयोग हुआ है। इस मिशन ने मेरे व्यक्तित्व के विकास में बड़ी भारी सहायता दी है। 13-14 व्यक्तियों को पेंशन दिलाने का पुण्य भी मुझे प्राप्त हुआ था। शहीद आज़ाद की माँ, शहीद बिस्मिल की बहिन, शहीद अशफ़ाकुल्ला के बड़े भाई रियासतुल्लाख़ाँ और भतीजे इश्तियाकुल्लाख़ाँ, बाबा तीरथराम, श्रीमती कृष्णादेवी गोसेविका इत्यादि को पेंशन दिलाने का कार्य भी मेरे द्वारा सम्पन्न हुआ था। श्री लद्धाराम को पेंशन मैंने ही दिलाई थी और राजस्थान के एक सज्जन को भी, जिसका नाम मैं भूल चुका हूँ।

मेरा विश्वास है कि मुझे अपने जीवन में जो थोड़ी-बहुत सफलता मिली है वह शहीदों की आत्माओं और उनके कुटुम्बियों के आशीर्वाद से प्राप्त हुई है। मुझे एक घटना ख़ास तौर पर याद आ रही है—मैंने पार्लियामेंट में जाने की कल्पना स्वप्न में भी नहीं की थी। बिना मुझे सूचना दिये एक सज्जन ने दिल्ली में पार्लियामेंटरी बोर्ड के सामने मेरा नाम पेश कर दिया था। उस समय पण्डित जवाहरलाल जी ने पूछा था, "क्या वही बनारसीदास जी जो श्रीमती नायडू के साथ अफ्रीका गये थे? इज़ ही स्टिल इन दी लैंड ऑफ़ लिविंग" (क्या वह अब भी जीवितों के लोक में हैं)?" इस पर श्रद्धेय श्रीप्रकाश जी ने कहा था, "हाँ, वह जीवित हैं और टीकमगढ़ के शहीदों के लिए प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं।" बात यह हुई थी कि शहीद आज़ाद की माँ के विषय में मेरा पत्र-व्यवहार श्रीप्रकाश जी से चल रहा था। इस प्रकार बिना पैसा ख़र्च किये मैं पार्लियामेंट का मेम्बर बन गया था और इस प्रकार मैं बारह वर्ष तक दिल्ली में रहा।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि मैंने भारत के स्वाधीनता संग्राम में कोई भाग नहीं लिया और जिन दिनों वह संग्राम चल रहा था, मैं प्रवासी भारतीयों के कार्य में व्यस्त था।

शहीदों और क्रान्तिकारियों की राजनीतिक विचारधाराओं के बारे में मेरी श्रद्धा भेदभाव से सदा दूर रही है। सशस्त्र शहीद और अहिंसावादी शहीदों में मैंने कोई भेदभाव नहीं किया। चार व्यक्तियों से, जो आगे चलकर शहीद हुए—महात्मा गांधी, गणेशशंकर विद्यार्थी, देवशरण सिंह और नारायणदास खरे से—मेरा सम्पर्क बहुत पहले से ही था। इनमें खरे जी साम्यवादी थे।

एक बात मेरे लिए बड़ी खेदजनक है, वह यह कि जहाँ सशस्त्र शहीदों को काफ़ी याद किया गया है, वहाँ अहिंसावादियों को प्रायः भुला ही दिया गया है। स्वयं मेरी पच्चीस रचनाओं में केवल चार अहिंसावादियों के विषय में हैं।

साहित्य-सेवियों की कीर्ति-रक्षा

साहित्य-सेवियों की चर्चा मैं अपने घर में बहुत वर्षों से सुनता आ रहा हूँ। मेरे पूज्य पिता जी, पण्डित गणेशीलाल जी स्वर्गीय श्रीधर पाठक का नाम अक्सर लिया करते थे। उन्हीं से मुझे ज्ञात हुआ था कि पाठक जी का जन्म यहाँ से नौ-दस मील दूर जोंधरी ग्राम में हुआ था और तत्पश्चात् वह फीरोजाबाद के मिडिल स्कूल में पढ़ने आये थे। स्वर्गीय पं० जयराम जी प्रधान अध्यापक की प्रेरणा से वह फीरोज़ाबाद के मिडिल स्कूल में दाख़िल हुए और यहीं से उन्होंने सम्मान सहित मिडिल परीक्षा पास की। सन् 1944 में मैंने जोंधरी ग्राम की जो पैदल यात्रा की थी उसका मुझे अभी तक स्मरण है। वहाँ श्रद्धांजलि अर्पित करके मैं पैदल ही लौटा भी था। जाते समय जब मैंने पिता जी से अनुमति माँगी तो उन्होंने कहा, "जोंधरी बहुत दूर है, थक जाओगे।" मैंने कहा, "कक्का, हम तुम्हारा नाम लेकर चले

जायेंगे।" इसके 24 वर्ष पूर्व सन् 1920 में मैंने पदमकोट (लूकरगंज), इलाहाबाद की तीर्थ यात्रा की थी और वहाँ सोलह दिन रहकर पाठक जी के जीवन की महत्त्वपूर्ण सामग्री की नक़ल की थी। पाठक जी उन दिनों जीवित थे और उनसे बहुत से तथ्य भी प्राप्त हुए थे। मैं पाठक जी का जीवन-चरित लिखना चाहता था, यद्यपि उनके विषय में एक लेख मैंने 'विशाल भारत' में लिखा था—जो 'मेरे संस्मरण' नामक ग्रन्थ में उद्धृत भी हुआ है, और पाठक जी विषयक एक शोध-ग्रन्थ की भूमिका भी मैंने लिखी थी, तथापि उस सम्पूर्ण सामग्री का उपयोग पिछले 61 वर्षों में मैं नहीं कर सका हूँ। यह मेरे प्रमाद का निकृष्ट उदाहरण है। अब मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं उस कार्य को शीघ्र ही हाथ में लेकर पूरा कर लूँगा। स्वर्गीय पाठक जी ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों के आचार्य थे और यह बड़े खेद की बात है कि हम फ़ीरोज़ाबाद वालों ने उनकी कीर्ति-रक्षा के लिए कुछ नहीं किया।

पाठक जी के अतिरिक्त दूसरा नाम जो मेरे सामने आया था वह था सत्यनारायण कविरत्न का। उनसे परिचय अकस्मात् ही हुआ। शायद 1911-12 की बात है कि मैं बाज़ार गया हुआ था। वहाँ मिर्जई पहने और दुपल्ली टोपी लगाये एक युवक ने मधुर ब्रजभाषा में पूछा, "क्यों भैया! भारती भवन कहाँ है?" मैंने कहा, "मैं उँवई जाइरयो हों, चलो।" वह मेरे साथ हो लिये। उन्हें अशिक्षित और गँवार समझकर मैंने उनसे मार्ग में कोई बात भी नहीं की। भारती भवन में उस समय ठाकुर प्रसाद शर्मा मौजूद थे। वह सत्यनारायण जी से भली-भाँति परिचित थे और उन्होंने मुझसे आश्चर्य की मुद्रा में कहा, "तुम इन्हें नाँइ जानत, ये सत्यनारायण जी कविरत्न हैं।" इस प्रकार मेरा उनसे प्रथम परिचय हुआ। इस आकस्मिक घटना ने मेरे क्षुद्र जीवन में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ ला दिया। इन्दौर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में मैंने ही सत्यनारायण जी को निमंत्रित किया था। वह वहाँ पहुँचे भी थे। उन्होंने अपने मधुर कंठ से जो कविताएँ सुनायीं उनसे श्रोता मंत्रमुग्ध हो गये। तभी मैंने उनकी कविताओं का संग्रह करने का निश्चय कर लिया था। दुर्भाग्यवश इन्दौर सम्मेलन के कुछ दिनों बाद ही, 15 अप्रैल, 1918 को कविरत्न का स्वर्गवास हो गया। इस दुर्घटना से मैं अपने जीवन में पहली बार फूट-फूटकर रोया था। उस सयम मैं स्व० भाई द्वारिका प्रसाद सेवक के सरस्वती सदन (इन्दौर) में बैठा हुआ था। वह भी फ़ीरोज़ाबादी ही थे और इस घटना से बड़े दुखित हुए थे।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन



कविरत्न का साहित्यिक श्राद्ध

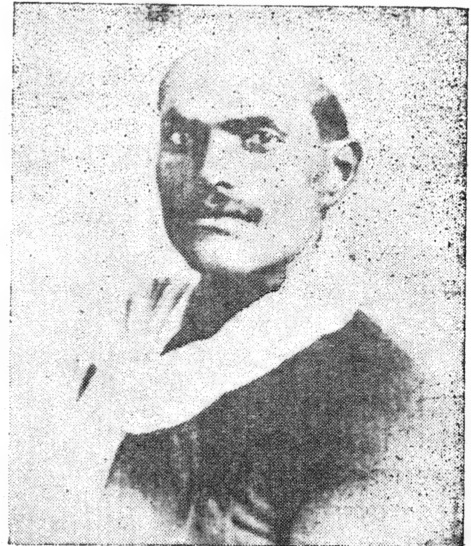
मैंने कविरत्न जी की स्मृति-रक्षा के लिए पाँच काम सोचे थे (1) उनकी कविताओं का संग्रह प्रकाशित करना, (2) भारती भवन में उनके तैल चित्र का उद्घाटन, (3) उनका जीवन-चरित लिखना,

(4) उनकी स्मृति में सम्मेलन में सत्यनारायण कुटीर का निर्माण तथा (5) उनके सम्पूर्ण ग्रन्थों का एक जिल्द में प्रकाशन।

सौभाग्य से ये पाँचों श्राद्ध-कार्य विधिवत् सम्पन्न हो गये। कविरत्न जी की कविताओं का संग्रह 'हृदय तरंग' नाम से प्रकाशित हो गया और उसके दो संस्करण भी निकल गये। द्वितीय संस्करण का सम्पादन पं० अयोध्या प्रसाद जी पाठक ने किया जो कविरत्न जी के प्रशंसक भी थे। भारती-भवन में सत्यनारायण जी के तैलचित्र का अनावरण दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के करकमलों द्वारा 1920 में हुआ था। उनका जीवन-चरित मैंने सन् 1926 में लिख दिया था, जिसकी भूमिका पं० पद्मसिंह जी शर्मा ने लिखी थी और प्रकाशन हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने किया था। उसके भी दो संस्करण हो चुके हैं। सत्यनारायण कुटीर का निर्माण सम्मेलन में हुआ और उसका उद्घाटन महात्मा गांधी द्वारा हुआ था। यह साहित्यिक अतिथियों के लिए प्रयाग में ठहरने का स्थान बन चुका है। महापण्डित राहुल जी वहाँ बहुत दिनों तक रहे थे और पं० रामनरेश त्रिपाठी का स्वर्गवास वहीं हुआ था। मैं भी दो बार वहाँ ठहर चुका हूँ। सत्यनारायण जी के समस्त ग्रन्थों का संग्रह नेशनल पब्लिशिंग हाउस, देहली ने प्रकाशित किया है। लगभग 5000 पृष्ठों का यह ग्रन्थ नब्बे रुपये में वहीं से प्राप्य है। मुख्य सम्पादक डॉ० विद्यानिवास मिश्र तथा सम्पादक डॉ० गोविन्द रजनीश (के० एम० मुंशी विद्यापीठ, आगरा) हैं। यह संग्रह सन् 1981 में प्रकाशित हुआ है। इस प्रकार सत्यनारायण जी विषयक श्राद्ध को पूरा करने में 63 वर्ष लग गये।

कविरत्न जी की कीर्ति-रक्षा के कार्यक्रम में मुझे अनेक व्यक्तियों और संस्थाओं से सहायता मिली थी। स्व० महेन्द्र जी ने नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा द्वारा 'हृदय तरंग' प्रकाशित कर दी थी और हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने सत्यनारायण जी कविरत्न की जीवनी। स्व० द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी ने उस पुस्तक को बहुत पसन्द किया था और उनका आशीर्वाद मुझे मिला था। सत्यनारायण कुटीर के लिए राजकुमार रघुवीरसिंह सीतामऊ की धर्मपत्नी तथा वीरसिंह जूदेव ने सहायता दी थी। जैसा कि मैं लिख चुका हूँ समस्त ग्रन्थ-संग्रह भाई डॉ० विद्यानिवास जी के सहयोग से छप सका। दीनबन्धु एण्ड्रूज ने सम्मेलन में कुटीर की स्थापना करवा दी थी।

कविरत्न सत्यनारायण जी



राजा लक्ष्मणसिंह जन्मशताब्दी

सन् 1926 में मेरी प्रार्थना पर आगरा की नागरी प्रचारिणी सभा ने राजा लक्ष्मणसिंह की जन्म-शताब्दी मनाई थी। उस अवसर पर आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा, दीनबन्धु एण्ड्रूज तथा भरतपुर नरेश सैयद अमीरअली मीर इत्यादि के सन्देश प्राप्त

हुए थे। सभा ने मेघदूत का नवीन संस्करण भी छपवाया था। उस उत्सव के कागज़ात राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित हैं।

स्व० हरिशंकर शर्मा कीर्ति-रक्षा

यह बड़े खेद की बात है कि आर्य समाज के द्वारा स्व० हरिशंकर शर्मा की कीर्ति-रक्षा के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया था। हाँ, आर्य प्रतिनिधि सभा लखनऊ ने उनके पत्रों को टाइप कराने के लिए 114 रुपये मेरे पास भेज दिये थे। मैंने उनके 300 से ऊपर पत्र टाइप कराकर यथास्थान भेज दिये थे। डी० ए० वी० कालेज फीरोजाबाद ने अपनी पत्रिका का एक विशेषांक पण्डित हरिशंकर शर्मा पर निकाल दिया था जिसकी समस्त तैयारी भाई मानव जी ने स्व० शर्मा जी के घर पर कई दिन रहकर भाई विद्याशंकर शर्मा के सहयोग से की थी।

स्व० वंशीधर जी विद्यालंकार अच्छे कवि तथा उच्चकोटि के साहित्यकार थे। उनके भी 300 पत्रों की प्रतियाँ टाइप कराकर कई जगह भेज दी गयी थीं।

मैंने नर्मदा से बालकृष्ण शर्मा नवीन पर एक विशेषांक निकलवाया था जिसमें उनके अनेक महत्त्व-पूर्ण पत्र उद्धृत किये गये थे। स्व० वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने मुझे 70-75 महत्त्वपूर्ण पत्र भेजे थे। उनके उन पत्रों का संग्रह मेरे अनुरोध पर भाई वृन्दावन दास जी ने छपवा दिया था।

प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ

यह ग्रन्थ स्व० नाथूराम जी प्रेमी को भेंट किया गया था। बन्धुवर श्री यशपाल जी जैन ने इसके लिए बड़ा प्रयत्न किया था। स्व० गणेश प्रसाद वर्णी को भी एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया था, जिसके बुन्देलखण्ड विभाग का सम्पादन मैंने किया था। एक पुस्तक स्व० प्रेमी जी के सुपुत्र हेमचंद्र मोदी पर भी छपवाई थी।

एक पुस्तिका स्व० देवीदयाल गुप्त पर भी छपवा दी गयी थी। महाराज वीरसिंह जूदेव कवियों तथा साहित्य-सेवियों के संरक्षक थे। उन पर भी मैंने एक स्मृति-ग्रन्थ निकाल दिया था।

पत्रों का संग्रह

हिन्दी में लेखन कला पर मेरे द्वारा कुछ कार्य हुआ है। साहित्याचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा के पत्र पुस्तकाकार में छपवा दिये गये हैं, जिनका संग्रह मैंने तथा सम्पादन पं० हरिशंकर शर्मा ने किया था। 'विशाल भारत' तथा 'सैनिक' के पद्मसिंह अंक मैंने छपवाये थे। स्व० ब्रजमोहन वर्मा पर एक स्मृति-ग्रन्थ मैंने ज्ञान-मंडल काशी से 'साहित्य सौरभ' नाम से निकलवा दिया था।

हिन्दी लेखकों और कवियों के सैकड़ों ही पत्र राष्ट्रीय अभिलेखागार, जनपथ, नयी दिल्ली में मेरे संग्रह में सुरक्षित हैं; जिनमें 70-75 पत्र आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के, 150 हजारीप्रसाद जी के, कई सौ पं० पद्मसिंह जी के, 20-25 प्रेमचन्द जी के, 30-35 माननीय श्रीनिवास शास्त्री जी के और 50 से ऊपर महाकवि दिनकर जी के पत्र हैं। उर्दू साहित्य के पिता मौलवी अब्दुल हक साहब के भी 30-35 पत्र हैं। 290 पत्र दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज और 100 से ऊपर महात्मा गांधी के भी हैं। इसी प्रकार आगरा विश्वविद्यालय के चतुर्वेदी ब्रजकक्ष के भी सैकड़ों पत्र सुरक्षित हैं। हर्ष की बात है कि जामनगर काठियावाड़

के डॉ० कमल पुँजाणी ने हिन्दी पत्रलेखन पर एक शोध-ग्रन्थ तैयार कर दिया है। इस प्रकार आज पत्र-लेखन विधा हिन्दी जगत में अधिकाधिक लोकप्रिय होती जा रही है।



पण्डित हरिशंकर शर्मा

विकासशील साहित्यकारों की सेवा

तथाकथित छुटभइयों की सेवा मेरे जीवन का एक मिशन ही रहा है और उनके व्यक्तित्व के विकास में मेरी सदैव रुचि रही है। पर यह कार्य मैंने किसी परोपकार की भावना से नहीं किया है। मेरे पास समय और साधनों का बाहुल्य रहा है और उनका सदुपयोग करने की मेरी इच्छा ही उसके मूल में है। स्व० वासुदेव शरणजी अग्रवाल तथा स्व० हजारीप्रसाद द्विवेदी और महाकवि दिनकर जैसे प्रतिष्ठित लेखकों और स्व० कमला चौधरी तथा बहिन सत्यवती मलिक की भी यत्किंचित् सेवा मुझसे बन पड़ी है। अपने नगर के कवियों और लेखकों तथा ब्रजभूमि के साहित्यकारों की कुछ सेवा करने में मैंने अपना सौभाग्य समझा है। मैं स्व० भागीरथ जी भास्कर (इटावा) को श्रद्धांजलि अर्पित कर चुका हूँ। भाई रतनलाल जी बंसल, भाई मानव जी तथा कुसुमाकर जी पर भी मैंने लेख प्रकाशित कराये थे। यह सूची मैंने आत्म-विज्ञापन की भावना से नहीं दी है। सच पूछो तो इन्हीं छुटभइयों की सेवा ने मुझे गौरवान्वित किया है। मेरे लिए परम हर्ष का विषय है कि भाई यशपाल जैन तथा बन्धुवर जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी ने साहित्य जगत में उच्च स्थान बना लिया है।

10

हिन्दी भवन

शान्ति-निकेतन में हिन्दी भवन

वर्षा ऋतु के बाद सन्ध्या समय शान्ति-निकेतन में रंग-बिरंगे बादलों की छटा देखते ही बनती है। शान्ति-निकेतन (बोलपुर) कलकत्ते से 99 मील दूर है। अपने 'विशाल भारत' के दिनों में मैंने अनेक बार शान्ति-निकेतन की यात्रा की थी। वह मेरे लिए एक तीर्थ स्थान था और वहाँ की यात्रा का कोई भी मौक़ा मैं नहीं छोड़ता था। एक बार बड़ी दिल्लगी हुई। बन्धुवर हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने एक दिन 'विशाल भारत' में आकर कहा, "आप शान्ति-निकेतन कब पधारेंगे?" मैंने उत्तर दिया, "जिस दिन आप प्रातःकाल पौने चार बजे चार प्याले चाय और कुछ मिष्ठान्न का प्रबन्ध कर देंगे उसी दिन मैं आपकी सेवा में पहुँच जाऊँगा।" मैंने यह बात मज़ाक में ही कही थी। द्विवेदी जी ने इस मज़ाक को घर तक पहुँचाने का निश्चय किया। एक बार जब मैं शाम को शान्ति-निकेतन पहुँचा तो दूसरे दिन प्रातःकाल साढ़े तीन बजे ही वह पाँच प्याले चाय की केतली और मिष्ठान्न लिये मेरे स्थान पर हाज़िर हो गये। मैंने आश्चर्य से उनसे पूछा, "यह आपने क्या किया? घरवालों को इस समय इतना कष्ट क्यों दिया?" द्विवेदी जी हँसते हुए बोले, "कुछ भी कष्ट नहीं हुआ और बच्चे तो ख़ास तौर से ख़ुश हैं क्योंकि उन्हें इतनी जल्दी चाय मिल गयी और साथ में कुछ मीठा भी।" मैं यद्यपि अपने मज़ाक पर लज्जित हो गया, फिर भी मैंने बड़े स्वाद के साथ चाय पी और रसगुल्ले तथा सन्देश खाये। तत्पश्चात् हँसी और मज़ाक के फ़ुव्वारे छूटते रहे। शान्ति-निकेतन में बड़े दादा (कवीन्द्र जी के ज्येष्ठ बन्धु) द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर का अट्टहास प्रसिद्ध था। वह दूर से सुनाई पड़ता था, उसी प्रकार हजारी-प्रसाद जी द्विवेदी का हास्य भी बहुत प्रसिद्ध था।

शाम के समय हम लोग टहलने के लिए निकले। दो-तीन मील का चक्कर लगाकर ख़ूब हसते-हँसाते पांथ निवास (अतिथि गृह) पर पहुँचे। उस समय मैंने मज़ाक में कहा, "देखिए द्विवेदी जी! इसी स्थान के निकट हमारा हिन्दी भवन बनेगा। आप मुझ पर विश्वास तो कीजिए।" द्विवेदी जी ने हँसकर कहा, "मैं विश्वास करता हूँ, अवश्य बनेगा।" आश्चर्य की बात यह हुई कि उस बातचीत के तीन वर्ष के भीतर ही शान्ति-निकेतन में हिन्दी भवन बन गया। उसकी नींव दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ ने रखी और उद्घाटन पं० जवाहर-लाल नेहरू ने किया था। अपने उस संकल्प को पूरा करने में मुझे पंद्रह बार कलकत्ते से शान्ति-निकेतन की

यात्रा करनी पड़ी।

एक दिन कलकत्ते में भाई सीताराम जी सेकसरिया ने मेरे निवास स्थान पर पधारकर कहा, "आप मारवाड़ी बालिका विद्यालय में एक हिन्दी पुस्तकालय का उद्‌घाटन कर दीजिए।" मैं सहर्ष राज़ी हो गया और दूसरे दिन उस स्कूल में पहुँचा। अपने भाषण में मैंने छात्राओं को सम्बोधित करते हुए कहा, "यह कैसे दुर्भाग्य की बात है कि कलकत्ते से कुल जमा 99 मील की दूरी पर विश्व का एक महान् कवि रहता है—कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर; और आपमें से शायद ही किसी ने उनके दर्शन किये हों।" मैं अपना भाषण देकर घर लौट आया। दूसरे ही दिन भाई सेकसरिया जी मेरे घर पर पधारे और कहा, "आप लड़कियों को बहका आये हैं। अब वे ज़िद कर रही हैं कि हमें कवीन्द्र के दर्शन करा दें। उनके आग्रह को हम टाल नहीं सकते। क्या पथ-प्रदर्शक के रूप में आप साथ चल सकेंगे?" मैंने उत्तर दिया, "समय तो मेरे पास कम ही है फिर भी आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।" जैसे कोई ज्योतिषी किसी श्रद्धालु व्यक्ति को बहकाते हुए कहता है तुम्हें ग्रह लगे हुए हैं, किसी ब्राह्मण को दान करो तो उपद्रव दूर हो सकता है। वह बिचारा घबड़ाकर उन्हीं ज्योतिषी को महत्त्व का दान देता है, वैसी ही चालाकी मैंने भी की थी। बालिका विद्यालय की दस-बारह छात्राओं, एक अध्यापिका तथा सेकसरियाजी को लेकर मैं शान्ति-निकेतन पहुँच गया और गुरुदेव के पास आधा घण्टा समय देने की प्रार्थना भी भिजवा दी। गुरुदेव ने स्वीकृति दे दी। उन्होंने शाम को चार बजे का वक्त दिया था। दोपहरी को मैं नियमानुसार विश्राम कर ही रहा था कि गुरुदेव का एक आदमी पहुँचा और उसने कहा, "गुरुदेव आपसे कुछ बात करना चाहते हैं, चलिए।" मैं तुरन्त साथ हो लिया। गुरुदेव ने मिलते ही कहा, "आज जिन मारवाड़ी मित्र को साथ लाए हैं, उनसे मैं बालिकाओं के छात्रावास में दो-तीन कमरे बनवाने का अनुरोध करना चाहता हूँ। क्या यह उचित होगा?" मैंने तुरन्त ही उत्तर दिया, "गुरुदेव, आप आश्रम में हिन्दी भवन की स्थापना के लिए अनुरोध करें। मैं उसी के लिए प्रयत्नशील हूँ।" उस सन्ध्या का दृश्य अब भी मेरी आँखों के सामने है। उत्तरायण में गुरुदेव विराजमान थे। हम सब उनके चरणों के निकट ज़मीन पर बैठे थे। उस समय गुरुदेव ने पहला प्रश्न यह किया, "क्या आप सब सरल बंगला समझ सकेंगे? मैं शुद्ध हिन्दी में बोल नहीं सकता और विदेशी भाषा में बोलना नहीं चाहता।" भाई सेकसरिया ने कहा, "आप सरल बंगला में ही बोलिए, हम सब समझ जायेंगे।" उस समय गुरुदेव ने जो भावपूर्ण प्रवचन दिया, उसकी याद मुझे कुछ-कुछ अब भी है। भाई सेकसरिया जी ने अपनी डायरी में उसका सारांश ख़ूबी से लिखा था। वह डायरी तो आगरा संग्रह में चली गयी इसलिए अपनी स्मरण शक्ति से कुछ बातें लिख रहा हूँ।

गुरुदेव ने कहा, "दो वर्गों और जातियों को मिलाने का कार्य जिस उत्तमता से बहनें, मातायें तथा बेटियाँ कर सकती हैं, पुरुष कदापि नहीं कर सकते। आपसे मेरा विनम्र अनुरोध है कि आप, बंगालियों तथा हिन्दी भाषा-भाषियों में एकता तथा मेलजोल स्थापित करें। पारस्परिक एकता के लिए ही मैंने शान्ति-निकेतन की स्थापना की थी। जो कुछ बन सका मैंने अपने पास से व्यय कर दिया पर अब हमारी संस्था ऋणी बन गयी है। मालवीय जी ने सहायता देने का वचन दिया था पर वह नहीं कर सके।" हम सब बड़े ध्यानपूर्वक गुरु-देव की अपील को सुन रहे थे और उन जैसे विश्व कवि की अन्तर्वेदना का अनुभव भी कर रहे थे। उसी समय सेकसरिया जी ने मेरे कान में धीमे से पूछा, "मैं अभी 500 रुपये देना चाहता हूँ, क्या गुरुदेव से कह दूँ!" मैंने कहा, "अवश्य," भाई सेकसरिया जी ने गुरुदेव को यह सूचना दे दी और उन्होंने सहर्ष उसे स्वीकार भी कर

लिया। इस प्रकार शान्ति-निकेतन में हिन्दी भवन की नींव पड़ी। फिर तो भाई भागीरथ जी कनौड़िया के प्रयत्न से 35 हजार रुपये की लागत से वहाँ हिन्दी भवन बन भी गया। वह पैसा हलवासिया ट्रस्ट से मिला था। मेरा अनुमान है कि अब तक मारवाड़ी मित्रों द्वारा हिन्दी भवन को कई लाख की सहायता मिल चुकी होगी। अब तो हिन्दी भवन विश्वभारती विश्वविद्यालय के अधीन है और सरकारी नियंत्रण में है। इसलिए उसका क्षेत्र भी काफ़ी व्यापक बन गया है।

शान्ति-निकेतन में जब पं० जवाहरलाल नेहरू ने उद्‌घाटन किया था उस समय में कलकत्ते में था। तब मैं शान्ति-निकेतन नहीं गया। कारण यह था कि पं० जवाहरलाल जी नेहरू ने काँग्रेस से जो सहायता मुझे प्रवासी भारतीयों के कार्य के लिए मिलती थी, वह बन्द कर दी थी। इस प्रकार घोर निराशा से मैंने अपने 22 वर्ष पुराने मिशन को तिलाञ्जलि दे दी थी। उस दिन जो व्यक्ति कलकत्ते से शान्ति-निकेतन जा रहे थे उन्हें स्टेशन तक पहुँचाने मैं गया था। श्री भागीरथ कनौड़िया जी भी उसी ट्रेन से जा रहे थे। मुझे इस बात का बराबर खेद रहा कि मैं उस अवसर पर उपस्थित न हो सका। भाई भागीरथ कनौड़िया जी ने कहा कि "बिना दूल्हे के बारात कैसी? यह तो आपका स्वप्न था।" जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मुझे तीन वर्ष देने पड़े और पंद्रह बार शान्ति-निकेतन की यात्रा करनी पड़ी उसे साकार रूप में सफल देखने के लिए मैं शान्ति-निकेतन नहीं जा सका। साधनहीन कार्यकर्ताओं के जीवन में ऐसे क्षण प्रायः आते रहते हैं जबकि वे निराशा से अभिभूत हो जाते हैं। अब अपनी उस भूल का अनुभव करता हूँ। पण्डित जी की चिट्‌ठी से निराश होकर मुझे अपना मिशनरी कार्य नहीं छोड़ना चाहिए था। सम्भवतः आर्थिक कठिनाइयों के कारण ही काँग्रेस ने उक्त निर्णय लिया होगा।

दिल्ली में हिन्दी भवन

शायद 1945-46 की बात है। मैं दिल्ली गया हुआ था और बहिन सत्यवती मलिक के निवास स्थान पर ठहरा था। सन् 1935 से ही, जबकि मैं कलकत्ते में 'विशाल भारत' का सम्पादन कर रहा था, मलिक परिवार की मुझ पर कृपा थी। बहिन सत्यवती जी के साहित्यिक विकास में मेरे द्वारा कुछ सेवा भी बन पड़ी थी। एक दिन दिल्ली में भाई विष्णुदत्त मिश्र तरंगी पधारे और बोले कि हम लोग आपका सार्वजनिक स्वागत करना चाहते हैं। उनके प्रेमपूर्ण आग्रह को मैं टाल नहीं सका। मिंटो रोड पर एक क्लब में मेरा स्वागत हुआ। उत्तर देते हुए मैंने यह सुझाव उपस्थित जनता के सम्मुख रखा कि दिल्ली में हिन्दी भवन की स्थापना होनी चाहिए। उस समय मैंने यह स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी कि छह वर्ष बाद सन् 1952 में मुझे संसद सदस्य बनकर दिल्ली आना होगा और सन् 1953 में मेरे द्वारा ही हिन्दी भवन की स्थापना होगी।

उस दिन की मुझे अब भी याद है जबकि राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू की कृपा से थियेटर कम्यूनिकेशन बिल्डिग में दो कमरे 160 रु० महीना किराये पर मिल गये। अपने पास एक पैसा भी नहीं था और पहले महीने का किराया जमा करना था। उस समय मुझे विशाल भारत के पुराने लेखक और राज्यसभा के सदस्य राजेश्वर प्रसाद सिंह की याद आई और मैंने तुरन्त उन्हें फ़ोन किया, "एक बहुत ज़रूरी काम है। 100 रुपये लेकर पधारिए।" वह शीघ्र ही पधारे। तब मैंने उन्हें बतलाया कि हिन्दी भवन की स्थापना करनी है। वह बहुत ख़ुश हुए और उन्होंने भरपूर सहायता करने का वचन भी दिया। आगे चलकर 100 रुपये

उन्होंने अपने अग्रज श्री चन्द्रेश्वर प्रसाद नारायण सिंह से भी दिलवाए। मेरे भूतपूर्व सहायक यशपाल जैन और जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी पहले से ही दिल्ली में विद्यमान थे। उनकी भी सहायता निरन्तर मिली। भाई किशनलाल चतुर्वेदी ने भी मदद की। पूरे ग्यारह वर्ष तक हिन्दी भवन की जिम्मेदारी मुझ पर और मंत्री सत्यवती मल्लिक पर रही। उन ग्यारह वर्षों के मीठे और कड़वे अनुभवों की अब भी याद आ जाती है। मौलाना आज़ाद की कृपा से हिन्दी भवन का किराया आधा हो गया, पर एकाध वर्ष बाद वह रक़म तिगुनी कर दी गयी। ख़र्च चलाने के लिए भीख माँगते मैं तंग आ गया। उन दिनों जिन लोगों ने आर्थिक सहायता की थी, उनके शुभ-नाम मैं कृतज्ञतापूर्वक स्मरण कर लेता हूँ। सबसे बड़ी रक़म 1000 रुपये (स्व०) श्री घनश्यामदास जी बिड़ला ने दिये थे और 600 रुपये धार्मिक ग्रन्थ ख़रीदने के लिए उनके अग्रज श्री जुगलकिशोर बिड़ला ने दिये थे। अमेरिका के विलियम लाइड गैरीसन के वंशजों ने 1200 रुपये गैरीसन लाइब्रेरी के लिए दिये थे। 500 रुपये 'स्वदेश' के सम्पादक श्री दशरथ प्रसाद द्विवेदी ने दिये थे। कलकत्ते से भाई सीताराम जी सेकसरिया, श्री भागीरथ कनौड़िया तथा श्री मूलचन्द्र अग्रवाल से भी आर्थिक सहायता मिली थी। सस्ता साहित्य मंडल, राजपाल एण्ड सन्स तथा आत्मा राम एण्ड सन्स के श्री रामलाल पुरी ने भी मदद दी थी। एक मारवाड़ी सज्जन श्री रामेश्वर टांटिया, जो आगे चलकर कानपुर कारपोरेशन के मेयर व संसद सदस्य हुए, ने भी 200 रुपये दिये थे। 'सरिता' सम्पादक श्री विश्वनाथ से भी 100 रुपये मिले थे। चूँकि बहन सत्यवती जी का निवास स्थान हिन्दी भवन के निकट ही था, इसलिए साहित्यिकों के आतिथ्य का सम्पूर्ण भार उन्हीं पर पड़ा था। बाहर से आने वाले साहित्यिक उन्हीं के यहाँ ठहरते थे। बहिन जी ने अपनी 'विशाल भारत' की पुरानी फ़ाइलें भी हिन्दी भवन को प्रदान कर दी थीं।

खेदपूर्वक मुझे यह बात लिखनी पड़ती है कि भारत सरकार द्वारा भवन की बिल्कुल उपेक्षा ही हुई। श्रद्धेय पं० जवाहरलाल जी ने एक भाषण में कहा था, "दिल्ली हैज़ नो सोल" पर उस आत्मा के विकास के लिए भारत सरकार ने क्या किया ? एक बार मैंने पण्डित जी से हिन्दी भवन के लिए भूमि-खण्ड देने की प्रार्थना की थी, तब पण्डित जी ने कहा था, "ज़मीन क्या मेरी जेब में रखी है कि दे दूँ। सभी लोग केन्द्रीय स्थल पर ज़मीन चाहते हैं।" उस समय हिन्दी के एक प्रतिष्ठित लेखक ने पण्डित जी की हाँ-में-हाँ मिलाते हुए कहा था, "पण्डित जी ठीक तो कहते हैं।" मैं किसी की शिकायत नहीं करना चाहता, पर फिर भी यह लिख देना चाहता हूँ कि दिल्ली में स्थित तत्कालीन कवियों और लेखकों से मुझे एक पैसे की भी सहायता नहीं मिली। हिन्दी भवन का वार्षिक चन्दा दस रुपये था और हिन्दी लेखक साढ़े तेरह आने महीना उसके लिए ख़र्च करने को तैयार न थे। एक प्रतिष्ठित कवि ने कहा, "मैंने तो नियम बना लिया है कि किसी संस्था का सदस्य नहीं बनूँगा।" एक अन्य कवि ने कहा, "मैं तो प्रत्येक पैसे को दाँत से पकड़ता हूँ।" एक तीसरे सज्जन ने कहा, "मेरे पास पैसा कहाँ रखा है ?' परिणाम यह हुआ कि ग्यारह वर्ष में, 1953 से 1964 तक, मुझे हिन्दी भवन के लिए अपने पास से लगभग 3500 रुपये ख़र्च करने पड़े। यह बात मैंने आत्म विज्ञापन के लिए नहीं लिखी, बल्कि उन समानशील युवकों को सावधान रकने के लिए लिखी है जो संस्थाओं द्वारा काम करने के इच्छुक हैं।

सन् 1964 में संसद सदस्यता से मुक्त होकर मैं दिल्ली छोड़कर घर चला आया और उसके पूर्व मैंने हिन्दी भवन भाई बाँके बिहारी भटनागर को सौंप दिया था। उनको भी बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिसका वृत्तान्त वह स्वयं ही बतला सकते हैं। जिस स्थान पर हिन्दी भवन की पुस्तकें रखी थीं जब उसे खाली करना पड़ा तो बन्धुवर जगदीश प्रसाद जी चतुर्वेदी के तथा श्री बाँके बिहारी भटनागर के

ाहयोग से तत्कालीन शिक्षा सचिव श्री त्रैलोक्य नाथ चतुर्वेदी ने इस पुस्तकालय को भारत सरकार के ारतीय भाषा पुस्तकालय (तुलसी सदन) में स्थान देने का निर्णय किया। शिक्षा मंत्रालय में अतिरिक्त ाचिव तथा श्रीमती सत्यवती मलिक की पुत्री डा० कपिला वात्स्यायन ने हिन्दी भवन खण्ड के नाम से उन ान्थों को अलग से रखवा दिया है तथा उनकी एक प्रदर्शनी भी करा दी और ये पुस्तकें पुनः हिन्दी पाठकों को ाढ़ने के लिए उपलब्ध हो गयीं।

मेरे द्वारा स्थापित शान्ति-निकेतन का हिन्दी भवन विश्व भारती विश्वविद्यालय का अंग बन गया और कुण्डेश्वर (टीकमगढ़) का गांधी भवन भी मध्य प्रदेश सरकार के शिक्षा विभाग को समर्पित हो गया। दिल्ली का हिन्दी भवन सरकार के संरक्षण में जा रहा है। इस देश में स्वतन्त्र रूप से किसी साहित्यिक तथा सांस्कृतिक संस्था का संचालन कठिन से कठिनतर होता जा रहा है।

11

कुण्डेश्वर (टीकमगढ़) में गांधी भवन

ओरछा नरेश स्वर्गीय महाराज वीरसिंह जू देव के विशेष आग्रह पर मैं 'विशाल भारत' छोड़कर 13 अक्तूबर, 1937 को टीकमगढ़ पहुँचा और 18 अक्तूबर को कुण्डेश्वर पर स्थित विशाल भवन में मुझे स्थान मिला था। कुण्डेश्वर से ही मैंने 'मधुकर' नामक पत्र निकाला था जिसके सम्पादन कार्य में महाराज साहब ने कभी कोई दख़ल नहीं दिया। चार वर्ष डेली कॉलेज इन्दौर में वह मेरे शिष्य रह चुके थे और उनके हृदय में मेरे प्रति श्रद्धा और सम्मान था। चूँकि मेरा सम्बन्ध किसी राजनैतिक दल विशेष से नहीं था, अतः कुण्डेश्वर में मेरी कोठी पर सभी दलों के व्यक्ति और राज्य के मंत्री तथा स्वयं महाराज साहब प्रायः पधारा करते थे। आगे चलकर इसके प्रति ग़लतफ़हमी भी हुई थी और स्व० बालकृष्ण राव ने, जो उस समय विंध्य प्रदेश सरकार के चीफ सेक्रेटरी थे, मुख्यमंत्री कैप्टेन अवधेश प्रतापसिंह को लिख दिया, "हिज़ प्लेस इज़ ए रेंडज़ेवज़ फॉर सोशलिस्ट्स एण्ड कम्यूनिस्ट्स"। (यानी चतुर्वेदी जी का निवास स्थान समाजवादियों और कम्यूनिस्टों का प्रेम-मिलन-स्थल है)। श्री बालकृष्ण राव की यह उक्ति शाब्दिक अर्थों में तो ठीक थी पर उसके पीछे जो भावना थी वह सर्वथा काल्पनिक थी। उन दिनों मैं सरकारी संस्था, गांधी भवन का संचालक था और किसी सरकारी पदाधिकारी का सरकार विरोधी पार्टियों से गठबन्धन नियमों के सर्वथा विपरीत था। गांधी भवन की स्थापना का वृत्तान्त इस प्रकार है :

जब 30 जनवरी, सन् 1948 को महात्मा जी का स्वर्गवास हुआ उस समय मेरे मन में यह विचार आया कि उनकी स्मृति-रक्षा के लिए टीकमगढ़ में कोई स्मारक होना चाहिए। विंध्य प्रदेश, बुन्देलखण्ड के प्रथम मुख्यमंत्री श्री कामताप्रसाद सक्सेना नागोद में मुख्यमंत्री चुने जाने के बाद श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी के साथ टीकमगढ़ आये। जब उन्होंने मुझसे आग्रह किया कि मैं टीकमगढ़ ही रहूँ तो मैंने प्रस्ताव किया कि यहाँ गांधी भवन बनना चाहिए। उन्होंने मेरे प्रस्ताव का सहर्ष अनुमोदन कर दिया और दिल्ली में इस बात की घोषणा भी कर दी कि टीकमगढ़ में गांधी भवन की स्थापना होगी। जमड़ार नदी के किनारे चालीस फ़ुट ऊँची चट्टान पर स्थित उस आलीशान राजमहल को गांधी भवन के रूप में परिवर्तित करने का प्रस्ताव मेरा ही था। महाराजा साहब से बिना अनुमति लिए वह प्रस्ताव मैंने उपस्थित कर दिया। वह ओरछा राज्य की सर्वोत्तम कोठियों में से थी। जब महाराजा साहब से किसी ने मेरी धृष्टता की शिकायत की और उस महल को हस्तांतरित होने से रोकने को कहा तो उन्होंने बड़ी नम्रतापूर्वक केवल इतना ही कहा,

बे जी मेरे गुरु हैं। उनकी घोषणा का खण्डन मैं नहीं कर सकता। जो उन्होंने किया, वह मुझे स्वीकार है।" रत सरकार से महाराज के सम्बन्ध बहुत अच्छे थे। यदि वह चाहते तो उस विशाल महल को अपने वंशजों लिए सुरक्षित कर सकते थे, पर वह बड़े उदार और दूरदर्शी थे।

कुण्डेश्वर में गांधी भवन की स्थापना हो गयी और उसका लम्बा-चौड़ा बजट भी बनाया गया। र सौ रुपया महीने पर मैं उसका संचालक नियुक्त किया गया। मैंने अपने कई वैतनिक सहायक भी रख ए और कार्य प्रारम्भ कर दिया। यह बात यहाँ मुझे ईमानदारी के साथ स्वीकारनी पड़ेगी कि रचनात्मक र्य करने का अनुभव उस समय मुझे बिल्कुल नहीं था। मुझमें उत्साह तो अधिक था पर विवेक कम। धीनता संग्राम के कुछ सेनानियों को उस समय कुछ आर्थिक सहायता तो मिल गयी पर रचनात्मक दृष्टि मेरा प्रयोग असफल ही माना जायेगा। उस समय विंध्य प्रदेश सरकार के एक आई० सी० एस० सज्जन रीक्षण के लिए पधारे थे और उन्होंने सरकार को गांधी भवन के खिलाफ़ रिपोर्ट भी दी थी। हमारे सौभाग्य फ़ीरोज़ाबाद के श्री ब्रजेन्द्रनाथ चतुर्वेदी उच्च पद पर विराजमान थे और उन्होंने उन आई० सी० एस० ोदय को यह कह दिया कि "पत्रकार जगत में चतुर्वेदी जी की लाठी मज़बूत है इसलिए आप गांधी भवन के द करने का प्रस्ताव न करें।" इस प्रकार गांधी भवन बच तो गया पर बहुत दिनों तक उसका भाग्य अधर लटकता रहा। श्री बालकृष्ण राव के पत्र से मेरे और गांधी भवन के विरुद्ध सन्देह का जो एक वातावरण ार हो गया था उसे दूर करने के लिए मुझे रीवा भी जाना पड़ा था। उस समय चुरहट के राजा साहब श्री व बहादुर सिंह (जो मध्य प्रदेश के वर्तमान मुख्यमंत्री अर्जुनसिंह के पिता हैं) विंध्य प्रदेश सरकार के एक ी थे। उन्होंने मेरे मामले की सुनवायी की थी। मैंने उस समय उनसे यही निवेदन किया था कि मेरा बन्ध किसी दल विशेष से नहीं है। यहाँ सभी पार्टियों के आदमी आते हैं—राज्य के मंत्री तथा महाराजा हब भी। यहाँ किसी प्रकार का राजनैतिक षड्यन्त्र नहीं होता बल्कि पारस्परिक ग़लतफ़हमियों को दूर करने कुछ सहायता ही मिलती है। टीकमगढ़ के प्रसिद्ध कार्यकर्ता श्री प्रेमनारायण खरे ने राजा साहब के सामने रा जोरदार समर्थन किया। राजा साहब ने बड़ी बुद्धिमानी से मामले को रफ़ा-दफ़ा कर दिया था। यदि वह ठमुल्लेपन से काम लेते तो मेरी सरकारी नौकरी छूट जाती। आगे चलकर जब हम लोगों के प्रयत्न से ण्डेश्वर में बेसिक ट्रेनिंग कालेज की स्थापना हुई तब मैंने गांधी भवन के संचालक पद से स्वयं ही त्यागपत्र दे या। निस्संदेह मेरे जैसे भार-ग्रस्त गृहस्थ के लिए चार सौ रुपया मासिक की नौकरी छोड़ना एक ख़तरनाक दम था। डेढ़-दो साल तक मुझे बड़े आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। उस समय भाई सोहनलाल ी पचीसिया ने पचास रुपया महीने मुझे साल-भर तक भेजे थे और महाराजा साहब ओरछा की सहायता भी मलती ही रही थी। यदि मैंने सरकारी नौकरी न छोड़ी होती तो मार्च 1952 में मेरा नाम राज्यसभा के दस्य के रूप में आ ही नहीं सकता था। राज्यसभा का सदस्य बनने की कल्पना मैंने स्वप्न में भी नहीं की ी, उसके लिए प्रार्थना पत्र भेजना तो दूर रहा।

'अन्त भला सो सब भला—आल इज़ वेल दैट एण्ड्स वेल' की उक्ति के अनुसार सरकारी पद से स्तीफ़ा मेरे लिए कल्याणकारी सिद्ध हुआ।

गांधी भवन तथा बेसिक ट्रेनिंग कॉलेज को सुरक्षित दशा में छोड़कर मैं दिल्ली चला आया।

12

पत्रकार आन्दोलन से सम्बन्ध

पत्रकारिता मेरा प्रिय विषय रहा है और उस पर मैंने बहुत-से लेख भी लिखे हैं। पत्रकारों का मिशन क्या होना चाहिए और उनके संगठन का रूप क्या हो इस विषय पर मैंने बहुत-से लेख लिखे हैं। पत्रकार आन्दोलन से मेरा सम्बन्ध उस समय से गिना जा सकता है, जब वृन्दावन में हिन्दी साहित्य सम्मेलन हुआ और उस अवसर पर ही एक पत्रकार सम्मेलन भी हुआ जिसकी अध्यक्षता श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर जी ने की थी। तब तक इसका कोई संगठन नहीं था, साहित्य सम्मेलन के अवसर पर एक आयोजन में कुछ विचार प्रकट किये गये और कुछ प्रस्ताव भी पारित किये गये। पत्रकार आन्दोलन से विधिवत् सम्बन्ध तब हुआ, जब सन् 1942 में कानपुर में मैं संयुक्त प्रान्त के हिन्दी पत्रकार सम्मेलन का अध्यक्ष बनाया गया। एक वर्ष पूर्व यानी 1941 में दिल्ली में श्री मूलचन्द अग्रवाल की अध्यक्षता में अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार संघ की स्थापना हो चुकी थी, परन्तु उस संगठन में मालिकों का प्राधान्य था और पत्रकारों के किसी प्रश्न को नहीं उठाया गया था। कानपुर के पत्रकार बन्धुओं ने जो हिन्दी पत्रकार सम्मेलन बनाया, वह श्रमजीवी पत्रकारों तक ही सीमित रहा। उसका नाम था 'उत्तर प्रदेश हिन्दी पत्रकार सम्मेलन' जिसके मंत्री श्री जयदेव गुप्त चुने गये थे। इस सम्मेलन में यह भी निर्णय हुआ कि पत्रकारों की आर्थिक स्थिति की जाँच के लिए जाँच समिति नियुक्त की जाए। इस जाँच कमेटी में श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर, श्री जयदेव गुप्त और श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी रखे गये। कुछ समय बाद श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी टीकमगढ़ के 'मधुकर' कार्यालय में आ गये। जब 1943 में कलकत्ते में अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार संघ का तीसरा अधिवेशन हो रहा था, तो मैंने और 'मधुकर' कार्यालय में कार्य करने वाले साथियों ने कलकत्ते के समाचार-पत्रों तथा अन्य पत्रों में यह विचार प्रकट किया कि श्रमजीवी पत्रकारों की स्थिति की जाँच होनी चाहिए। उस अधिवेशन में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि पत्रकारों की स्थिति की जाँच हो और श्री राजेन्द्र शंकर भट्ट के संयोजकत्व में एक कमेटी बना दी गयी, जिसमें कुछ संचालक और कुछ पत्रकार सदस्य थे। इसी बीच अखिल भारतीय समाचारपत्र सम्पादक सम्मेलन ने 'ट्रिब्यून' के सम्पादक श्री ए० सुब्रह्मण्यम के संयोजकत्व में पत्रकारों का न्यूनतम वेतन निश्चित करने के लिए एक समिति बनायी जिसका मुझे भी एक सदस्य मनोनीत किया गया। अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार संघ ने जो जाँच समिति नियुक्त की थी उसमें श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी को सदस्य मनोनीत किया गया। उनको जाँच का काम पूरा करने के लिए 'मधुकर' कार्यालय से छुट्टी दी गयी। उन्होंने लाहौर, दिल्ली

और बम्बई में हिन्दी पत्रकारों तथा अन्य भाषायी पत्रकारों की स्थिति के बारे में तुलनात्मक अध्ययन किया और झाँसी, कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, गोरखपुर और पटना के समाचार-केन्द्रों में जाकर वहाँ के पत्रकारों से प्रश्नावलियों के उत्तर लिये और उनकी स्थिति का पता लगाया। उस रिपोर्ट के परिणाम-स्वरूप सन् 1944 के दिसम्बर मास में श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी की अध्यक्षता में कानपुर में जो अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार संघ का अधिवेशन हुआ उसमें पत्रकारों की न्यूनतम माँगें स्वीकार की गयीं। उसी अवसर पर कानपुर में ही उ० प्र० हिन्दी पत्रकार सम्मेलन का दूसरा अधिवेशन ठाकुर श्रीनाथ सिंह की अध्यक्षता में हुआ। इसमें श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी को सम्मेलन का प्रधानमंत्री बना दिया गया, और 'मधुकर' कार्यालय, जो अभी तक सम्मेलन के अध्यक्ष का कार्यालय था, अब प्रधानमंत्री का कार्यालय हो गया। कानपुर के दोनों सम्मेलनों में एक सौ रुपया न्यूनतम वेतन, छः घंटे काम, भविष्य निधि, एक महीने की छुट्टी आदि की माँग की गयी।

इसके बाद सन् 1945 में मथुरा में होने वाले अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार संघ का अध्यक्ष मुझे चुना गया और मथुरा में अधिवेशन भी हुआ, परन्तु इस अधिवेशन में पत्र-संचालकों ने हाथ खींच लिया। सन् 1942 से लेकर 1946 तक पत्रकारों के आन्दोलन के सिलसिले में दो प्रकार के कार्य मुख्य रूप से करने पड़े। हमारे सामने ऐसे मामले आये जिनमें पत्रकारों को पदों से निकाल दिया था और इस सिलसिले में झाँसी के श्री कृष्णचन्द्र शर्मा और इलाहाबाद के श्री नरोत्तम प्रसाद नागर को नौकरी से पृथक किये जाने के बारे में उनके संचालकों से पत्र-व्यवहार करना पड़ा। कुछ रचनात्मक कार्य भी संभव हो सका। स्वर्गीय भाई साहू शान्ति प्रसाद जी की धर्मपत्नी स्वर्गीय श्रीमती रमा जैन ने पत्रकारों के प्रशिक्षण के लिए मुझे एक हज़ार रुपये दिये जो मैंने काशी विद्यापीठ को एक पत्रकार शिक्षण पाठ्यक्रम चलाने के लिए दे दिये। मुझे प्रसन्नता है कि उसमें से कुछ लोग बहुत प्रमुख हुए जैसे डॉ० रामसुभग सिंह जिन्होंने बाद में अमेरिका में जाकर पत्रकारिता में डॉक्टरेट प्राप्त की और भारतीय राजनीति में संसद-सदस्य, मंत्री और विरोध पक्ष के नेता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। इसी प्रकार जब ग्वालियर सरकार ने जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद के पत्र 'जीवन' पर प्रतिबन्ध लगा दिया या श्री सूर्यनारायण व्यास को दण्डित किया तो पत्रकार संघ की ओर से उसका विरोध किया गया। जब उत्तर प्रदेश सरकार ने 'लोक युद्ध', जो बाद में 'जनयुग' हो गया, का प्रदेश में प्रवेश रोक दिया तो मैंने उसके विरुद्ध वक्तव्य दिया और एक प्रार्थना के साथ श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी को काँग्रेस अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के पास बम्बई में, जहाँ राष्ट्रीय महासमिति की 1942 के बाद पहली बैठक हो रही थी, भेजा जिससे कि काँग्रेस अध्यक्ष इस मामले में हस्तक्षेप करें। कानपुर के पत्रकार अधिवेशन के अवसर पर मैंने श्री हरिशंकर विद्यार्थी को पत्र लिखे थे जिनमें पत्रकारिता के भविष्य के बारे में अपने विचार प्रकट किये थे। 22 जुलाई, 1945 को मैंने भाई बालकृष्ण जी नवीन को एक पत्र लिखा था जिसमें मैंने कहा था कि पत्रकार कला का भविष्य अब पूँजीपतियों के हाथ में रहेगा, ऐसा मालूम होता है। लड़ाई के बाद अधिकांश पत्र वही लोग निकालेंगे और पत्रकारों का आर्थिक लाभ भले ही बढ़ जाए पर उनकी आवाज़ न रहेगी।

भारत में श्रमजीवी पत्रकारों के संगठन की नींव कैसे पड़ी, इसका इतिहास अभी विधिवत् नहीं लिखा गया है, पर एक बात निश्चित है कि उसे विलायत के पत्रकारों के संगठन से प्रेरणा अवश्य मिली थी। एक बार मैं दिल्ली में किसी पुस्तक विक्रेता की दुकान पर घूम रहा था कि मुझे 'जेंटलमैन दी प्रेस'

नामक पुस्तक दीख पड़ी। वह पुस्तक विलायती पत्रकारों के संगठन के इतिहास की थी। उस पुस्तक ने मुझे बहुत प्रोत्साहित किया और जगदीश जी के लिए तो वह स्वाध्याय ग्रन्थ ही बन गयी। हम दोनों ने अलग-अलग उस पर लेख भी लिखे थे। उस समय पत्रकार आन्दोलन के बारे में मेरे क्या विचार थे, उसको मैंने 'मधुकर' में लिखा था : "एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न हमारे सामने यह है कि क्या अब पत्रकार, संचालक और श्रमजीवी पत्रकार एक ही संस्था में रह सकते हैं ? अपने पिछले अनुभव के आधार पर हम कह सकते हैं कि समय की गति को देखते हुए इन भिन्न दिशाओं में भागने वाले अश्वों को एक ही रथ में नहीं जोता जा सकता। समझौते की नीति थोड़ी दूर तक कारगर हो सकती है और जब आर्थिक हितों में संघर्ष चलने लगता है तब मालिकों और श्रमजीवियों का एक ही संस्था के सदस्य रहना असम्भव समझिये।" मैंने आगे लिखा था, "पत्रकार संचालकों की मनोवृत्ति, पूँजीपतियों का इस क्षेत्र में प्रवेश इत्यादि अनेक बातों ने हमारे प्रश्नों को काफ़ी पेचीदा बना दिया है और सब परिस्थितियों तथा सब प्रकार के आदमियों के लिए कोई एक नीति निर्धारित नहीं की जा सकती।" हमने वहाँ यह लिखा था कि अपने को श्रमजीवी कहने वाले पत्रकारों को अन्य मज़दूर संघों के साथ सहयोग करना चाहिए ताकि वक्त पड़ने पर वह उसकी सहायता कर सकें। श्रमजीवी पत्रकारों तथा पत्र संचालकों के संगठन अलग-अलग होने चाहिए। साथ ही हमने यह भी कहा था कि हमें ऐसे आदर्श उपस्थित करने चाहिए जो प्रान्तीय भाषाओं के लिए पथप्रदर्शक हों। कुछ पत्र तो हमारे यहाँ ऐसे होने चाहिए जो आदर्शवादिता तथा प्रभाव में विलायत के ऊँचे से ऊँचे पत्रों का मुक़ाबला कर सकें। हमारे सामने मुख्य सवाल यह नहीं है कि हमारे पत्रों की ग्राहक संख्या किस तरह लाखों पर पहुँचे बल्कि यह है कि बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी और गणेशशंकर विद्यार्थी के आदर्शों की सेवा हम किस प्रकार कर सकते हैं। उस समय हमने लिखा था कि जब हिन्दी पत्रकारों की परीक्षा का समय आयेगा, उस समय मुख्य प्रश्न ये होंगे—

1. हिन्दी पत्रकारों ने कौन-कौन से उच्च आदर्श पत्रकार जगत के लिए उपस्थित किये हैं ?
2. इस भूमि के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों या श्रेणियों में पारस्परिक सौहार्द स्थापित करने के लिए उन्होंने क्या-क्या प्रयत्न किये हैं ? अन्तर्प्रान्तीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय एकता के लिए क्या-क्या कोशिशें की हैं ?
3. और सबसे अधिक आवश्यक यह है कि हिन्दी पत्रकारों ने नवीन सामाजिक व्यवस्था लाने के लिए, जिससे इस महादेश के ग़रीब किसान और मज़दूर भरा-पूरा जीवन व्यतीत कर सकें, क्या-क्या उद्योग किये हैं ?

जब अक्टूबर, 1950 में दिल्ली में प्रथम श्रमजीवी पत्रकार सम्मेलन हुआ तो उसमें मैं सम्मिलित हुआ और भाग लिया साथ ही विंध्य प्रदेश पत्रकार संघ की स्थापना की जिसका मैं अध्यक्ष हुआ और उसके प्रतिनिधि के नाते 1952 में कलकत्ते में होने वाले भारतीय श्रमजीवी पत्रकार संघ के अधिवेशन में मैंने भाग लिया। मैं पत्रकार संघ की कार्यकारिणी का भी सदस्य रहा और 1955 में मद्रास में जो अधिवेशन हुआ उसका अध्यक्ष चुना गया। 1955 में ही प्रेस आयोग की सिफ़ारिशों को कार्यान्वित किया गया और श्रमजीवी पत्रकार विधेयक पारित हुआ जिसमें वेतन मण्डल बनाने की व्यवस्था थी।

मेरे इस दृष्टिकोण को देखते हुए यह एक संयोग ही था कि संसद में जब श्रमजीवी पत्रकारों की काम की शर्तों में सुधार करने वाला बिल पेश हुआ, उस समय संगठन का अध्यक्ष मैं ही था, परन्तु उस बिल

के पक्ष में सदस्यों को लाने का सारा श्रेय हमारे महासचिव श्री सी० राघवन और भूतपूर्व महासचिव जगदीश जी को ही था। इसमें सन्देह नहीं कि बिल के पास हो जाने पर पत्रकारों की स्थिति काफ़ी सुदृढ़ हो गयी है और उन्हें आसानी से निकाला नहीं जा सकता; पर ध्येयवादी पत्रकारों के मार्ग में कंटक रहे हैं और यह बात भूलने की नहीं है कि स्वर्गीय श्री के० रामाराव को 28 पत्रों में काम करना पड़ा था और जगदीश जी को 22 में। उस विधेयक के पास होने में तत्कालीन सूचना मंत्री डॉ० बालकृष्ण केसकर ने बड़ी मदद की थी। खेद की बात यह है कि हम लोग डॉ० केसकर की सहायता को भूल चुके हैं।

यद्यपि पत्रकारों के अनेक प्रश्न हल हो चुके हैं तथापि कितने ही रचनात्मक काम करने के लिए पड़े हुए हैं। अभी तक हम लोग एक अच्छा सर्वांगीण पत्रकार विद्यालय भी क़ायम नहीं कर सके हैं। कोई केन्द्रीय पुस्तकालय भी ऐसा नहीं, जहाँ सब संदर्भ ग्रन्थ मिल सकें। हैदराबाद (दक्षिण) में श्री बेंकट लाल ओझा का समाचार-पत्र संग्रहालय विद्यमान है। उन्होंने बड़े परिश्रम व अपनी पूँजी लगाकर इस संग्रहालय की स्थापना की है। उन्हें मेरा भी सहयोग प्राप्त होता रहा है, यद्यपि सारा श्रेय उनकी निष्ठा व परिश्रम को है। उत्तरभारत में इसी प्रकार का एक संग्रहालय होना चाहिए। कुछ छुटपुट काम तो हम लोग व्यक्तिगत तौर पर कर ही सकते हैं—यथा श्रमजीवी पत्रकार संगठन का इतिहास, देश-विदेश के सर्वश्रेष्ठ पत्रकारों के जीवन-चरित और पत्रकारिता-सम्बन्धी विशेषांकों का सम्पादन। मैंने अनेक पत्रकारों के रेखाचित्र प्रस्तुत किये थे—जैसे सी० पी० स्काट, नेबिन्सन, एस० जी० गार्डनर, लार्ड नार्थक्लिफ़, रामानन्द बाबू, गणेशशंकर विद्यार्थी, सी० वाई० चिन्तामणि इत्यादि।

13

मेरे त्याग-पत्र

मैंने अपने क्षुद्र जीवन में अनेक बार त्याग-पत्र दिये। लगी-लगायी नौकरी छोड़ दी थी—और इस कारण कुटुम्बियों तथा अधीनस्थों के जीवन को संकट में डाल दिया था। अपनी उन सनकों पर आज जब मैं विचार करता हूँ तो मुझे आश्चर्य के अलावा पछतावा भी होता है। भले ही वे इस्तीफ़े अपनी स्वाधीनता के लिये दिये गये हों पर एक सद्गृहस्थ की दृष्टि से वे अक्षम्य ही माने जायेंगे।

जब महामना मालवीय जी को मैंने बतलाया कि गुजरात नेशनल कॉलेज की नौकरी चरखे में श्रद्धा न होने के कारण मैंने छोड़ दी थी, तो उन्होंने बड़े स्नेहपूर्वक कहा था, "यह तुमने ठीक नहीं किया।"

मुझे वे दिन अब भी याद हैं जबकि हमारे पूज्य पिताजी अख़बारों की रद्दी बाज़ार ले जाकर दो-तीन रुपये ले आते थे। उस समय यही स्थायी आमदनी थी। स्वतंत्र-पत्रकारिता की आकाश-वृत्ति से 40-50 रुपये मिल जाते थे जिसमें 25-30 रुपये मासिक 'लीडर' से मिलते थे। स्व० सी० वाई० चिन्तामणि जी मेरे पाँच कालम के लेख प्रतिमास छाप देते थे और 6 रुपये प्रति कॉलम मुझे मिलता था। एक बार श्रीमती सरोजिनी नायडू ने मुझसे पूछा था, "अपनी जीविका के लिए आप क्या कर रहे हैं?" मैंने कहा, "फ्रीलांस जर्नलिज़्म (स्वतन्त्र पत्रकारिता)।" इस पर उन्होंने तुरन्त ही कहा, "भूखों मरने की तैयारी क्यों कर रहे हो?"

महात्मा गांधी जी ने भारत सेवक समिति के सदस्य सदाशिव गोविन्द बझे, एडीटर 'सर्वेण्ट ऑफ इण्डिया' को लिखा था, "बनारसीदास हैज़ अननसेसरली इम्पोवेरिश्ड हिमसेल्फ़।" (यानी बनारसीदास ने फ़िज़ूल ही में अपने को ग़रीब बना लिया है।)

अब मैं यह अनुभव करता हूँ कि जब-जब मैंने त्याग-पत्र दिये उनके पूर्व भविष्य में आने वाले ख़तरों का ख़्याल नहीं किया। वाणी अथवा क़लम की स्वाधीनता एक बहुत महँगी चीज़ है जिसकी प्राप्ति मेरे जैसे साधारण स्थिति के व्यक्ति के लिए यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। गुजरात विद्यापीठ से त्याग-पत्र देते समय मैंने यह कारण लिखा था कि चरखे में अपनी श्रद्धा न होने के कारण मैं त्याग-पत्र दे रहा हूँ। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि महात्मा जी चरखे को सबसे ज़्यादा महत्त्व देते थे। गुजरात विद्यापीठ के प्रत्येक अध्यापक के लिए चरख़ा कातना अनिवार्य था। मैं चरख़ा कातता नहीं था क्योंकि उसमें मेरा मन नहीं लगता था। रुई के धागे के बार-बार टूट जाने से मैं उद्विग्न हो जाता था। एक बार महात्मा गांधी गुजरात विद्यापीठ में पधारने वाले थे। वह विद्यापीठ के कुलपति थे और आचार्य गिडवानी जी हमारे

प्रिंसिपल। प्रदर्शन के लिए विद्यापीठ के सभी प्रोफ़ेसर चरख़ा लेकर कातने लगे। उस समय आचार्य गिडवानी जी ने मुझसे कहा कि आप कातना तो जानते नहीं, इसलिए रुई धुनने के लिए एक कमरे में बैठ जाइये। मैंने ऐसा ही किया और रुई धुनने लगा। अकस्मात् महात्मा जी मेरे कमरे में ही आ गये और कहा, "पिंजड़ करो छो।" यानी, रुई धुन रहे हो। मैंने कह दिया, "हाँ" पर मैं रुई भी कभी धुनता न था इसलिए मेरी अन्तरात्मा ने मुझे धिक्कारा, 'यह तो बापू को धोखा देना है।'

जिस दिन विद्यापीठ में महात्मा जी की प्रधानता में पदवीदान समारोह (उपाधि वितरण, दीक्षान्त समारोह) होने को था, मैं प्रातःकाल स्नान करके साबरमती आश्रम से मील-डेढ़ मील चलकर विद्यापीठ में गया। उस समय मैंने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी कि आज मेरे भाग्य का निर्णायक दिवस है। महात्मा जी ने अपने दीक्षान्त भाषण में कहा था, "जिनका चरख़े में विश्वास नहीं, यह विद्यापीठ उनके लिए नहीं है।" बापू इस प्रकार की बात प्रायः कहा करते थे। श्रोता एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देते थे। पर उस दिन मेरा दिमाग ताज़ा था और आत्मा संवेदनशील। हम सब अध्यापक श्रोताओं के बीच में बैठे थे, मैंने जेब से पेन निकालकर एक काग़ज़ पर तीन-चार पंक्तियों में अपना त्याग-पत्र लिख दिया। त्याग-पत्र के शब्द ये थे—

श्रीमान कुलपति, गुजरात विद्यापीठ,

चरख़े में श्रद्धा न होने के कारण मैं विद्यालय में अपने पद से त्याग-पत्र देता हूँ। मैं समझता हूँ कि विद्यालय के लिए तथा मेरे आत्मिक स्वास्थ्य के लिए यह हितकर होगा।

14-1-24, अहमदाबाद। —बनारसीदास चतुर्वेदी

जब बापू का दीक्षान्त भाषण समाप्त हुआ और विद्यापीठ के आचार्य तथा अध्यापकों के साथ बापू बैठे तो मैंने अपना चार पंक्तियों का वह इस्तीफ़ा उन्हें दे दिया। बापू ने उसे पढ़कर उपस्थित अध्यापकों से कहा, "जो काम बनारसीदास ने किया है, मैं उसकी प्रशंसा करता हूँ और आप लोगों में से किसी का विश्वास चरख़े में न हो, तो उसे भी बनारसीदास का अनुकरण करना चाहिए।" कृपलानी जी उस समय मेरे प्रधान थे। समारोह के बाद बापू आश्रम आने के लिए कार में बैठने को थे ही, कि मैंने निवेदन किया कि मैं भी साथ चलूँगा। बापू ने कहा, "चलिए।" बैठने के बाद मैंने बापू से कहा, "आपके चरख़े के बारे में एक अन्ध-विश्वास पैदा हो गया है और कितने ही लोग यह ख़्याल करने लगे हैं कि जो चरख़ा नहीं कात सकता वह कुछ भी त्याग और बलिदान नहीं कर सकता। मौक़ा आने पर मैं किसी मामूली चरख़ा कातने वाले से पीछे नहीं रहूँगा।" बापू ने अत्यन्त धैर्यपूर्वक मेरी बात सुनी और कहा, "तुम्हारी गुजरात विद्यापीठ की नौकरी छूट गयी तो कोई चिन्ता की बात नहीं। मैं आश्रम से तुम्हारे वेतन का प्रबन्ध कर दूँगा। जैसे पहले काम करते थे वैसे ही करते रहना।" बापू की तत्कालीन उदारता पर जितना ही मैं ध्यान देता हूँ उतना ही उनकी प्रशंसा करनी पड़ती है। चरख़े पर अश्रद्धा करके मैंने उनके मर्मस्थल पर चोट की थी पर वह अत्यंत धैर्यवान थे। मेरी बचकानी धृष्टता को उन्होंने सहर्ष सहन कर लिया और कहा, "घरवालों को इस बात की सूचना भी नहीं भेजनी चाहिए कि तुमने इस्तीफ़ा दे दिया है।"

साबरमती में मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था, वहाँ का पानी ख़राब था। मैंने नियमानुसार टहलना बन्द कर दिया था इसलिए पाचन-क्रिया पर भी असर पड़ा था। मैंने आश्रम छोड़ देने का निश्चय कर

लिया । उन दिनों गुजरात विद्यापीठ से 130 रुपये मासिक वेतन मिलता था और रहने के लिए मकान भी। इनके अतिरिक्त 250 रुपये प्रवासी भारतीयों के कार्य के लिए मिलते थे। इन सबको एक साथ छोड़ देना मेरे लिए एक अत्यन्त ख़तरनाक काम था । पूज्य माता-पिता जीवित थे। गृहस्थी का पूरा-पूरा भार मुझ पर था। गुजरात नेशनल कॉलेज की नौकरी मैंने 14 जनवरी, सन् 1924 को छोड़ी थी । 'विशाल भारत' का काम मुझे पहली नवम्बर सन् 1927 को मिला था, क्योंकि 'विशाल भारत' जनवरी सन् 1928 से प्रारम्भ होने वाला था। इस प्रकार लगभग तीन वर्ष तक मुझे संघर्ष करना पड़ा। इस बीच पाँच-छः महीने भाई हरिशंकर जी शर्मा के साथ 'आर्य मित्र' का सहकारी सम्पादक रहा और आधे दिन काम करने के मुझे पचास रुपये मासिक मिलते थे। भोजन इत्यादि का प्रबन्ध तो भाई हरिशंकर जी के साथ था। उन्होंने मुझे अपना छोटा भाई समझा और अग्रज की भाँति ही व्यवहार करते रहे। 21 रोज़ के लिए सन् 1927 में मैं इलाहाबाद के दैनिक 'अभ्युदय' का भी सम्पादक रहा। पर दैनिक का कार्य मेरे लिए अत्यन्त कठिन था और मुझे वह छोड़ देना पड़ा। महामना मालवीय उन दिनों बीमार थे। उनके सुपुत्र भाई पद्मकान्त जी उन दिनों 17-18 वर्ष के ही रहे होंगे, फिर भी वह अच्छा लिख लेते थे। भाषा उनकी साफ़-सुथरी थी। एक बार मैंने पद्मकान्त का एक लेख पूज्य बड़े मालवीय जी को दिखाकर उसकी प्रशंसा की तो उन्होंने कहा, "अत्युक्तिमय प्रशंसा करके कहीं बच्चे का दिमाग़ ख़राब मत कर देना।" जैसा कि मैं लिख चुका हूँ कि मैंने 'अभ्युदय' का काम कुल इक्कीस दिन ही किया, इस बीच प्रयाग से ही श्री मंज़र अली सोख़्ता ने 'विवेक' नामक एक साप्ताहिक पत्र निकाला था। वह उसका सम्पादक मुझे बनाना चाहते थे। मैं इलाहाबाद गया भी था पर मैंने उनसे स्पष्ट कह दिया कि मैं चुनाव आंदोलन में भाग नहीं लूँगा और 'विवेक' को भी उसमें नहीं पड़ने दूँगा।

उन दिनों पं० हृदयनाथ कुंजरू इलाहाबाद में ही रह रहे थे। जब मैं उनसे मिला और मैंने अपने चुनाव में न पड़ने का निश्चय बताया तो वह हँसकर बोले, "आप भी अजीब आदमी हैं। मैंने सुना है कि सोख़्ता जी पण्डित मोतीलाल नेहरू से रुपया लेकर पत्र निकाल रहे हैं, इसलिए वह पण्डित जी की पार्टी का समर्थन चुनाव में करेंगे ही। वह आपको 'विवेक' में इतनी स्वाधीनता कैसे दे सकते हैं?" मैं सोख़्ता जी से क्षमा माँगकर चला आया। हाँ, दोनों ओर का थर्ड क्लास का किराया उन्होंने मुझे अवश्य दे दिया था।

मैं 400 रुपये मासिक पर गांधी भवन, टीकमगढ़ का संचालक था। रहने के लिए मुझे महल भी मिला हुआ था। जब मेरे अनुरोध पर विंध्य प्रदेश सरकार ने बेसिक ट्रेनिंग कॉलेज कुण्डेश्वर में क़ायम कर दिया था तो मैंने संचालक पद से त्याग-पत्र दे दिया। त्याग-पत्र में मैंने लिखा था, "चूँकि मैं शिक्षा-विशेषज्ञ नहीं हूँ इसलिए अपने पद से त्याग-पत्र देता हूँ।" इस प्रकार मैं पुनः आर्थिक संकट में पड़ गया था। सन् 1925 से 27 के आर्थिक संकट के दिनों में स्वर्गीय बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने मुझे सात महीने तक 50 रुपये मासिक की सहायता भेजी थी। उन्होंने यह लिख दिया था कि जब तक आपको कोई नौकरी नहीं मिलेगी तब तक 50 रुपये महीने बराबर पहुँचते रहेंगे। चूँकि मेरे पास कलकत्ते जाने के लिए किराये के पैसे भी न थे, इसलिए स्वर्गीय गुप्त जी से ही 50 रुपये मँगाए। यह बात मुझे बाद में मालूम हुई थी कि गुप्त जी ने 'आज' के सम्पादक श्रद्धेय पराड़कर जी तथा श्री प्रकाशचन्द्र जी के कहने से मेरी यह आर्थिक सहायता की थी। इस प्रकार दैवयोग से संकट के दिनों में मुझे सहायक निरन्तर मिलते रहे। यहाँ मैं श्रद्धा-पूर्वक भाई सीताराम जी सेकसरिया, भाई भागीरथ कनोड़िया, श्री सोहन लाल जी पचीसिया, और सर्वोपरि महाराज वीरसिंह जूदेव का स्मरण करता हूँ। सौभाग्य से मेरे वे कष्ट के दिन कट गये, पर उनकी याद कभी-कभी आ जाती है। एक बार तो साग-तरकारी के लिए एक आने का दही मँगाने के लिए भी पैसे घर में नहीं थे।

14

फीरोज़ाबाद में

मेरे जीवन के 91 वर्ष बीत रहे हैं जिनमें केवल 35-36 वर्ष ही फीरोज़ाबाद में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। स्व-स्थान प्रेम (या लोकल पैट्रियाटिज़्म) पर मैंने काफ़ी लिखा है। "हमारा नगर कैसे स्वस्थ और सुन्दर बन सकता है—इस विषय पर मेरा एक भाषण एस० आर० के० हाईस्कूल में 1937 में हुआ था और उसकी 1000 प्रतियाँ सैनिक प्रेस में छपवाकर मैंने बंटवा दी थीं। पिछले 46 वर्षों में बीसियोंही लेख अपने नगर के बारे में लिखे हैं। यहाँ मैं कृतज्ञतापूर्वक यह स्वीकार करता हूँ कि मुझे स्थानीय शिक्षक संस्थाओं से भरपूर सहयोग निरन्तर मिलता रहा है। मेरे अनुरोध पर इस्लामिया कॉलेज ने फीरोज़ाबाद अंक और क़िदवई अंक निकाले थे। डी० ए० वी० कॉलेज ने श्रीधर पाठक और हरिशंकर अंक निकाले। पी० डी० जैन कॉलेज ने फीरोज़ाबाद जनपद अंक, स्वच्छता अंक और हज़ारीलाल जैन अंकों का प्रकाशन किया और तिलक कॉलेज ने रामचन्द्र पालीवाल अंक का। इसके सिवाय कोटला कॉलेज ने भी मेरे सम्पादन में कोटला जनपद अंक छपवाया था। 'अमर उजाला' तो बराबर मेरे फीरोज़ाबाद-सम्बन्धी लेख छापता रहा है।

फीरोज़ाबाद एक उद्योग प्रधान नगर है। यहाँ की आबादी 14 हज़ार से बढ़कर पौने तीन लाख तक पहुँच चुकी है और औद्योगिकता की बुराइयों ने स्थायी रूप से अपने डेरे यहाँ डाल लिये हैं। कहते हैं कि यहाँ चोर-बाज़ारी का अड्डा है। यहाँ सैकड़ों लखपति हैं और एक-दो करोड़पति भी। इतने साधन-सम्पन्न नगर में फीरोज़ाबाद का 'भारती भवन', जिसकी स्थापना 70 वर्ष पहले हुई थी, दयनीय स्थिति में चल रहा है। उसके संस्थापक श्री द्वारिका प्रसाद सेवक का स्वर्गवास अभी हाल में कोई चार वर्ष पहले बम्बई में हुआ था। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि स्थानीय नगरपालिका से बहुत कम सहायता मिलती रही है और वह भी बीच में बहुत दिन बन्द रही थी।

अन्य साहित्यिक संस्थाओं में मानसरोवर साहित्य संगम ही क्रियाशील है। वैसे मनीषा, हिन्दी साहित्य परिषद, गीतिका, उद्‌गम तथा युवा क्रान्तिकारी परिषद आदि संस्थाएँ भी कुछ न कुछ करती ही रहती हैं। मेरी प्रेरणा पर पी० डी० कॉलेज ने एक अतिथि गृह, शास्त्री कक्ष के नाम से बनवा दिया था जो आगन्तुक साहित्यकारों के लिए सुविधाप्रद सिद्ध हुआ है। यहाँ पर समय-समय पर ब्रज साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन भी हो चुके हैं। पर अभी तक हम लोग कोई ठोस काम करने वाली संस्था स्थापित नहीं कर सके हैं।

साप्ताहिक पत्र 'फीरोज़ाबाद सन्देश', 'युग परिवर्तन', और 'अमर जवाहर' उपयोगी कार्य करते ही रहते हैं। 'फीरोज़ाबाद सन्देश' ने कई विशेषांक भी निकाले थे जैसे तोताराम सनाढ्य शताब्दी विशेषांक। डी० ए० वी० कॉलेज ने अपनी पत्रिका 'ज्योत्स्ना' का नगर समाजसेवी अंक प्रकाशित कर अनेक दिवंगत कार्यकर्ताओं का नाम उजागर कर श्रद्धांजलि अर्पित की थी।

यहाँ बच्चों का एक पार्क बनवाने के लिए मैं अनेक बार लिख चुका हूँ। सेठ विमल कुमार जैन ने मेरे निवास स्थान पर पधारकर पार्क बनवाने का वचन भी दिया था पर वह व्यस्तता के कारण अपने वचन का पालन अभी तक नहीं कर सके हैं।

कितने ही बाहर के लोग यहाँ पधारते हैं और काफ़ी चन्दा कर ले जाते हैं। यदि यहाँ के साधन-सम्पन्न व्यक्ति चाहें तो यहाँ से एक सशक्त साप्ताहिक पत्र भी निकाला जा सकता है।

फीरोज़ाबाद में विद्यार्थियों की संख्या बीस हज़ार तो होगी ही और फीरोज़ाबाद तहसील में पाँच हज़ार से कम ग्रेजुएट न होंगे। फिर भी इस नगर में अस्वच्छता का साम्राज्य है।

समय-समय पर यहाँ के साधन-सम्पन्न व्यक्तियों से मुझे जो सहायता मिली है उसके लिए मैं उनका बहुत-बहुत कृतज्ञ हूँ। सबसे अधिक मदद मुझे भाई बालकृष्ण जी गुप्त से मिली है। मेरे उनके सम्बन्ध अब इतने घरेलू हो चुके हैं कि अब मैं उन्हें धन्यवाद देने की धृष्टता नहीं कर सकता। वह प्रति वर्ष मेरा जन्म दिवस मनाकर मुझे अनुचित महत्त्व देते रहे हैं। उनके अतिरिक्त श्री चन्द्रकुमार जैन और श्री चन्द्र भानु जी मित्तल ने भी आर्थिक सहायता की है।

मेरे साहित्यिक सहायकों में स्वर्गीय गणेशलाल शर्मा प्राणेश, भाई रतनलाल जी बंसल, कुसुमाकर जी, हकीमुद्दीन फ़हीम, स्वर्गीय राजेन्द्रनाथ शर्मा तथा भाई डॉ० मथुराप्रसाद मानव के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री भाई जगन्नाथ लहरी तथा भाई जगदीश मृदुल का सहयोग तो मुझे बराबर मिलता ही रहता है। श्री मानव जी तो तीन-चार वर्ष से नित्य प्रति मेरे कार्य में निःस्वार्थ सहयोग प्रदान कर रहे हैं और डेढ़-दो घण्टा नित्य मुझे देते हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि हम फीरोज़ाबाद के भविष्य के बारे में एक भारी-भरकम सचित्र ग्रन्थ निकालें। साधनहीन होने पर भी भाई प्राणेश जी ने मेरी प्रार्थना पर फीरोज़ाबाद परिचय ग्रन्थ निकाल दिया था, जो अपने ढंग की एक अनूठी पुस्तक है।

मेरे जीवन के बाईस वर्ष प्रवासी भारतीयों के कार्य में बीते और पिछले पैंतीस वर्षों से मैं शहीदों का श्राद्ध करता रहा हूँ पर अपने नगर के लिए जमकर साल दो साल नहीं बिता सका, इसका मुझे सदैव पछतावा रहेगा। अपने जीवन के शेष दिनों में मैं कुछ सेवा इस नगर की करना चाहता हूँ। यद्यपि अब उतनी शक्ति बाक़ी नहीं बची है, फिर भी मैं निराश नहीं हूँ।

ज़रूरत इस बात की है कि कराची के जमशेद जी, लखनऊ के गंगाप्रसाद वर्मा, मैनपुरी के हेमचन्द्र चतुर्वेदी और हमारे नगर के स्वर्गीय हज़ारीलाल जैन के जीवन के दृष्टान्त हमारे युवकों के सामने रखे जावें।

15

मेरे द्वारा की गई समीक्षाएँ

'विशाल भारत' के दस वर्षों में तथा 'मधुकर' के छह वर्षों में मैंने कुछ पुस्तकों तथा लेखों की आलोचना स्वयं की थी जिसमें दो लेख निराला जी के थे तथा एक कहानी प्रसाद जी की थी। कुछ ग्रन्थों की समीक्षा भी मेरे द्वारा हुई थी। जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, हिन्दी साहित्य का विधिवत् अध्ययन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ। मेरी आलोचनाएँ केवल एक साधारण पाठक की दृष्टि से ही की गयी थीं। एक सज्जन ने उन आलोचनाओं की, जो मैंने निराला जी के लेखों की की थी, घोर निन्दा की थी। उन्होंने निराला जी के उन लेखों को उद्धृत करने की शिष्टता नहीं दिखायी। निराला जी के 'वर्तमान धर्म' नामक लेख के विषय में स्व० पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा था: "यह विक्षिप्त का बर्राना है और पागल का प्रलाप।"

'दुलारे दोहावली' के एक दोहे के जो आठ अर्थ निराला जी ने किये थे, वह भी बिल्कुल ऊल-जुलूल थे। अब यह सभी जानते हैं कि निराला जी के मस्तिष्क में कुछ विकार आ गया था। पर जिन दिनों 'वर्तमान धर्म' छपा था, मुझे इस बात का पता न था। केवल दो अंकों में वर्तमान धर्म पर आन्दोलनात्मक पत्र छपे। तीसरे अंक में जब मुझे निराला जी की अस्वस्थता का पता लगा तब मैंने आन्दोलन बन्द कर दिया। निराला जी निस्सन्देह क्रान्तिकारी कवि थे। 'विशाल भारत' में उनकी कविताओं पर प्रशंसात्मक लेख भी मैंने छापे थे। अपने द्वारा संचालित तथा संस्थापित हिन्दी भवन में निराला जी का तैलचित्र भी मैंने टँगवाया था। जब श्री किशोरीदास जी वाजपेयी हिन्दी भवन में पधारे तो श्री निराला जी का चित्र देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ था। उन्होंने मुझसे पूछा भी था, "यह कैसे हुआ?" मैंने तभी उनसे निवेदन किया था, "मैं निराला जी के संघर्षमय साहित्यिक जीवन का प्रशंसक हूँ।"

मैंने अपने जीवन में कुल जमा 25-30 हिन्दी और अंग्रेज़ी क़िताबों की समीक्षा की होगी, जिनमें कुछ क़िताबों को तो मैंने ख़रीद कर पढ़ा था, जैसे रंधावा साहब की 'ब्यूटीफ़ाइंग इण्डिया' और धीरेन भाई की समग्र ग्रामसेवा की ओर'। मेरा यह निश्चित मत है कि सम्पादकों को सद्ग्रन्थों को ख़रीदकर उसकी आलोचना करनी ओर करानी चाहिए। जब स्व० रामानन्द चटर्जी ने 'विशाल भारत' का काम मुझे सौंपा था, उन्होंने केवल एक बात मुझसे कही थी, "किसी लेखक की रचना पर लिखते हुए यह मत लिखना कि उसने किसी भीतरी उद्देश्य से यह काम किया है।" मैंने बड़े बाबू की इस बात को सदैव ध्यान में रखा।

16

पिछले इकहत्तर वर्ष

मेरा प्रथम लेख 'आत्मावलम्बन' सन् 1912 के 'नवजीवन' के मार्च-जून के अंक में छपा था। पत्र के सम्पादक थे स्व० केशवदेव जी शास्त्री, जिनको लोग अब बिल्कुल भूल चुके हैं। मैंने उनके विषय में एक पुस्तिका भी लिखी थी जिसका नाम था, 'अमेरिका में केशवदेव शास्त्री'। मैंने उनके दर्शन फीरोज़ाबाद में किये थे, जब वह आर्य समाज के एक उत्सव में पधारे थे। पुस्तक को उनके भक्त श्री द्वारिकाप्रसाद जी सेवक ने छपवाया था। उस पुस्तक की भूमिका पण्डित रामनारायण मिश्र ने लिखी थी। स्व० सत्यदेव परिव्राजक के आत्म-चरित में केशवदेव शास्त्री के प्रारम्भिक जीवन का उल्लेख है जिससे पता चलता है कि वह पहले क्रान्तिकारी रह चुके थे। शास्त्री जी का 'नवजीवन' सात्विक विचारों का एक पत्र था। खेद है कि उसकी पुरानी फ़ाइलें भी अब अप्राप्त हो गयी हैं।

सन् 1912 से लेकर 1981 तक, यानी पिछले 70 वर्षों में मुझे हिन्दी तथा अंग्रेज़ी के अनेक पत्रकारों तथा सम्पादकों के निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उर्दू के एक पत्र 'ज़माना' के सम्पादक स्व० मुंशी दयानारायण निगम के दर्शन मैंने किये थे और उनसे पत्र-व्यवहार भी मैंने किया था। 'स्वराज्य' उर्दू के संस्थापक और सम्पादक शान्तिनारायण भटनागर ने स्वयं मेरे स्थान पर पधार कर दर्शन दिये थे। इसके सिवाय उर्दू के पितामह मौलवी हक साहब से मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था और उनके 30-35 महत्त्वपूर्ण पत्र मेरे पास सुरक्षित थे।

हमें किसी भाषा विशेष से द्वेष नहीं करना है। पिछले 200 वर्षों में अंग्रेज़ी ने तो भारत की एक उपभाषा का रूप ही धारण कर लिया है। अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ी का आधिपत्य हमारे राष्ट्र के लिए अत्यन्त हानिकारक था पर विदेशी हुकूमत खत्म हो जाने के बाद अंग्रेज़ी एक सेविका के रूप में ही हमारे यहाँ रहनी चाहिए। एक बात ध्यान देने योग्य है कि अंग्रेज़ी हुकूमत के चले जाने पर अंग्रेज़ियत भारतवर्ष में बहुत बढ़ गयी है।

पत्रकारिता एक अन्तर्राष्ट्रीय विषय है और विदेशों में जो सर्वश्रेष्ठ पत्रकार हुए हैं उनकी रचनाओं का हमें अध्ययन करना चाहिए और सम्मान भी। मैंने स्वयं सम्पादकाचार्य सी० पी० स्कॉट, नेविन्सन, लार्ड नार्थक्लिफ़, ए० जी० गार्डनर इत्यादि पर रेखाचित्र प्रस्तुत किये हैं। अमेरिका के विलियम लायड गैरीसन ने महात्मा गांधी से भी पहले अहिंसा का प्रतिपादन किया था।

भारत में रामानन्द चट्टोपाध्याय, सी० वाई० चिन्तामणि, सैयद अब्दुल्ला बरेलवी, के० नटराजन इत्यादि के नाम प्रसिद्ध ही हैं और मद्रास का दैनिक 'हिन्दू' तो हमारे देश का सर्वश्रेष्ठ पत्र माना जाता है। 'लीडर' के कृष्णाराम मेहता और विश्वनाथप्रसाद जी व नारायण प्रसाद चतुर्वेदी भी सुयोग्य पत्रकार थे। इनमें रामानन्द बाबू, चिन्तामणि, कृष्णाराम मेहता से मेरा विशेष सम्बन्ध रहा है।

हिन्दी पत्रकार कला पर कई शोध-ग्रन्थ प्रस्तुत किये गये हैं पर जहाँ तक मैं जानता हूँ अखिल भारतीय पत्रकार कला पर कोई शोध नहीं किया गया।

हमारे देश में कृतज्ञता का प्रायः अभाव ही है। चिन्तामणि जी की गणना उत्तर प्रदेश के निर्माताओं में होती है पर हम उत्तर प्रदेश वालों ने उनकी स्मृति-रक्षा के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं किया। उनका कोई जीवन-चरित भी नहीं छपा। हाँ, रामानन्द बाबू की सुपुत्री श्रीमती शान्तादेवी नाग ने अपने पूज्य पिता जी का जीवन-चरित बंगला में अवश्य लिखा था और मेरे द्वारा एक ग्रन्थ अंग्रेज़ी में उन पर छपा है। 'विश्व भारती' ने भी रामानन्द अंक निकाला था। आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय पत्रकार विद्यालयों की लाइब्रेरी में भारत की सभी भाषाओं के पत्रकारों के चित्र और चरित्र हों। खेद की बात है कि पुराने पत्रों की फ़ाइलें भी अप्राप्य होती जा रही हैं। पं० सुन्दरलाल जी के 'कर्मयोगी' तथा 'भविष्य' के अंक अब नहीं मिलते। 'भारत मित्र' की पुरानी फ़ाइलें एक सज्जन ने रद्दी में बेच दीं। 'प्रताप' की कुछ फ़ाइलें ही मिलती हैं। हाँ, नेहरू म्यूज़ियम ने कई पत्रों की पुरानी फ़ाइलों की माइक्रो फिल्म बनवा ली गयी है। स्व० बालकृष्ण भट्ट के हिन्दी 'प्रदीप' के अंक इसी प्रकार सुरक्षित हो गये। पं० झाबरमल शर्मा ने भी अपने संग्रहालय में 'कलकत्ता-समाचार' और 'हिन्दू-संसार' को सुरक्षित कर लिया था। कुछ पत्र बन्धुवर श्रीनारायण चतुर्वेदी ने भी सुरक्षित कर लिये हैं।

पुराने पत्रों की रक्षा का कार्य जनपदीय ढँग पर शुरू होना चाहिए। उदाहरणार्थ, कुमायूँ और गढ़वाल में जहाँ कहीं भी पुराने पत्र मिलें, उनकी माइक्रो फिल्म ले लेनी चाहिए। स्व० बद्रीदत्त पांडे का जीवन-चरित मैंने छपा दिया था। श्रद्धेय मुकन्दीलाल जी बैरिस्टर के संग्रहालय में भी कुछ पत्र मिले थे। पुराने पत्रों, कागज़ातों और दस्तावेज़ों की नक़ल का काम इतना महत्त्वपूर्ण और कठिन है कि उसे एक-दो आदमी नहीं कर सकते। उसे तो सरकार द्वारा ही कराया जा सकता है। सौभाग्य से हमारे बीच में ऐसे व्यक्ति विद्यमान हैं जो आवश्यक परामर्श दे सकते हैं, जैसे राणा जंगबहादुरसिंह, जो मौलाना मुहम्मद अली तथा कालीनाथ राय के बारे में अधिकारपूर्वक कह सकते हैं। उनके अनुज स्व० पृथ्वीपालसिंह तो भारत में पत्रकार विद्यालयों के संस्थापक थे।

हिन्दी पत्रकारों के विषय में मेरे द्वारा कुछ सेवा अवश्य हुई है। गणेश जी पर मैंने कई ग्रन्थ निकलवाये हैं और आचार्य पं० पद्मसिंह जी शर्मा पर दो-तीन ग्रन्थ। 'रामराज्य' (कानपुर) तथा 'मधुकर' के पत्रकार अंक भी मैंने निकाले थे।

मुझ यह देखकर खेद होता है कि अंग्रेज़ी के पत्र देशी भाषाओं के पत्रों को महत्त्व नहीं देते। 'लीडर' के चिन्तामणि जी इस विषय में एक अपवाद थे। वह जानते थे कि भविष्य में देशी भाषा के पत्र ही अधिक प्रभावशाली होंगे। उन्होंने आग्रह करके मुझसे अनेक लेख 'लीडर' के लिए लिखवाये थे। वे लेख हिन्दी पत्रकारों और हिन्दी पत्रकारिता के विषय में थे। स्वतंत्र पत्रकारिता का प्रयोग करने वाले पत्रकारों का जीवन समान रूप से संघर्षमय रहा है—चाहे वह चिन्तामणि हों, रामाराव, जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी या मैं स्वयं।

हमें सभी भाषाओं और उपभाषाओं के पत्रकारों का सम्मान करना है। छोटे-बड़े के भाव हमारे हृदय में हैं ही नहीं। पर चूँकि हमारी राजभाषा हिन्दी के बोलने और समझने वाले इस देश में 25-30 करोड़ हैं, इसलिए हम हिन्दी पत्रकारिता को अधिक महत्त्व देते हैं। जैसा काम श्री लक्ष्मीशंकर व्यास ने पराड़कर जी के लिए किया है वैसा ही अन्य प्रतिष्ठित पत्रकारों के लिए भी होना चाहिए। स्व० पं० रुद्रदत्त सम्पादकाचार्य धामपुर, बिजनौर के थे और उस जनपद के लेखकों का कर्त्तव्य है कि उनकी कीर्ति-रक्षा का प्रयत्न करें। हम स्व० पद्मकान्त जी मालवीय के संस्मरण भी न छपा सके। स्व० बाबू शिवप्रसाद जी गुप्त का कोई जीवन-चरित हिन्दी में नहीं है। स्व० श्रीप्रकाश जी को तो लोग भूल ही गये हैं।



संपादकाचार्य पण्डित रुद्रदत्त शर्मा

आर्य समाज इस विषय में सबसे बड़ा अपराधी है। उसने स्व० पं० पद्मसिंह जी, इन्द्रजी, वंशीधर विद्यालंकार, पं० सत्यदेव विद्यालंकार तथा पं० हरिशंकर जी शर्मा की कीर्ति-रक्षा के लिए कुछ भी नहीं किया। यदि उत्तर प्रदेश की सरकार कानपुर में एक बृहद पत्रकार विद्यालय की स्थापना करे और प्रचुर आर्थिक सहायता भी दे तो वहाँ एक पत्र संग्रहालय क़ायम कराया जा सकता है। भाई नरेशचन्द्र चतुर्वेदी ने हिन्दी पत्रकार भवन द्वारा कुछ प्रारम्भिक कार्य किया भी है। कानपुर विश्वविद्यालय के कुलपति श्री भक्तदर्शन जी ने भी कुछ प्रयत्न किया था पर गाड़ी आगे नहीं बढ़ी। एक पत्रकार विद्यालय आगरा विश्वविद्यालय द्वारा भी क़ायम किया जा सकता है।

17

वे क्षण जो भुलाए नहीं जा सकते

जीवन के कुछ क्षण ऐसे होते हैं जो स्मृति-पटल पर सदा-सर्वदा के लिए अंकित हो जाते हैं। किसी भी लेखक या पत्रकार का यह कर्त्तव्य है कि उन क्षणों को सुरक्षित कर ले। वे क्षण उसके जीवन की अमूल्य निधि हैं और समय-समय पर उनका स्मरण प्रेरणा प्रदान कर सकता है। स्वयं मेरे विस्तृत जीवन में ऐसे अनेक क्षण आये थे जिनकी याद मैं अक्सर कर लेता हूँ। उनमें से कुछ का विवरण इस प्रकार है—

सन् 1918 मेरे जीवन का एक निर्णायक वर्ष माना जा सकता है। इसी वर्ष क्रोपाटकिन का आत्म-चरित पढ़ने और महात्मा गांधी जी, प्रो० गिडीज, दीनबन्धु एण्ड्रूज़ और कवीन्द्र रवीन्द्र के दर्शन प्रथम बार करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मैं उन दिनों इन्दौर के राजकुमार कॉलेज में हिन्दी-अध्यापक था। एक दिन यों ही घूमते-घामते स्थानीय विक्टोरिया लाइब्रेरी में जा पहुँचा। मैं उसकी प्रबन्धकारिणी का सदस्य भी था। पुस्तकालय में पहुँचकर मैंने एक अलमारी खोली तो दो ज़िल्दों वाली एक पुस्तक दीख पड़ी—'मेमोयर्स ऑफ़ ए रिवोल्यूशनिस्ट' अर्थात् एक क्रान्तिकारी के संस्मरण। लेखक का नाम था—क्रोपाटकिन। यह नाम मैंने पहली बार ही पढ़ा था। पुस्तक की दोनों ज़िल्दें मैंने पढ़ने के लिए ले लीं। मुझे तब तक इस बात का पता न था कि वह ग्रन्थ 19वीं शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ आत्म-चरित माना जाता है। पुस्तक के प्रथम पाठ ने ही मेरी आत्मा को जकड़ लिया। मैंने स्वयं तो उसे पढा ही श्रद्धेय गणेशशंकर जी विद्यार्थी को भी पढ़ने के लिए भेज दिया और मेरे अनुरोध पर श्री प्यारे मोहन चतुर्वेदी ने उसका अनुवाद 'क्रान्तिकारी राजकुमार' के नाम से कर दिया। उसे 'प्रताप' कार्यालय ने छाप दिया। यह बात सन् 1918 की है। तब मैंने स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं की थी कि इसके इकतालीस वर्ष बाद मुझे रूस जाने का सौभाग्य प्राप्त होगा और क्रोपाटकिन की समाधि पर पुष्प चढ़ाने वाला मैं प्रथम भारतीय होऊँगा।

रूस पहुँचने पर मैंने अपने रूसी मित्रों से कहा, "मुझे क्रोपाटकिन के जन्म स्थान के दर्शन कराइए और मैं उनकी समाधि पर फूल चढ़ाने भी जाऊँगा।" मेरी इच्छा पैदल चलकर समाधि तक जाने की थी पर मेरे रूसी मेज़बानों ने कहा कि वह स्थान तो मास्को होटल से पाँच मील दूर है और वहाँ तक पैदल चलना बहुत कठिन होगा। इसलिए कार में ही जाना पड़ा। वह स्थल बड़ा भारी कब्रिस्तान है—अत्यन्त व्यवस्थित और उपवन का रूप धारण किये हुए। एक रूसी बुढ़िया उसकी निर्देशिका थी। प्रार्थना करने पर

उसने एक व्यक्ति हम लोगों के साथ कर दिया जिसने हमें कब्र तक पहुँचा दिया। दुभाषिये ने अंग्रेज़ी में कहा, "यही क्रोपाटकिन की समाधि है। मैं 18 रुपये में फूल ख़रीदकर अपने साथ लेता गया था। मैंने वे फूल बड़ी श्रद्धा से समाधि पर अर्पित कर दिये। दुभाषिए ने उस क्षण का एक चित्र भी ले लिया था।

वह चित्र मेरे अभिनन्दन ग्रन्थ में छपा भी है। आगे चलकर चि० बुद्धिप्रकाश ने क्रोपाटकिन के आत्म-चरित का अनुवाद किया था पर चूँकि वह उस समय सरकारी नौकर था इसलिए वह अनुवाद मेरे नाम से ही छपा था। क्रोपाटकिन के प्रति मेरे हृदय में महात्मा जी के समान ही उच्च स्थान था और अब भी है। निस्संदेह वह एक ऋषि थे और भावी संसार की समाज-व्यवस्था में कार्ल मार्क्स और गांधी जी के साथ उनके विचारों का भी उपयोग होगा। क्रोपाटकिन अनार्किस्ट (अराजकवादी) थे और महात्मा जी तथा उनके सिद्धान्तों में विचित्र साम्य भी पाया जाता है। यद्यपि दुर्भाग्यवश मैं 'कर्मणा' अराजकवादी न बन सका तथापि 'मनसा वाचा' उस सिद्धान्त के प्रति मेरी श्रद्धा अब भी है। अंग्रेज़ी की एक उक्ति है:

Go put thy creed
into thy deed
Not speak with double tongue.

अर्थात् अपने सिद्धान्त को कार्य रूप में परिणत करो, दुहरी ज़बान से मत बोलो। पर मेरे भाग्य में तो दुहरी ज़बान से बोलना ही बदा था। एक रूसी लेखक श्री वाइकोव ने मेरे मुँह पर ही कह दिया, "आप अराजक-वादी नहीं हो सकते।" मैंने पूछा, "क्यों?" वह तपाक से बोले, "क्या कोई अराजकवादी राज्य सभा का सदस्य बन सकता है?"

जब सन् 1952 में पटना में लोकनायक श्री जयप्रकाश जी ने मेरे राज्य सभा का सदस्य बनने की बात पढ़ी तो उन्होंने आश्चर्य से कहा, "यह क्या हुआ? चौबे जी तो अराजकवादी थे।" मेरे किसी मित्र ने जयप्रकाश जी की यह बात मुझे लिख भेजी। आगे चलकर मैंने एक पत्र में श्रद्धेय जयप्रकाश जी के सामने यह स्वीकार कर लिया था कि उन दिनों मैं टीकमगढ़ में बेकार बैठा हुआ था और बिना किसी प्रयत्न के मुझे राज्य सभा की मेम्बरी मिली तो मैं उसे अस्वीकार नहीं कर सका। श्रद्धेय जयप्रकाश जी बड़ी उदार प्रवृत्ति के थे। उन्होंने उत्तर में अपने पत्र में लिखा था, "आप जहाँ भी रहेंगे, हिन्दी का हित ही करेंगे।"

क्रोपाटकिन की समाधि पर पुष्पार्पण का वह क्षण मेरे जीवन की अविस्मरणीय घटना है।

18

मेरे द्वारा संचालित आंदोलन

प्रोपेगेण्डा या प्रचार कार्य पत्रकार कला की एक विशेष विधा है। आज के प्रचार युग में इसका बड़ा महत्त्व भी है। किसी प्रश्न को चर्चा का विषय बना देना कोई आसान काम नहीं है। हिन्दी जगत् में मेरे द्वारा कई आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ था और 'प्रोपेगेण्डा' मेरे नाम का एक हिस्सा ही बन गया था। उग्र जी उसे पुड़पुड़गेण्डा कहते थे। पं० पद्मसिंह शर्मा ने भी अपने एक पत्र में इसका ज़िक्र किया था। मैंने जो आन्दोलन चलाए उनमें से कुछ के नाम ये हैं :

1. घासलेटी साहित्य विरोधी आन्दोलन—जो अश्लील साहित्य के ख़िलाफ था और उसे मैंने 'विशाल भारत' में ढाई वर्ष चलाया था।
2. कस्मै देवाय आन्दोलन—जो साहित्य को एक नया मोड़ देने के पक्ष में था।
3. ग्रामीण लेखकों की समस्या।
4. जनपद-आन्दोलन।
5. प्रान्त निर्माण आन्दोलन—जो बुन्देलखण्ड को एक प्रान्त बनाने के पक्ष में था।

इनके अतिरिक्त अन्य कई विषयों की सार्वजनिक चर्चाएँ मैंने 'विशाल भारत' तथा 'मधुकर' के द्वारा चलाई थीं। प्रवासी भारतीयों का कार्य तो मैं सन् 1914 से करता ही चला आ रहा था। नगर सेवा का आन्दोलन मैंने 1937 से शुरू किया था। दिल्ली में प्रवासी भवन स्थापित करने का कार्य तो अब भी चल रहा है। अपने-अपने स्थान पर इन प्रश्नों का महत्त्व है पर अपने सब आन्दोलनों में मैं जनपद आन्दोलन को अधिक महत्त्व देता हूँ। 'मधुकर' का जनपद आन्दोलन अंक मैंने सन् 44 में प्रकाशित किया था। अब वह सर्वथा दुष्प्राप्य हो गया है। रूस के प्रसिद्ध हिन्दी विद्वान् चेलिशेव महोदय को रूस में उसकी फ़ोटोस्टेट कापी करानी पड़ी थी। जनपद आन्दोलन को शास्त्रीय पृष्ठभूमि देने का पुण्य कार्य स्वर्गीय वासुदेवशरण अग्रवाल ने किया था। उनकी पुस्तक 'पृथ्वी पुत्र' जनपदीय कार्यकर्ताओं के लिए बाईबिल है। अग्रवाल जी बड़े विनम्र पुरुष थे और कृतज्ञता की भावना उनमें कूट-कूटकर भरी थी। एक पत्र में उन्होंने लिखा, "जितना सम्पादकीय उछाल (पुश) मुझे आपसे मिला है उतना किसी दूसरे से नहीं मिला।" अग्रवाल जी ने मुझे 70-75 महत्त्वपूर्ण पत्र लिखे थे, जिन्हें बन्धुवर वृन्दावन दास जी ने पुस्तकाकार में छपा दिया। 'मधुकर' के जनपद अंक में तीन धाराएँ थीं—1. आचार्य वासुदेव शरणजी की शुद्ध जनपद धारा; 2. मेरा विकेन्द्रीयकरण

आन्दोलन और 3. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का प्रत्येक जनपद को प्रान्त बनाने का सुझाव। इसके कारण कुछ ग़लतफ़हमियाँ भी उत्पन्न हो गई थीं। एक ग़लतफ़हमी का कारण यह भी था कि मैं बुन्देलखण्ड को अलग प्रान्त बनाने का आन्दोलन भी चला रहा था। भाई वासुदेवशरण जी को इन दोनों आन्दोलनों का सम्मिलन पसन्द नहीं था। वह इसे संकरता का नाम देते थे।

मेरे विकेन्द्रीकरण का अभिप्राय यही था कि हम केन्द्रीय संस्थाओं के मोह को छोड़कर यत्र-तत्र छोटे-छोटे केन्द्रों को विकसित करें। सम्पूर्ण साहित्यिक शक्ति काशी और प्रयाग में केन्द्रित कर देना अन्ततोगत्वा हानिकारक ही है। आगे चलकर वह सब ग़लतफ़हमियाँ दूर हो गयीं और आचार्य वासुदेवशरण की नीति ही चिर-स्थायी और मंगलकारी सिद्ध हुई। यह बात ध्यान देने योग्य है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं के जनपदों के साहित्यिक मण्डल स्थापित करने का प्रस्ताव दिल्ली के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में मेरे द्वारा ही भेजा गया था और टण्डन जी ने उसे पास भी कर दिया था। ब्रजसाहित्य मण्डल की स्थापना भी सन् 1936 में मेरे द्वारा ही हुई थी। मेरे लिए यह परम सौभाग्य की बात रही है कि मुझे भिन्न-भिन्न जनपदों में रहने का मौक़ा मिला है। इन्दौर (मालवा) में 6 वर्ष, बंगाल में 11 वर्ष, गुजरात में 4 वर्ष बुन्देलखण्ड में साढ़े चौदह वर्ष, दिल्ली में 12 वर्ष, गढ़वाल में 2 वर्ष, ज्ञानपुर (काशी) में 3 वर्ष और ब्रजभूमि तो मेरी जन्मभूमि है ही।

जनपदीय भाषाएँ निरन्तर पनपती रही हैं। रेडियो विभाग द्वारा उन्हें काफ़ी प्रोत्साहन भी मिला है। खड़ी बोली के कुछ नासमझ समर्थकों ने जनपद आन्दोलन का विरोध भी किया था पर वह निरर्थक सिद्ध हुआ। प्रयाग के एक पत्रकार ने मुझसे कहा था, "आप तो जिन्ना से भी अधिक भयंकर व्यक्ति हैं, क्योंकि आपके आन्दोलन से भारत बीसियों भागों में विभक्त हो जाएगा।" वह स्वर्गवासी हो चुके हैं। हाथरस के ब्रज साहित्य मण्डल के अधिवेशन में मैंने अन्तरजनपदीय परिषद की स्थापना भी करवाई थी। मेरे इस कार्य में मथुरा के वृन्दावन दास जी ने बहुत सहयोग दिया था। भदेई-मुज़फ्फरपुर बिहार के श्री राम इकबाल सिंह राकेश ने मैथिली के लिए बड़ा भारी काम किया है। भोजपुरी के श्री कुलदीप नारायण झड़प तो अन्तर्जनपदीय परिषद् के मंत्री ही रहे हैं। वह और उनके साथी आजनेय अब भी बहुत काम कर रहे हैं। अवधी के दो महाकवि, श्री वंशीधर शुक्ल तथा रमई काका तो स्वर्गवासी हो चुके हैं। निमाड़ी के लिए श्री रामनारायण उपाध्याय का कार्य अत्यन्त प्रशंसनीय है। इनमें सबसे अधिक बोलने वाले भोजपुरी भाषा के हैं। मारीशस द्वीप में भोजपुरी का काफ़ी प्रचार है और वहाँ हाल में ही गीता का भोजपुरी अनुवाद भी छपा है। फिज़ी द्वीप में तथा दक्षिण अफ्रीका में भी कुछ भोजपुरी बोलने वाले हैं। हाल ही में गढ़वाली-हिन्दी कोश कोटद्वार से प्रकाशित हुआ है। सुना है कि आगरे के के० एम० मुंशी विद्यापीठ द्वारा स्वर्गीय द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी का ब्रजभाषा कोश छपने वाला है। वंशीधर जी भी अवधी कोश तैयार कर रहे थे, पर वह काम अधूरा ही रह गया। भाई वंशीधर जी की तीन कविताएँ—सिनेमा, मुशायरा और कवि सम्मेलन—मैंने एक साथ कानपुर में 'सुमित्रा' में छापी थीं। वे शक्तिशाली तथा मनोरंजक भी थीं। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने तो यहाँ तक कहा था कि महाकवि तुलसी के बाद वंशीधर शुक्ल ही अवधी के सबसे अधिक शक्तिशाली कवि हैं।

हिन्दी के भिन्न-भिन्न जनपदों में जो कार्य हो रहे हैं, उन्हें एक सूत्र में बांधने की योजना अभी तक पूर्णतः सफल नहीं हो पायी है। बन्धुवर झड़प जी वयोवृद्ध हो चुके हैं और साधनों के अभाव के कारण अधिक

काम कर नहीं पाते। अन्तर-जनपदीय भाषा सम्बन्धी प्रश्नों का महत्त्व देने वाला कोई पत्र हिन्दी जगत् में विद्यमान नहीं है। छुट-पुट काम करने वाले तो बहुत हैं, जैसे सासनी (अलीगढ़) के डा० राजेन्द्र रंजन चतुर्वेदी, पर वह अपना थोड़ा समय ही इस कार्य को दे सकते हैं। इधर सैया वज़िला आगरा के दक्षिण विद्यालय के अध्यापक श्री कृष्णगोपाल दुबे ने ख़्याल गायकों के लिए अच्छा कार्य किया है और अभी हाल ही में एतमादपुर (आगरा) के वैद्यराज श्री शिवकुमार 'आनन्द' ने भी एक उत्सव (लोक साहित्य सम्मेलन) बड़ी सफलतापूर्वक आयोजित किया था। अनेक क्षेत्रों की तरह इस क्षेत्र में भी नये रंगरूटों के भरती करने की ज़रूरत है।

अश्लील साहित्य विरोधी आन्दोलन

अश्लील साहित्य के स्थान पर घासलेटी साहित्य नाम का प्रचार मेरे द्वारा ही हुआ था, यद्यपि इस नाम का सुझाव बन्धुवर सत्येन्द्रजी ने दिया था। अश्लील साहित्य का प्रश्न केवल भारत से ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व से सम्बन्ध रखता है। हिन्दुस्तान में जो बहुत-सा गन्दा साहित्य अंग्रेज़ी में आता है, वह अमरीका इत्यादि से आता है। उसमें से बहुत सा पगडंडियों पर बिकता है और बहुत-सा चाय आदि के स्टॉलों पर। दिल्ली के एक चतुर्वेदी सज्जन ने बताया था कि उनके मकान के नीचे पान वाले की एक दूकान है, जहाँ गन्दा साहित्य चोरी-छिपे बिकता है। ग्राहक 25-30 पैसे का पान लेता है और अश्लील साहित्य के लिए इशारा कर देता है। तब दूकानदार 5-7 रुपये का गन्दा साहित्य उसे दे देता है। 'युग परिवर्तन' के फीरोज़ाबाद के सम्पादक श्री जगदीश मृदुल जी ने हमें अपने अनुभव की एक घटना सुनाई थी। आगरे के एक प्रकाशक ने, जो गन्दा साहित्य बेचकर मालामाल हो गये हैं, उन्हें कुछ पुस्तकें भेंट कर दी थीं। मृदुल जी ने घर आकर उनके पन्ने उलटे तो वे इतनी अश्लील तथा गन्दी प्रतीत हुईं कि उन्होंने उन्हें फाड़कर आग के हवाले कर दिया।

'विशाल भारत' का जन्म जनवरी 1928 में हुआ था। कुछ महीने बाद ही मैंने सम्पादकीय नोट लिखा था—'अस्तो मा सदगमय'—'मुझे बुराइयों से अच्छाइयों की ओर ले चलो। उस नोट में मैंने अपना यह मत स्पष्ट प्रकट कर दिया था कि मैं यौन सम्बन्धी विषयों के बारे में अधिकारी व्यक्तियों के द्वारा लिखे गये लेखों के विरुद्ध नहीं हूँ, पर वे वैज्ञानिक ढंग पर लिखे गये हों। लेकिन जो लेख जन-साधारण या सामान्य पाठकों की वासनाओं को उत्तेजित करते हों, उनका डटकर विरोध ही होना चाहिए। 'विशाल भारत' द्वारा दो वर्ष तक जो घासलेटी विरोधी आन्दोलन चलाया गया। उसका विवरण उस पत्र के पुराने अंकों में है ही पर अन्य सामग्री के साथ वह आगरा विश्वविद्यालय के चतुर्वेदी ब्रजकेन्द्र में सुरक्षित है। उक्त आन्दोलन के प्रारम्भ की कथा इस प्रकार है—

सन् 1927 में मैंने अपने अनुज स्वर्गीय रामनारायण चतुर्वेदी से पूछा था कि पता तो लगाओ कि तुम्हारे साथी आजकल कौन-कौन-सी किताबें पढ़ते हैं? भाई ने लिख भेजा कि उसका एक साथी 'दिल्ली का दलाल' नामक किताब पढ़ रहा है। वह किताब श्री पांडेय बेचन शर्मा उग्रजी की लिखी हुई थी। मैंने उसे मँगाया और युवकों के लिए उसे आपत्तिजनक समझा। उसके बाद उग्रजी की चाकलेट नामक पुस्तक भी मँगाई जो अप्राकृतिक दुराचारों के बारे में थी। तत्पश्चात् अश्लील साहित्य की अन्य किताबें भी मँगाकर पढ़ीं जिनमें 'अबलाओं का इंसाफ' नामक पुस्तक भी थी जो श्री रामगोपाल मेहता की लिखी हुई थी। दिल्ली

के श्री ऋषभचरण जैन की भी एक पुस्तक थी। उन पुस्तकों में अनाचारों का बड़ा मनमोहक वर्णन किया गया था जिसे पढ़कर हमें रूस के सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक चेख़व की एक कहानी की याद आ गयी। एक बड़े नगर से 15-20 मील दूर एकान्त स्थल पर एक तपस्वी साधु अपने शिष्यों के साथ रहा करता था। एक दिन शहर से एक सज्जन पधारे और साधु जी की सेवा में उन्होंने निवेदन किया, "आप लोग तो सब प्रलोभनों से दूर रहते हैं, इसलिए आपको क्या पता कि हम लोग दुराचारों के किस चक्कर में फँसे हुए हैं। आप एक बार चलकर हमें देखें और उपाय बतलावें ताकि हमारा उद्धार हो सके।" साधु जी का हृदय द्रवित हो गया और वह पैदल चलकर शहर पहुँच गये। वहाँ जाकर उन्होंने जो कामोद्दीपक दृश्य देखे उनसे वह घबरा गये और भागते हुए अपने आश्रम को लौट आये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अपने को एक कमरे में बन्द कर लिया और फूट-फूटकर रोने लगे। शिष्यों के बहुत अनुनय-विनय पर उन्होंने कमरे का दरवाज़ा खोला। बहुत आग्रह करने पर नगर में देखे दृश्यों का मनमोहक वर्णन भी कर दिया। चरित्रहीन स्त्रियों के सौन्दर्य और शराब इत्यादि का वर्णन इतना उद्दीपक था कि उसे सुनकर गुरुजी के तमाम शिष्य आश्रम छोड़कर शहर को भाग गये। दरअसल दुराचारों का मनोहर वर्णन स्वयं उत्तेजक ही होता है। स्वयं प्रेमचन्द ने इस विषय की चर्चा करते हुए लिखा था, कि अगर कोई चोर लिखने लगे कि उसने ताला इस तरक़ीब से तोड़ा तो पढ़ने वाले उस तरक़ीब को जान जाएँगे। हिन्दी के अनेक लेखकों ने मेरे आन्दोलन का समर्थन किया था और गोरखपुर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने तो इस विषय पर मेरे प्रस्ताव को स्वीकृत ही कर दिया था।

लोगों का यह भ्रम था कि मेरा आन्दोलन केवल 'चाकलेट' के विरोध में था। चाकलेट में दिये हुए कुछ वाक्यों ने मुझे उत्तेजित अवश्य कर दिया था। इसमें एक जगह किसी के मुँह से कहलाया गया था कि महाकवि तुलसीदास ने भगवान राम की बाल्यावस्था का जो वर्णन किया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह भी अप्राकृतिक दुराचार के प्रेमी थे। इस बीभत्स कल्पना के विषय में क्या कहा जाये। चाकलेट के विषय में मैंने एक लेख अंग्रेज़ी में लिखकर महात्मा गांधीजी के 'यंग इण्डिया' के लिए भेज दिया और साथ में पुस्तक भी भेज दी। महात्मा जी ने लेख छापने को दे दिया और तत्पश्चात् चाकलेट पुस्तक भी पढ़ ली। पढ़ लेने के बाद उन्होंने मुझे एक पत्र भी लिखा था।

मुझ पर यह एतराज़ किया जाता है कि मैंने उस पत्र को तभी क्यों नहीं छापा ? मैंने इस आक्षेप का उत्तर तभी विस्तार से दे दिया था। महात्मा जी के उस पत्र के बाद मैं अश्लील साहित्य विषयक सम्पूर्ण सामग्री लेकर उनकी सेवा में उपस्थित भी हुआ था और एक घंटे-भर तक इस विषय की चर्चा उनसे हुई थी। बापू ने मुझसे कहा था, "जो कुछ कहना हो, घण्टे-भर में कह दो। जो आदमी एक घण्टे में अपनी बात नहीं कह सकता, वह ज़िन्दगी-भर में भी नहीं कह पायेगा।" मैंने अपने द्वारा संग्रह किये हुए गन्दे साहित्य का परनाला ही खोल दिया। 'माधुरी' में किसी स्त्री का एक रंगीन चित्र छपा था जो झूला झूल रही थी। उसके नीचे एक कविता भी छपी थी जिसमें कहा गया था कि "रति विपरीत की पुनीत परिपाटी" इत्यादि। महात्मा जी ने उसका अर्थ मुझसे पूछा। मैंने कहा कि इतना गन्दा है कि मैं आपको समझा नहीं सकता। स्व० कृष्णकान्त मालवीय जी की एक पुस्तक थी जिसका नाम था 'सुहागरात'। उस पुस्तक का एक वाक्य था, "संसार-भर की स्त्रियों के मद-भंजन का उपाय यह है कि अश्विनी मुद्रा सिद्ध की जाये।" एक जगह अन्यत्र उसी पुस्तक में 'रतिमल्लता' प्राप्त करने के उपाय बताये गये थे। महात्मा जी ने उन अंशों को सुनकर पूछा, "यह पुस्तक किसकी लिखी हुई है ?" मैंने कहा, "कृष्णकान्त मालवीय जी की।" महात्मा जी ने पूछा, "इनको सम्मेलन

का मंत्री किसने बनाया।" मैंने कहा, "बनाने वालों में तो मैं भी था।" महात्मा जी ने कहा, "पुस्तक को छोड़ जाओ। मैं कृष्णकान्त को लिखूँगा।" बातचीत समाप्त होने के बाद महात्मा जी ने कहा, "तुम आ गये, यह ठीक किया। तुम्हारे आने से मुझे पता लग गया कि हिन्दी में कितना गन्दा साहित्य निकल रहा है। तुम न आते तो मैं भ्रम में कुछ का कुछ लिख देता।" चाकलेट पर दी गयी, महात्मा जी की सम्मति पर मैंने कोई बातचीत नहीं की थी। यदि मैं महात्मा जी के उस पत्र को छापता तो प्रसंगवश मुझे सारी बातचीत लिखनी पड़ती। इस कारण मैंने उसे तब रोक लिया था। उसके दो-तीन वर्ष बाद स्वयं मैंने ही महात्मा जी के उस पत्र को छपाया था। यदि मैं उसे गोपनीय रखना चाहता तो छपाता ही क्यों। स्व० भाई अशोक जी ने अपने एक लेख में लिखा था, "एक पुराने बस्ते में उग्र जी पुराना जूता लिए रहते थे और कहते थे कि यदि चौबे जी मिल जायें तो इसका मज़ा उन्हें चखा दूँ।" उग्र जी की चाकलेट नामक पुस्तक को अन्य प्रतिष्ठित लेखकों ने पढ़ा था और उसे आक्षेप योग्य भी पाया था। घासलेटी साहित्य विरोधी आन्दोलन की समीक्षा करते हुए तत्कालीन स्थिति को भी ध्यान में रखना ज़रूरी है। विलायत में अब अप्राकृतिक अनाचार दण्डनीय नहीं रहा है। उस समय तो सुप्रसिद्ध लेखक आस्कर वाइल्ड को इसी अपराध में जेल हो गयी थी। 'अबलाओं का इंसाफ़' नामक पुस्तक मैंने बंगाली भाषा के सुप्रसिद्ध आलोचक स्व० सजनीकान्त दास, सहकारी सम्पादक प्रवासी को पढ़ने को दी थी, उसे पढ़कर लौटाते हुए उन्होंने कहा था, "अश्लील साहित्य तो हमारी बंगला भाषा में भी है पर हिन्दी साहित्य के अश्लील साहित्य के मुक़ाबले तो वह पूर्ण ब्रह्मचर्य है।"

पचास वर्ष पहले के मुक़ाबले में हिन्दी जगत् में अश्लील साहित्य का प्रकाशन बहुत ज़्यादा हो गया है और आन्दोलनों द्वारा उसे रोका नहीं जा सकता। केवल सरकार ही कठोर नियंत्रण द्वारा उसकी रोकथाम कर सकती है। इस विषय में मुझे अपनी रूस यात्रा की एक घटना याद आती है। मास्को के एक रूसी पत्रकार से, जो अंग्रेज़ी पत्रिका का सम्पादन कर रहे थे, बातचीत करते हुए मैंने कहा, "हमने सुना है कि आपके देश में फ्रीडम ऑफ एक्सप्रेशन (वाणी की स्वाधीनता) नहीं है।" उसका उत्तर उन सम्पादक महोदय ने बड़े तपाक से देते हुए कहा, "सुनिये जनाब, जो समाज व्यवस्था हमने अपने देश में लाखों आदमियों के बलिदान के बाद क़ायम की है, यदि आप उसका विरोध करेंगे तो हम आपको ऐसा नहीं करने देंगे और यदि आप अश्लील साहित्य छापेंगे तो हम आपको दबोच देंगे।" उनके शब्द थे—वी विल कम डाउन अपॉन यू। जब तक भारतवर्ष में ऐसी समाज व्यवस्था क़ायम नहीं हो जाती कि गन्दे साहित्य के प्रकाशकों को डटकर दबोच दिया जाये, तब तक यहाँ गन्दा साहित्य बिकता ही रहेगा।

19

जब मुझे कविता का शौक चर्राया

अंग्रेज़ी में एक कहावत है, 'ए पोएट हैज़ डाइड यंग इन एवरी वन' अर्थात् युवावस्था में प्रत्येक व्यक्ति में कवित्व के भाव उत्पन्न होते हैं, जो आगे चलकर नष्ट हो जाते हैं। मेरे मामले में भी ऐसा ही हुआ।

मैट्रिक क्लास में ही, जब मैं 17-18 वर्ष का था, मेरे मन में कविता करने की धुन सवार हुई। 'सरस्वती' उन दिनों हिन्दी जगत की प्रतिष्ठित पत्रिका थी और मैंने हितोपदेश की एक कहानी का कविता में अनुवाद कर उसे सरस्वती सम्पादक श्री द्विवेदी जी को भेज दिया। अपना नाम देने के बजाय मैंने अपनी छोटी बहिन राधा का नाम कविता पर लिख दिया था। पूज्य द्विवेदी शायद मेरी चालाकी को ताड़ गये थे। उन्होंने राधा देवी के बारे में अनेक प्रश्न पूछे। गर्ज़ यह कि मेरा प्रयत्न असफल रहा।

मैंने एक अन्य कविता कुँवर हनुमंतसिंह रघुवंशी, सम्पादक 'स्वदेश-बान्धव' को भेजी और उन्होंने भी उसे अस्वीकार कर दिया, यह अच्छा ही हुआ। नहीं तो साहित्य में एक थर्ड क्लास कवि की वृद्धि और हो गयी होती। फिर भी कविता करने की जो बीमारी मुझे लगी थी वह जड़ से नष्ट नहीं हुई। मैं कभी-कभी तुकबन्दी करता ही रहा।

कलकत्ते में एक बार कवि सम्मेलन हुआ। उसमें समस्या थी, 'छाए हैं'। मैंने उसकी पूर्ति इस प्रकार की—

"पावत न जोग संजोग सम्पादन को
मेरे प्राण प्यारे सम्पादक कहाए हैं।
प्रूफ़ पढ़िबे में प्रेम पाती बन्द कीनी हाय।
रंगे अख़बार घर ख़बर भुलाए हैं।
विरह व्यथा ते ह्यां तो तार को कुतार भयो
तार पढ़िबे में भरतार भरमाए हैं।
प्राण काढ़िबे को पापी पावस पपीहा आए
पत्र काढ़िबे कौ परदेश पिया छाए हैं।

इसमें तृतीय पंक्ति (चरण) स्व० भाई मदनलाल चतुर्वेदी, जो कलकत्ते के लोकमान्य के सम्पादक थे, द्वारा संशोधित है। कवि सम्मेलन में कविता काफ़ी पसन्द की गयी थी।

वसन्त के अवसर पर ओरछा राज्य में नर्तकियों द्वारा नृत्य-गान हुआ करते थे, एक दिन महाराज वीरसिंह जूदेव ने कहा, "चौबे जी। आप हमारे मदनोत्सव में पधारिये। मैं गाड़ी भेज दूँगा।" मैं टीकमगढ़ से साढ़े तीन मील दूर रहता था। गाड़ी आने पर मैं टीकमगढ़ पहुँचा। नर्तकियों का नाच इससे पहले ज़िन्दगी में कभी नहीं देखा था। उस उत्सव में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरणजी तथा मुंशी अजमेरी जी भी उपस्थित थे। रात को एक बजे तक बड़े मनमोहक नाच-गाने होते रहे। फिर हम लोग विश्राम के लिए चले गये। मुझे ठीक तरह नींद नहीं आयी और चार बजे ही जग गया। फिर गुनगुनाते-गुनगुनाते एक कविता लिख डाली जिसका तृतीय चरण मुझसे पूरा नहीं हो पाया था। पाँच बजे मैं राष्ट्रकवि के तम्बू में गया। वह और सियाराम शरण सोये हुए थे, पर मुंशी जी जाग रहे थे। उन्होंने पूछा, "चौबे जी इतनी जल्दी कैसे आये?" मैंने कहा, "एक गुस्ताख़ी मैंने की है—एक तुकबन्दी कर डाली है, संशोधन कराना चाहता हूँ।" उन्होंने कहा, "सुनाओ।"

मैंने वह रचना 'ओरछेश' को सम्बोन्धित की थी। वह इस प्रकार है—

"साँची ही कहौंगे चाहे चुगल चवाब करे,
होंगौ जग जाहिर 'नरेश' सदा सच्चा मैं।
रिसि मुनि चूके अस चूके चतुरामन हूँ,
अचरज कहा जो सिद्ध भयो कछु कच्चा मैं।
चार छन माँहि अभिमान भयो चूर-चूर,
× × ×
प्रबल उमंग भयो ब्रह्मचर्य भंग भयो
डूब गयो चौबे रस रंग के चबच्चा में।"

मैंने मुंशी जी को अधूरी कविता सुना दी और कहा कि तीसरा चरण मुझसे पूरा नहीं हुआ, आप पूरा कर दीजिए। मुंशी जी ने तुरन्त ही उसे पूरा करते हुए कहा, "आप यों लिखिए—

"चन्द्रमुखी नैन सैन खायो एक दच्चा मैं।"

अपनी यह तुकबन्दी जब मैंने महाराज साहब को सुनायी तो वह बहुत प्रसन्न हुए और कहा, "इसे प्राइवेट ही रखिये और कवि सम्मेलन में न सुनाइये।"

मैं कलकत्ते में प्रातःकाल ईडन गार्डन में जाया करता था और वहाँ तालाब के किनारे बैठकर लेख इत्यादि लिखा करता था। उस प्रसंग की एक कविता मैंने की थी, जो अधूरी ही रह गयी है। उस तुकबन्दी की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार की थीं—

गोरी-गोरी गोरियों की नौका केलि क्रीड़ा देख
तप भंग भयभीत लेखक विचारा है।
मदन मनोहर के साधन जुटे हैं जहाँ,
अदम बगीचा बीच आसन हमारा है।"

एक तुकबन्दी मैंने अपनी विकासोन्मुख साहित्यिक रुचि के विषय में भी की थी। मैं पहले श्रीधर पाठक का प्रशंसक रहा फिर सत्यनारायण कविरत्न, तत्पश्चात् मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर जी तथा बच्चन जी का। किसी एक कवि का अन्ध भक्त मैं कभी भी नहीं रहा। मेरी तुकबन्दी यह है:

"रस एक का लेकर दूसरे से, मनभावनी यो मन में मचली।
नित प्रेमी नवीन बनाती रही, फिर भी यह रही चुनरी उजली।
कली प्रेम में ही मदमाती रही, मँडराते रहे यहाँ अनेकों अली।
अली एक की होके रहूँगी न मैं, शुचि साहित में परकीया भली।"

इस सवैया में 'शुचि साहित' शब्द राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त द्वारा संशोधन में रखा गया है।

और भी अनेक तुकबन्दियाँ मैंने की थीं, जिन्हें मैं भूल गया। केवल एकाध याद रह गयी है, जैसे—

निरन्तर करते रहना दान, इसी को कहते हैं जीवन
बुढ़ापा कंजूसी का नाम, भला फिर क्यों जोड़ूँ मैं धन।
लुटाऊँ दोनों हाथों से, मिलें गर मुझको कुछ साधन,
करूँ अनगिनती परोपकार जगत में बुरा हिसाबी पन॥

एक कविता अराजकवाद पर भी है जो किसी ग्रन्थ की भूमिका में छपी है।

एक तुकबन्दी मैंने 9 जनवरी, सन् '32 में अपनी स्वर्गीय पत्नी की मृत्यु के दो वर्ष बाद की थी, वह इस प्रकार है—

"जीवन बसन्त की अवाई आज देखो पिये
स्वागत करे को, कूकि कोकिला सुनावौ तुम।
आशा लता लहरें, मन सुमन प्रफुल्लित हो,
आली बनि माली विन्हें सफल सजावौ तुम।
जस की जुही की गन्ध जग में पसारिबे को,
हीतल कर सीतल समीर सरसावौ तुम।
जो पै छरछन्द में न कविता ह्वै आवौ देवि,
जीवन उद्यान माँहि सविता ह्वै आवौ तुम।
प्रेम रस प्यासे भटकत, फिरौ चाहे जितै,
भावन के भूखे, वस म्हों की हौ खाओगे।
सूखि जैहै सरिता, सरोवर विलीन ह्वै हैं,
जीवन की आस लै जितै ही तुम जाओगे।
मारग अकेले में दुकेले अब ह्वै हौ नाँहि,
साथी विधुर को कहूँ खोज हू न पाओगे।
व्याकुलता त्यागी मनी राम धीर धारौ अब,
सूखे रसहीन वृथा वासर बिताओगे।"

मेरी अराजकवाद सम्बन्धी कविता श्री बसन्तसिंह भृंग के काव्य ग्रन्थ 'बढ़ते चरण थिरकते पाँव' की भूमिका में भी लिखी गयी थी। उसके कुछ पद्य ये थे—

"हम को न चाहिए एक वृक्ष, चाहे वह हो विस्तृत बटका।
जो थोड़ों को आश्रय दे दे औ' बने शेष के हित खटका॥

हम वन उपवन के प्रेमी हैं, जो एक नहीं होवें हज़ार।
हम नहीं चाहते हैं रक्षक चाहे वह कितना हो उदार।।
हम चिड़ियों सम चहकें स्वतन्त्र, हो नहीं किसी का भी बन्धन।
है आज़ादी का अर्थ नहीं, सय्यादों का कुछ परिवर्तन।।
उन भोले भाले श्रमिकों से, जो शासक में करते यकीन।
मैं कहता हूँ यों जान-बूझ, बनते जाते क्यों पराधीन।।
जब तक शासक सय्याद रहें, तब तक उजड़ेंगे ही उपवन।
फिर फिर ये अंकुर ठूँठ बने, हों नष्ट हमारे तन मन धन।।
हम सिहों सम विचरें स्वतन्त्र, पर घृणित चीज़ ये सिंहासन।
जो मनुज भेड़ निर्माण करे, हैं निन्दनीय वे सब शासन।।
शासन के दुश्मन बने, करें निज शासन।
सिंहत्व चाहिए हमें, नहीं सिंहासन।।"

20

बुन्देलखण्ड में साढ़े चौदह वर्ष

महाकवि रहीम ने कहा था—

"चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवध नरेस।
जिहि पर विपदा परति है, सो आवत इहि देस ॥"

रहीम की यह उक्ति, कि जिस पर आपत्ति पड़ती है, वह इस देश में आता है, मेरे ऊपर पूर्णतः चरितार्थ हुई थी। सन् 1935-36 में कलकत्ते में रहते हुए मेरे जीवन में दो दुर्घटनाएँ घटी थीं—एक तो मेरे बहनाई कामता प्रसाद जी का स्वर्गवास और दूसरा मेरे अनुज रामनारायण का देहान्त। स्वभावतः मैं अत्यन्त दुखित था। अकस्मात् उन्हीं दिनों, शायद सन् 1936 में ओरछा नरेश श्री वीरसिंह जू देव कलकत्ते पधारे। शिकार के लिए वे आसाम जा रहे थे और रास्ते में रुकते हुए मुझसे मिलने चले आए। मेरा मकान चौथे तल्ले पर था। महाराज कष्ट करके वहाँ पहुँचे और उससे मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ। मैंने उनसे पूछा, "कैसे कृपा की ?" उन्होंने उत्तर दिया, "मैं तुमसे एक प्रार्थना करने आया हूँ। तुम कलकत्ता छोड़कर टीकमगढ़ चलो। यहाँ दो दुर्घटनाएँ घट चुकी हैं और अगर तुम यहाँ रहे तो तुम्हारी भी ख़ैर नहीं।" मैंने कुछ मज़ाक में और कुछ गम्भीरता से उत्तर दिया कि, "क्या टीकमगढ़ में पपीते मिलते हैं ?" महाराज ने हँसकर कहा, "चाहे जितने पपीते खाना। पपीते, अमरूद, आम और जामुनों की वहाँ भरमार है।" बात यह थी कि उन दिनों मुझे पपीता खाने का शौक था।

13 अक्तूबर, सन् 1937 को मैं टीकमगढ़ पहुँचा और महाराजा साहब ने अपने सहपाठी सज्जन-सिंह से कहा, "चौबे जी को कोठियाँ दिखला दो और जहाँ यह पसन्द करें वहीं इनके रहने का प्रबन्ध कर दो।" मुझे नदी किनारे वाली कोठी, जो कि 40 फ़ीट ऊँची चट्टान पर बनी हुई थी, जिसके नीचे जमड़ार नदी का जलप्रपात था, पसन्द आई। मैं कुण्डेश्वर में साढ़े चौदह वर्ष रहा; और वे मेरे जीवन के सर्वोत्तम वर्ष थे।

मैं प्रारम्भ ही में दो बातें स्वीकार कर लेना चाहता हूँ—पहली बात तो यह है कि मैं बुन्देलखण्ड का इतना ऋणी हूँ कि उसके बारे में तटस्थ वृत्ति से मैं कुछ नहीं कह सकता। मैंने साढ़े चौदह वर्ष बुन्देलखण्ड का नमक खाया है और आज भी वहाँ से पेंशन पा रहा हूँ। कृतज्ञता के भाव से मैं इतना प्रभावित हूँ कि मैं वहाँ के निवासियों के कोई दोष देख भी नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि मैं साढ़े चौदह वर्ष में भी बुन्देल-खण्डी नहीं बन सका। मैं एक महल में रहता था और मेरे रहन-सहन का स्टैण्डर्ड बहुत ऊँचा था। एक बार

श्रद्धेय वियोगी हरि जी ने मुझसे पूछा, "क्या आपने कोंदी की रोटी खाई है या महुआ की मिठाई ?" जब मैंने नकारात्मक उत्तर दिया तो वह बोले, "तो आप बुन्देलखण्डी नहीं हैं।" वियोगी हरि जी का कथन सर्वथा सत्य था।

यद्यपि बुन्देली के साहित्य और उक्त जनपद की संस्कृति का विशेष अध्ययन मैं नहीं कर सका तो भी उस प्रदेश के कवियों, लेखकों और कार्यकर्ताओं के निकट सम्पर्क में मैं आ सका, इस प्रकार मैंने बुन्देलखण्ड की आत्मा के दर्शन कर लिए। आखिर साहित्य तथा संस्कृति का स्रोत तो अध्ययन में ही है। रूस के सुप्रसिद्ध लेखक मेक्सिम गोर्की ने कहा था : "प्रत्येक जनपद की एक अलग आत्मा होती है", और बुन्देलखण्ड की भी एक अलग आत्मा है। मेरा यह परम सौभाग्य था कि मुझे निकट से महाराज ओरछा से लेकर छोटे-छोटे कार्यकर्ताओं को जानने-पहिचानने का मौक़ा मिला। मुझे यह देखकर हार्दिक दुख हुआ कि जहाँ प्रकृति माता ने बुन्देलखण्ड को इतना दिया है, सौन्दर्य बिखेरा है वहाँ पुरुष इतना छोटा और बौना क्यों रह गया है ? कारण यह हुआ कि बुन्दलेखण्ड छोटी-छोटी रियासतों में विभाजित हो गया और अन्य प्रदेशों के जो शासक वहाँ पहुँचे, उनमें इतनी कल्पना-शक्ति नहीं थी कि वे उसे अपना सर्वोत्तम अर्पित कर सकते।

बुन्देलखण्ड के दो लेखकों में मैंने अद्‌भुत मिशनरी भावना के दर्शन किये थे। एक थे स्व० कृष्ण बलदेव वर्मा और दूसरे स्व० गौरी शंकर द्विवेदी। अपने जनपद को गौरव प्रदान करने का कोई अवसर वह अपने हाथ से नहीं जाने देते थे। उनकी स्मृति-रक्षा यदि किसी ने की तो वह थे उनके भतीजे स्व० ब्रजमोहन वर्मा जिन्होंने 'विशाल भारत' में मेरे साथ नौ वर्ष काम किया था। हम लोग इस बात को भी भूल गये हैं कि 'विश्वमित्र' के संचालक और सम्पादक स्व० मूलचन्द्र अग्रवाल बुन्देलखण्ड के ही थे। स्व० नाथूराम माहौर जी भी मुझ पर कृपा करते थे।

बड़े भैया वृन्दावनलाल वर्मा और राष्ट्रकवि मैथिलीशरण जी गुप्त, इन दोनों ने अखिल भारतीय कीर्ति प्राप्त की थी। यद्यपि सियारामशरण गुप्त, घासीराम जी व्यास भी इसके पूर्ण अधिकारी थे। सबसे बड़ी दुर्घटना बुन्देलखण्ड में यह हुई कि वहाँ साधन-सम्पन्न व्यक्तियों की बहुत कमी रही है। महाराज वीरसिंह जू देव के चले जाने पर तो साहित्य क्षेत्र का एक महासंरक्षक ही उठ गया। स्वर्गीय रसिकेन्द्र जी तथा स्वर्गीय व्यास जी, इन दोनों ने अपने पत्रों में मुझे लिखा था कि अपनों से उन्हें वह प्रोत्साहन नहीं मिला जो मिलना चाहिए था।

गुप्त बन्धुओं की कृपा से चिरगाँव एक साहित्यिक तीर्थ बन गया था। और महाराज वीरसिंह जू देव की सहायता से कुण्डेश्वर को भी कुछ गौरव प्राप्त हुआ था। आचार्य विनोबाजी, राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू, आचार्य क्षितिमोहन सेन, पं० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी, श्रद्धेय काका कालेलकर, द्वारिका प्रसाद जी मिश्र, रामनरेश त्रिपाठी, बाबू गोविन्द दास जी, श्री सोहनलाल द्विवेदी, हरिशंकर शर्मा, श्रीराम शर्मा इत्यादि वहाँ पधारे थे।

इनके अतिरिक्त कुण्डेश्वर के वसन्तोत्सवों पर अनेक प्रतिष्ठित कवि आया ही करते थे, अमर शहीद चन्द्रशेखर आज़ाद की माताजी दो बार वहाँ पधारी थीं और उनके साथ सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी भगवानदास माहौर तथा सदाशिवराव भी थे। महाराज ओरछा ने पाँच-छः कवियों को वृत्ति देकर राज्याश्रय प्रदान किया था, वे थे—स्व० ब्रजेशजी, मुंशी अजमेरी जी, अंबिकेश जी, रामाधीन खरे इत्यादि। मुंशी अजमेरी जी तो बुन्देलखण्डी में मधुर कविता कर लेते थे और कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'स्मरण' नामक पुस्तिका का

उन्होंने बुन्देली-मिश्रित ब्रजभाषा में अनुवाद किया था। दु:ख की बात यही रही कि उन्हें अपनी आजीविका के लिए यत्र-तत्र भटकना पड़ा और वह अपना पूरा-पूरा समय साहित्य को न दे सके। पर जो कुछ उन्होंने लिखा, वह उच्चकोटि का है।

आजकल अनेक बुन्देलखण्डी कवि और लेखक प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं। कविवर रामचरण हयारण मित्र ने बुन्देलखण्डी में बड़ी कविताएँ की हैं और अपने गुरुवर घासीराम व्यास की कीर्ति-रक्षा भी की है। बन्धुवर सेवकेन्द्र जी ब्रजभाषा के सुकवि हैं और आचार्य श्री श्यामसुन्दर बादल ने फाग साहित्य पर बड़ा शोध-पूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया है। अजयगढ़ के श्री अम्बिका प्रसाद दिव्य बड़े परिश्रम-पूर्वक निरन्तर साहित्य सेवा करते रहते हैं। दुर्गेश दीक्षित प्रकाश सक्सेना अच्छा लिख लेते हैं। साढ़े चौदह वर्ष तक बुन्देलखण्ड में रहने पर मुझसे जो थोड़ी-बहुत साहित्य सेवा बन पड़ी थी उसका उल्लेख करना मुझे ठीक नहीं जंचता। वहाँ जो कुछ कार्य हुआ उसके अधिकांश का श्रेय मेरे सहयोगियों को है। श्री कृष्णानन्द जी गुप्त अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते थे पर श्री यशपाल जैन और श्री जगदीश चतुर्वेदी मेरे सहायक और सहयोगी थे। नाथूराम प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ तो यशपाल ने ही तैयार किया था और 'मधुकर' का जनपद अंक जगदीश जी ने निकाला था। कभी उत्तर प्रदेश पत्रकार संघ तथा अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार सम्मेलन के कार्यालय कुण्डेश्वर में ही थे और बुन्देलखण्ड प्रान्त निर्माण का आन्दोलन तो वहीं से प्रारम्भ हुआ था। उसके अध्यक्ष व्योहार राजेन्द्रसिंह जी वहाँ पधारे थे। सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ भी वहीं तैयार हुआ।



हरिशंकर शर्मा एवं श्रीराम शर्मा के साथ लेखक (मध्य में)

अपने टीकमगढ़ निवास में स्व० शोभाचन्द्र जोशी मुझे सबसे अधिक प्रतिभाशाली लेखक प्रतीत हुए। दुर्भाग्य से वह अधिक दिन जीवित नहीं रह सके। पर अपने रेखाचित्रों द्वारा उन्होंने साहित्य क्षेत्र में अच्छी कीर्ति प्राप्त कर ली थी। श्री चन्द्रदत्त पाण्डे भी अच्छा लिख लेते थे। श्री कृष्ण किशोर द्विवेदी ने वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद् कार्यालय में अच्छा साहित्यिक वातावरण उत्पन्न किया।

बुन्देलखण्ड ने हिन्दी साहित्य को महाकवि केशव पद्माकर तथा भूषण प्रदान किए थे और लोक-

कवियों में इनका नाम सर्वोच्च आता है । यह बड़े सौभाग्य की बात है कि झाँसी में बुन्देलखण्ड यूनीवर्सिटी क़ायम हो गयी है और यदि वह चाहे तो बहुत काम कर सकती है।

सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि जो बुन्देली लेखक और कवि संघर्षमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं उन्हें सहायता और प्रोत्साहन प्रदान किया जाय। बन्धुवर गोविन्द गुप्त का 'वेतवा का जीवन चरित्र' तो शीघ्र ही छप जाना चाहिए। बँगला की एक कविता है—"सवार ऊपर मानुस आछे, तार ऊपर किछ नांइ।" यानी सबके ऊपर मनुष्य है और उसके ऊपर कुछ भी नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार मैंने साहित्य क्षेत्र के कुछ मुख्य-मुख्य लेखकों तथा कवियों का उल्लेख किया है। वे साहित्य तथा संस्कृति के स्रोत हैं और गंगोत्री की गंगा का गौरव कानपुर या हुगली गंगा से लेशमात्र कम नहीं है। बुन्देली साहित्य तथा संस्कृति पर बन्धुवर हरिहर निवास द्विवेदी जैसे विद्वान् ही लिख सकते हैं।

बुन्देलखण्ड की साधारण जनता भी बहुत ग़रीब है। प्राचीन काल में अगस्त ऋषि ने विंध्य को जो धोखा दिया था उसके अभिशाप से बुन्देलखण्ड अब भी मुक्त नहीं हुआ। जब तक वह प्रदेश अमर शहीद नारायण दास खरे तथा स्व० प्रेमनारायण खरे जैसे कार्यकर्ता उत्पन्न नहीं करता तब तक वहाँ साहित्य और संस्कृति के पौधे पनप नहीं सकते।

21

राज्यसभा में बारह वर्ष

सन् 1952 से 1964 तक पूरे बारह वर्ष मुझे राज्यसभा में रहने का सौभाग्य अकस्मात् ही प्राप्त हो गया। सक्रिय राजनीति से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था और मैंने पार्लियामेण्ट का मेम्बर बनने की कल्पना स्वप्न में भी नहीं की थी, उसके लिए प्रयत्न करना तो दूर रहा। 10 मार्च, सन् 1952 को होली थी और जब मेरे पास दिल्ली से तार पहुँचा, "आप कौंसिल आफ स्टेट्स के लिए खड़े हो जाइये।" तो मेरे मन में ख़्याल आया कि किसी ने होली का मज़ाक तो नहीं किया है। मैं डाकख़ाने से साढ़े तीन मील दूर कुण्डेश्वर (टीकमगढ़) में रहता था। बन्धुवर चतुर्भुज पाठक तार लेकर मेरे पास पैदल आये थे। आते ही उन्होंने कहा, "पहले आप यह वायदा कीजिये कि अस्वीकार नहीं करेंगे, तब तार आपको दिखलाया जायेगा।" मैंने मज़ाक में पूछा, "आपने तार खोल कैसे लिया?" तब उन्होंने वह तार मुझे दिया जिसे दिल्ली से विंध्य प्रदेश काँग्रेस के मुख्य कार्यकर्ता पंडित शम्भू शुक्ल ने भेजा था।

राज्यसभा के सदस्य राज्य की एसेम्बली के मेम्बरों के द्वारा चुने जाते थे। मैं मेम्बरी के लिए खड़ा हो गया और सबसे अधिक मत भी मुझे मिले। बात दरअसल यह हुई थी कि विंध्य प्रदेश काँग्रेस द्वारा श्री सुन्नू लाल नापित का नाम भेजा गया था। वह काँग्रेस पार्टी के एक प्रतिष्ठित कार्यकर्ता थे पर कवि के रूप में उनके नाम की कोई प्रसिद्धि नहीं थी। जब सूची पं० जवाहरलाल नेहरू के सामने पहुँची तो पण्डित जी ने उसे देखकर झुंझलाहट के साथ कहा, "क्या तुम्हारे यहाँ विंध्य प्रदेश में कोई पढ़ा-लिखा आदमी नहीं है?" पण्डित जी के इस प्रश्न से विंध्य प्रदेश के नेता लोग चकरा गये और तब दतिया के श्री श्यामसुन्दर जी ने दरवाज़े के बाहर खड़े यह सलाह दी कि बनारसीदास चतुर्वेदी का नाम भेज दिया जाय, क्योंकि वह प्रसिद्ध हैं। ऐसा ही किया गया। जब मेरा नाम पण्डित जी के सामने पहुँचा तो उन्होंने कहा, "इज़ बनारसीदास स्टिल इन दि लैंड ऑफ लिविंग? ही हैड गॉन टू ईस्ट अफ्रीका विद मिसिज़ सरोजिनी नायडू?" अर्थात् "क्या पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी अब भी जीवितों के लोक में हैं, वही जो श्रीमती सरोजिनी नायडू के साथ पूर्वी अफ्रीका गये थे?" इस पर श्रद्धेय श्री प्रकाश जी ने कहा, "चतुर्वेदी जी बहुत काम कर रहे हैं। आप नहीं जानते। वह टीकमगढ़ में हैं।" श्रद्धेय टण्डन जी ने भी मेरे नाम का समर्थन कर दिया। मौलाना आज़ाद साहब ने भी, जो बोर्ड के सभापति थे और मेरे नाम से परिचित थे, स्वीकृति दे दी। इस प्रकार मेरा नाम चुन लिया गया। और चूँकि एसेम्बली में काँग्रेसी मेम्बरों की संख्या अधिक थी, इसलिए मैं चुनाव में जीत भी गया। काँग्रेस

पार्टी के अतिरिक्त एक वोट मुझे हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि ठाकुर गोपालशरण सिंह के सुपुत्र ठाकुर सोमेश्वर सिंह का भी मिला था जो किसी अन्य पार्टी के सदस्य थे ।

चुनाव के लिए मुझे रीवाँ जाना पड़ा था जो उन दिनों विंध्य प्रदेश की राजधानी था । मार्ग व्यय में मेरे कुल जमा 30-35 रुपये ख़र्च हो गये थे। इस प्रकार संसद की सदस्यता मुझे अकस्मात् ही बिना किसी विशेष प्रयास के मिल गयी।

स्व० श्री प्रकाश जी ने स्वयं ही यह क़िस्सा मुझे सुनाया था। चूँकि मैं उन दिनों अमर शहीद चन्द्रशेखर आज़ाद की माता जी की पेंशन के लिए प्रयत्न कर रहा था और श्री प्रकाश जी को मैंने उनके बारे में लिखा भी था इसलिए उन्होंने मेरा ज़ोरदार समर्थन कर दिया । पूज्य टण्डन जी ने भी मुझसे मज़ाक में कहा था, "तुम्हारे नाम का समर्थन मैंने किया और स्वामी केशवानन्द का भी क्योंकि वह भी मेरी तरह दाढ़ी रखते हैं।" पार्लियामेण्टरी बोर्ड के सभापति मौलाना आज़ाद मेरे द्वारा प्रकाशित पुस्तिका 'हजरत मुहम्मद' की भूमिका 1934 में लिख चके थे और मुझे जानते थे। इस प्रकार यह घटना अकस्मात् ही घटित हो गयी ।[1]

पहली बार मैं 1952 से 58 तक मेम्बर रहा और दूसरी बार श्रद्धेय टण्डन जी की कृपा से फिर चुन लिया गया क्योंकि उन्होंने मुख्यमंत्री कैलाशनाथ काटजू साहब तथा प्रान्तीय काँग्रेस के अध्यक्ष को मेरे बारे में लिख दिया था। राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने भी स्वतः मुख्यमंत्री काटजू साहब को इस बारे में लिख दिया था। इस प्रकार राज्यसभा में दुबारा जाने का अवसर मुझे मिल गया ।

राज्यसभा के कुछ सदस्य इस उद्देश्य से भी बनाये जाते हैं कि सरकार उनकी विशेषज्ञता से कुछ लाभ उठाये । मैं 60 वर्ष की उम्र में पार्लियामेण्ट में पहुँचा था और तब तक मेरे जीवन के उद्देश्य निश्चित हो चुके थे और संसदीय जीवन प्रारम्भ करने के लिए प्रश्न मेरे सामने नहीं था । संसद के वाद-विवादों में मेरी कोई रुचि नहीं थी और 15-20 दिन के भीतर ही मेरा मन ऊब गया । इसके सिवाय क्रान्तिकारियों की सेवा तथा शहीदों का श्राद्ध मेरे जीवन के मिशन बन चुके थे। इसलिए मैंने इस दुर्लभ अवसर का उपयोग अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए करना ठीक समझा । प्रवासी भारतीयों का कार्य भी मैं थोड़ा-बहुत चलाता ही आ रहा था। ये प्रश्न दलगत राजनीति से ऊपर थे और मुझे सभी पार्टियों का सहयोग मिलता रहा ।

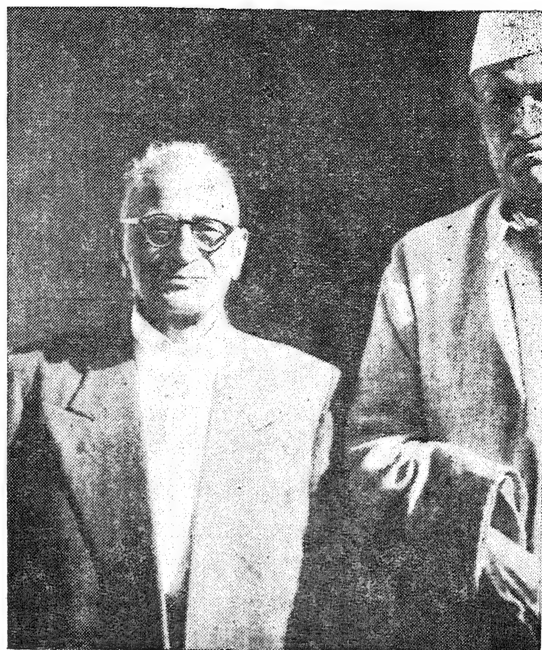
मेरे सौभाग्य से श्रीमन्नारायण जी उन दिनों काँग्रेस के महामन्त्री थे और उनसे मेरा घनिष्ठ परिचय भी था, क्योंकि उनकी ननसाल फीरोज़ाबाद में ही थी। एक दिन उनके निवास पर पहुँचकर यह निवेदन कर दिया कि मैं अपने घर पर सभी पार्टियों के सदस्यों को निमंत्रित करता रहूँगा क्योंकि मेरे विषय दलगत राजनीति से ऊपर हैं, और सबका सहयोग मुझे अपेक्षित है। मेरे बारे में ग़लतफ़हमी न हो इसलिए मैंने यह बात स्पष्ट कर दी है। श्रीमन्नारायण जी ने सहर्ष मेरे प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और कहा, "आप निश्चिंतता से अपना काम करते रहिए। आपके बारे में कोई ग़लतफ़हमी हमारे मन में नहीं है।"

मेरी एक भयंकर भूल

मौलाना आज़ाद ने जो साहित्य-अकादमी क़ायम की थी उसकी प्रबन्ध-समिति में उन्होंने मेरा नाम दे दिया था। श्रद्धेय राधाकृष्णन जी उसके प्रधान थे। एक दिन उन्होंने अकस्मात् मुझसे पूछा, "क्या

1. बुन्देलखण्ड के युवा काँग्रेस कार्यकर्त्ताओं ने एक दिन पहले 15, विंडसर प्लेस, नयी दिल्ली में इस प्रस्ताव की चर्चा की थी।

कारण है कि आप राज्यसभा में नहीं दीख पड़ते" राधाकृष्णन जी राज्यसभा के अध्यक्ष थे और उनका यह प्रश्न सर्वथा उचित और सही भी था। मैंने उत्तर दिया, "मैं घर पर कुछ काम करता रहता हूँ।" इस पर राधाकृष्णन जी ने कहा, "देअर आर इंपोर्टेंट स्पीचिज़ इन राज्यसभा।" (राज्यसभा में कुछ आवश्यक भाषण होते हैं)। इस पर मैंने नासमझी से उत्तर दे दिया, "आई हैव मोर इंपोर्टेंट वर्क टू डू एट होम। (मुझे घर पर इससे भी आवश्यक काम करने होते हैं।) मेरा यह उत्तर मूर्खतापूर्ण था। क्योंकि दरअसल किसी सांसद का प्रथम कर्त्तव्य संसद के प्रति ही है। मेरा कथन सर्वथा अनुचित ही था। यद्यपि पार्टी से अनुमति लेकर ही मैं घर पर शहीदों का काम किया करता था।



प्रसिद्ध क्रान्तिकारी डॉ० खानखोजे के साथ लेखक

मैं प्रातःकाल चार बजे उठकर अपना कार्य शुरू कर देता था। एक घण्टे टहलकर ग्यारह बजे निवृत्त हो जाने पर मुझमें इतनी शक्ति ही शेष नहीं रहती थी कि मैं पार्लियामेण्ट जा सकूँ। शाम के वक्त कभी-कभी वहाँ पहुँचकर हस्ताक्षर कर आता था। हमारी काँग्रेस पार्टी के सदस्यों की संख्या इतनी अधिक थी कि 2-4 मेम्बरों की गैरहाज़िरी से कुछ अन्तर नहीं पड़ता था। हाँ, पार्टी की ओर से यह शर्त अवश्य रख दी गयी थी कि जब दो-तिहाई वोटों की ज़रूरत पार्टी को पड़ेगी तो फ़ोन करके मुझे बुला लिया जायेगा। शहीदों और क्रान्तिकारियों के विषय में जो 20-21 ग्रन्थ तथा विशेषांक मैं निकाल सका उसका श्रेय पार्टी की उदारता को ही मिलना चाहिए। इसके अतिरिक्त नयी दिल्ली में मैंने हिन्दी भवन की भी स्थापना कर दी थी और निरन्तर ग्यारह वर्ष तक उसका भी काम मैंने किया था। आदरणीय बहिन सत्यवती मलिक उसकी मंत्री थीं और मैं प्रधान। संस्था-संचालन की कठिनाइयों का तब मुझे भरपूर अनुभव हुआ। ग्यारह वर्ष में कम से कम साढ़े तीन हज़ार रुपये मुझे गाँठ से हिन्दी भवन के लिए ख़र्च करने पड़े, और बहुत-सा समय देना पड़ा, सो अलग। जब श्रमजीवी पत्रकारों का प्रश्न पार्लियामेण्ट के सामने आया था तब मुझे विशेष परिश्रम करना पड़ा था क्योंकि मैं अखिल भारतीय श्रमजीवी पत्रकार संघ का सभापति था और पत्रकारों के संगठन से मेरा भी घनिष्ठ सम्बन्ध था।

मैं इस बात को मानता हूँ कि पार्लियामेण्ट के मेम्बर की दृष्टि से मैं सफल नहीं रहा पर उन बारह वर्षों में जो साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्य सर्वथा निःस्वार्थभाव से मेरे द्वारा बन पड़े, वे निष्फल नहीं गये। अपने दिल्ली प्रवास में मैं सस्ता साहित्य मण्डल, आत्माराम एण्ड सन्स, तथा भारतीय ज्ञानपीठ के निकट सम्पर्क में आ सका, जो मेरे लिए लाभदायक सिद्ध हुआ। इन संस्थाओं ने मेरे ग्रन्थों को छापा और उनसे मेरे व्यक्तित्व के विकास में बड़ी सहायता मिली।

मेरा निवास स्थान, 99 नार्थ एवेन्यू, एक केन्द्र-सा बन गया था। कितने ही प्रतिष्ठित व्यक्ति वहाँ पधारा करते थे। राजा महेन्द्रप्रताप, डॉ० खानखोजे (क्रान्तिकारी), वामनदत्तोपोद्दार (इतिहासवेत्ता), शान्ति-नारायण भटनागर (संस्थापक, उर्दू स्वराज्य), आशुतोष लाहिड़ी (हिन्दू महासभा), वेदमूर्ति सातवलेकर जी इत्यादि ने मेरे यहाँ पधारने की कृपा की थी। अनेक रूसी विद्वान् भी पधारे थे और सीमा प्रान्त के श्री अमीरचन्द बम्बवाल का प्राय: आगमन होता था। साम्यवादियों से तो मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध था ही।

नयी दिल्ली में जो कुछ मैंने कमाया उसे वहीं खर्च कर दिया और नकद 1346 रुपये लेकर मैं सन् 1964 में घर लौटा जिनमें एक हज़ार रुपये भाई सीताराम सेकसरिया द्वारा दिये गये थे। आर्थिक दृष्टि से मैंने कभी विचार नहीं किया और मैं उसे कोई महत्त्व भी नहीं देता। नयी दिल्ली में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, महाकवि दिनकर, कविवर बच्चन जी, डॉ० केसकर, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' इत्यादि से प्राय: मिलना-जुलना रहता था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि हमारे देश की प्रथम संसद में संयोगवश अनेक लब्धप्रतिष्ठ साहित्य सेवियों का संगम हो गया था। वैसा बानक अब शायद ही कभी बने! स्वामी केशवानन्द जैसे संन्यासी अब देश में होना दुर्लभ है। उन्होंने अपनी संस्थाओं के लिए पचास लाख रुपया इकट्ठा किया था, जबकि वह अपने ऊपर बहुत ही कम खर्च करते थे। मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया बन्धुवर बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की सहृदयता ने। यद्यपि वह उम्र में मुझसे पाँच वर्ष छोटे थे तथापि उनका मुझ पर पूरा-पूरा कण्ट्रोल रहता था। उनका आदेश था कि मुझे नित्य प्रति शेव करके स्वच्छ कपड़ों में ही पार्लियामेण्ट में पहुँचना चाहिए। केसकर साहब 'विशाल भारत' के पुराने लेखक थे और उन्होंने अपने विभाग (सूचना-विभाग) की ओर से एक टाइपिस्ट की सुविधा मेरे लिए उपलब्ध कर दी थी और मेरा नाम 'आजकल' के सम्पादक मण्डल में दे दिया था। भाई जयकृष्ण जी टाइपिस्ट से मेरे कार्य में मुझे बड़ी मदद मिली थी। हिन्दी भवन के कार्य में बन्धुवर राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह से बहुत सहयोग मिला था। संसद के सदस्यों को एक कमरा सेवा के लिए मिला करता था। मेरा कमरा स्व० रामधन तथा साथी शिवनारायण श्रीवास्तव के काम आता था। ये दोनों ही हिन्दी भवन के सेवक थे। यदि दिल्ली के इन 12 वर्षों में मुझसे कुछ सेवा बन पड़ी तो उसका श्रेय मुख्यतया श्रद्धेय बहिन सत्यवती मलिक, यशपाल जैन तथा जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी को ही मिलना चाहिए, जिनसे मेरा बहुत पुराना सम्बन्ध था और जो अब भी मेरे सहायक बने हुए हैं।

कविवर दिनकर जी मज़ाक में अक्सर कहा करते थे: "मेरी सरकारी नौकरी चौबे जी ने ही छुड़वा दी और मंत्री भी मैं उन्हीं के आदेश के कारण न बन सका।" बात यह हुई थी कि मैंने बार-बार उनसे आग्रह किया था कि वह साहित्य-सेवा को समय दें और पार्लियामेण्ट में समय बरबाद न करें।

मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि काँग्रेस की कृपा से मैं बारह वर्ष दिल्ली में रह सका। दिल्ली का यह प्रवास मेरे व्यक्तित्व के विकास में अवश्य ही सहायक हुआ और उसके बदले में मेरे द्वारा कुछ साहित्यिक या सांस्कृतिक सेवा बन पड़ी या नहीं, इस प्रश्न का निर्णय मेरे तत्कालीन संगी-साथी ही कर सकते हैं।

22

पत्र-व्यवहार : एक मनोरंजक व्यसन

कोई भाँग पीता है, कोई तमाखू खाता है, किसी को अफ़ीम की लत है, तो किसी को गाँजे का शौक। सुरों की प्रिय सुरा के पीने वालों का तो क्या कहना ; और चाय के पियक्कड़ों की संख्या तो दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है। वह और उसका भाई पीता है गरम चाय, यह सचित्र विज्ञापन पहले कभी टीन पर छपा हुआ, किसी भी नगर में दीख पड़ता था। पर इन सब नशों की तरह का, उतना ही उन्मादक एक नशा और भी है और वह है चिट्ठियाँ भेजने का। शायद पाठक इससे कुछ चौंकें, पर बीसियों वर्षों से इस मद का अमल करने के बाद मैं अनुभव की कुछ बातें इस मनोरंजक व्यसन के बारे में लिख रहा हूँ।

समय, शक्ति और धन के अपव्यय की दृष्टि से यह व्यसन शराब को छोड़कर सम्भवत: अन्य सब व्यसनों से अधिक ख़र्चीला बैठेगा।

अपने जीवन में मुझे कई व्यक्ति ऐसे मिले हैं, जिन्होंने पत्र-व्यवहार को व्यसन के रूप में ग्रहण किया था। उनमें स्वर्गीय पण्डित पद्मसिंह शर्मा और दीनबन्धु एण्ड्रूज़ के नाम उल्लेखीय हैं। पर दीनबन्धु के पत्र-व्यवहार में सेवा तथा परोपकार की भी भावना थी और जहाँ कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ध्यान आया कि व्यसन का असली मज़ा किरकिरा हो जाता है। पीने वाला तो अपनी मौज के लिए पीता है।

स्वर्गीय शर्मा जी ने अपने ग्रन्थ 'पद्म पराग' में एक जगह लिखा है: "पत्र व्यवहार मुझे एक व्यसन-सा लग रहा है। पत्र लिखते-लिखते ही मैंने कुछ लिखना सीखा है।" इसमें सन्देह नहीं कि स्वर्गीय शर्मा जी इस व्यसन के आचार्य थे। कला शब्द का प्रयोग हम जान-बूझकर नहीं कर रहे, क्योंकि कला में कृत्रिमता का समावेश हो जाता है। वैसे भाषा और भाव की दृष्टि से उनके पत्र हिन्दी में पत्र-लेखन कला के भी सर्वोत्तम दृष्टान्त माने जायेंगे।

दीनबन्धु एण्ड्रूज़ तो पत्रों की वर्षा-सी करते थे। स्वयं गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उन्हें लिखा था : "अबाउट वन थिंग आइ कैन नेवर होप टू कम्पीट विद यू, एज़ ए लेटर राइटर यू आर इन्कम्पेयरेबल" अर्थात् एक बात में मैं आपका मुक़ाबला करने की आशा भी हर्गिज़ नहीं कर सकता, पत्र लेखक की हैसियत से आप अद्वितीय हैं।

सौभाग्य से इन दोनों ही महानुभावों के सैकड़ों ही पत्र मेरे संग्रहालय में सुरक्षित हैं। यद्यपि पत्र लेखक की हैसियत से दोनों की ही चरण रज लेने का भी अधिकारी अपने को नहीं मानता, तथापि इतना

अवश्य कहूँगा कि इस नशे के कारण मैंने अपनी बहुत कुछ साहित्यिक हानि की है।

मैंने कहीं पढ़ा था कि जर्मनी के महान् कवि गेटे ने पत्रों के विषय में एक नियम बना लिया था। वह उन्हीं पत्रों का उत्तर देते थे, जिनमें उन्हें कोई कुछ देने का वचन देता था और शेष पत्रों को, जिनमें उनसे कुछ माँगने की बात होती, फाड़ फेंकते थे। सुना है कि ऑस्कर वाइल्ड बहुत ही कम चिट्ठियों का जवाब देते थे और उन्होंने एक जगह लिखा था कि पत्रों का उत्तर देना अपने साहित्यिक जीवन को नष्ट करना है। अमरीका के सुप्रसिद्ध लेखक थोरो पत्रों को बिल्कुल ही महत्त्व नहीं देते थे। एक पत्र के उत्तर में उन्होंने लिखा था : "मैंने कभी आपको पत्रोत्तर देने का वचन नहीं दिया, इसलिए यह पत्रोत्तर भेजकर मैं अपनी प्रतिज्ञा से ऊपर का काम कर रहा हूँ।" उन्होंने एक जगह यह भी लिखा था : "जो आदमी भाग-भागकर डाकख़ाने जाते हैं और वहाँ से अपने नाम आये पत्रों का पुलन्दा लाते हैं···ऐसा प्रतीत होता है, उन्हें बहुत दिनों से अपने भीतर वाले से कोई ख़बर नहीं मिली।" थोरो का अभिप्राय सम्भवतः यही था कि पत्र-व्यवहार के व्यसन करने वालों की अन्तरात्मा अविकसित रह जाती है।

हिन्दी के कई प्रतिष्ठित लेखकों और लेखिकाओं ने थोरो के इस उपदेश को सुना हो या न सुना हो, पर उनके द्वारा इसका आचरण अवश्य होता रहा है और तदर्थ हम उन्हें दोष नहीं देते।

पत्र-व्यवहार की बीमारी मुझे कब और कैसे लगी, यह मैं ठीक-ठीक नहीं बतला सकता पर इतना मैं जानता हूँ कि यह सत्तर वर्ष से अधिक पुरानी है। जैसे शराब का नशा करने वाले अपने बचाव के लिए कभी-कभी कह देते हैं, "अजी साहब, बलराम पीते थे और सुकरात भी पीते थे तो हमीं ने क्या गुनाह किया है?" और एक बार स्वर्गीय प्रतापनारायण मिश्र ने तो नाटक के बीच कह दिया था—

बामन पीवे, खत्री पीवे, पीवे अग्गरवाला।
हम ऐडीटर पी लई तो करेगा क्या कोई साला!

उसी प्रकार हम भी कह सकते हैं कि सुप्रसिद्ध लेखक रोमा रोलाँ को भी पत्र-व्यवहार का व्यसन था और यह व्यसन उन्हें टॉलस्टॉय ने लगाया था। अपनी छात्रावस्था में रोमा रोलाँ ने टॉलस्टॉय के नाम एक पत्र लिखा था। उन्हें इस बात की बिल्कुल आशा न थी कि वह महान् लेखक एक मामूली विद्यार्थी के पत्र का उत्तर देगा, पर टॉलस्टॉय ने अड़तीस पृष्ठ का जवाब भेज दिया। बस उसी दिन से रोमा रोलाँ ने यह प्रतिज्ञा कर ली कि यदि कोई आदमी अपने संकट के समय में अपनी अन्तरात्मा से प्रेरित होकर पत्र लिखेगा तो उसका उत्तर अवश्य दूँगा। परिणामस्वरूप उन्होंने सहस्रों ही पत्र लिखे।

मछली का शिकार

पत्र-व्यवहार मछली के शिकार जैसा व्यसन है। दोनों में अनन्त धैर्य की आवश्यकता है। मछुए को उतना आनन्द किसी भारी-भरकम मछली के काँटा निगलने पर भी न आता होगा जितना किसी महापुरुष से पत्र पाने पर पत्र-व्यवहार के शिकारी को आता है।

आज से सड़सठ वर्ष पहले की बात है कि मैंने 'फ़ीजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष' नामक पुस्तक (जो स्वर्गीय पण्डित तोताराम जी सनाढ्य की सहायता से और उन्हीं के नाम से लिखी गयी थी) कवीन्द्र श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर की सेवा में भेज दी। मैं जानता था कि गुरुदेव प्रवासी भारतीयों के शुभचिन्तक हैं और दीनबन्धु तथा मि० पियर्सन के कारण उनके प्रश्नों में रुचि भी रखते हैं इसलिए पत्रोत्तर की कुछ आशा थी, वैसे उन

जैसे विश्व-विख्यात महापुरुष से पत्र पा लेना आसान नहीं था। मेरी वह आशा पूर्ण हुई। गुरुदेव ने निम्नलिखित पत्र[1] भेजकर मुझे कृतार्थ किया :

कलकत्ता
8 नवम्बर, 1915

प्रिय महोदय,

अपनी फ़ीजी द्वीप में स्थित प्रवासी भारतीयों के संदर्भ में लिखित विशिष्ट हिन्दी पुस्तक के लिए मेरा धन्यवाद स्वीकार कीजिए। यह एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है और मुझे आशा है कि यह उन मित्रों के लिए उपयोगी होगी—जो भारतीय प्रवासियों की भलाई के लिए कार्य कर रहे हैं।

भवदीय
रवीन्द्र नाथ टैगोर

इसके बाद गुरुदेव से चार पत्र मुझे और भी मिले, जिनमें दो बँगला में हैं। एक बार मैंने देवनागरी लिपि में एक बँगला चिट्ठी गुरुदेव की सेवा में भेजने की धृष्टता की थी। बँगला में लिखने का वह प्रथम प्रयत्न ही था, इसलिए स्वभावतः उसमें अनेक भूलें रह गयी थीं पर गुरुदेव ने लिखा—

"आपनार बाँगला चिठि खानि सुन्दर हइयाछे। दुइ एकटि या भूल आछे ताहा यत्सामान्य।"

गुरुदेव की चिट्ठी कुछ विस्तृत थी। गुरुदेव से अपने बँगला पत्र की सुन्दरता के विषय में यह सर्टीफिकेट पाने के बाद मैंने बंगला पढ़ना बिल्कुल छोड़ दिया।

गुरुदेव मुझसे इस बात से कुछ असन्तुष्ट थे कि मैं उनसे निरन्तर अंग्रेज़ी में ही बोलता था। और एक बार तो उन्होंने मधुर डाँट भी बतला दी थी। उन्होंने कहा, "देखिये, जब मैं हिन्दी सीखूँ, उस समय मुझसे हिन्दी बोलिये और साधारणतः बँगला में। अंग्रेज़ी क्यों बोलते हैं?"

और एक बार तो दीनबन्धु एण्ड्रूज़ ने भी यही शिकायत की। उन्होंने कहा, "मैं बापू से कहूँगा कि मैं शुद्ध हिन्दी बोलना इसलिए नहीं सीख पाया कि बनारसीदास मुझसे बराबर अंग्रेज़ी ही बोलता है।" गुरुदेव ने मुझे स्वयं पढ़ाना शुरू भी किया था, पर शीघ्र ही मुझे साबरमती आश्रम चला जाना पड़ा। गुरुदेव ने अपने पत्र में अपनी कक्षा का ज़िक्र करते हुए लिखा था :

"आश्रम आमार बाँगला अध्यापनार काज एखनउ चलितेछे। पाटेल भाइ प्रभृतिके लइया विचित्र प्रबन्ध नामक ग्रन्थ पाठ आरम्भ हइया छे। आपनि थाकिले खुसि हइतेन—आपनार फिरिया आसार जन्य अपेक्षा करितेछे।"

1.

Calcutta
Nov. 8, 1915

Dear Sir,

Please accept my thanks for your remarkable Hindi book dealing with the Indian emigrants in Fiji Island. It is a valuable document and I hope it will lead to beneficial results in the hands of our friends, who are working in the interest of Indian Emigrants.

Your Sincerely
Rabindra Nath Tagore

पर मैं महात्मा जी के पूर्ण जाल में फँस चुका था—और वह ऐसा जाल था, जिसमें फँसकर निकलना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था—इसलिए गुरुदेव के चरणों के निकट बैठकर बँगला पढ़ने का अवसर फिर मुझे न मिला।

पत्र-व्यवहार का जाल

मैं स्वयं अपने पत्र-व्यवहार का जाल बराबर फैलाता रहा और दुर्भाग्य की बात यह हुई है कि विज्ञापित हो जाने के बाद स्वयं मैं उस जाल में फँस गया। नतीजा यह हुआ कि फ़ालतू पत्र-व्यवहार में बहुत-सा वक्त बर्बाद हुआ और कितने ही आवश्यक पत्रों के उत्तर न दे सका। पर इस दुर्घटना के पूर्व मैं स्वर्गीय माननीय श्रीनिवास शास्त्री से, जिनकी गणना भारत के सर्वश्रेष्ठ पत्र-लेखकों में की जा सकती है, कई दर्जन पत्र पाने में सफल हो चुका था। उनमें कई पत्र तो भाषा और भाव की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उन पर अलग से एक निबन्ध ही लिखा जा सकता है।

महात्मा जी से भी पत्र-व्यवहार हुआ और उनके पत्र तो मेरे क्षुद्र संग्रहालय की अमूल्य निधि हैं। वह भी एक अलग लेख के अधिकारी हैं।

पूज्य द्विवेदी जी ने भी 50-60 पत्र भेजने की कृपा की और मैं यह अभिमान के साथ कह सकता हूँ कि उनके भेजे हुए दो-तीन पत्र इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनके मुक़ाबले के पत्र शायद ही अन्य किसी हिन्दी लेखक के पास हों। मेरे लिए यह अत्यन्त दु:ख की और लज्जा की बात है कि मैं श्रद्धेय द्विवेदी जी के अन्तिम पत्र का उत्तर भी नहीं दे सका। वह निम्नलिखित है :

दौलतपुर (रायबरेली)
2-3-38

प्रिय चतुर्वेदी जी,

पहले तो आप मुझ पर विशेष कृपा किया करते थे। क्या कारण है जो अब आप मेरी ख़बर तक नहीं लेते—जीता हूँ या मर गया। मालूम हुआ है कि आप 'विशाल भारत' से किनाराक़शी करके टीकमगढ़ चले गये। क्या कलकत्ते से सदा के लिए विदा हो आये? आशा है, महाराजा साहब की छत्रछाया में आप सानन्द और सुखी होंगे—किसी बात की कमी न होगी : साम्पत्तिक अवस्था भी अब अच्छी होगी।

महाराजा साहब ने बहुत यश, बहुत कीर्ति कमाई है। उनका हिन्दी-प्रेम सर्वथा प्रशंसनीय है। अनेक ग्रन्थकारों, कवियों और हिन्दी हितैषियों के विषय में वह द्वितीय कर्ण रहे हैं। ईश्वर करे कि वह दीर्घायु हों और उनका कल्याण हो। यह लिखते समय मुझे संस्कृत का एक श्लोक याद आ रहा है। अर्क (मदार) की झाड़ी वर्षा ऋतु से कहती है—

त्वयि वर्षति पर्जन्य सर्वे पल्लविता द्रुमाः।
अस्माकमर्क वृक्षाणां जीर्ण पत्रेऽपि संशयः॥

मैं बहुत वृद्ध हो गया। कमज़ोरी बेहद बढ़ रही है। चलने में पैर लड़खड़ाते हैं। दृष्टि मंद हो गयी। 'लीडर' अब अच्छी तरह नहीं पढ़ सकता। छटाँक भर दलिया भी हज़म नहीं होता। दूध पीकर और लौकी का ज़रा-सा साग खाकर जी रहा हूँ। देखूँ, ये भोग कब तक भोगने पड़ें।

कृपापात्र
म० प्र० द्विवेदी

मैंने द्विवेदी जी की सेवा के लिए कुछ प्रयत्न किया भी पर उसमें मुझे सफलता नहीं मिली। जो महानुभाव बाधक हुए उनका नाम लेना मुनासिब न होगा क्योंकि वे भी अब इस लोक में नहीं हैं।

इसी प्रकार माननीय श्रीनिवास शास्त्री जी तथा रोम्या रोलां के भी अन्तिम पत्रों के उत्तर नहीं जा सके। मैं सोचता ही रहा कि फ़ुर्सत मिलते ही बढ़िया ढंग से चिट्ठी लिखूँगा और फिर प्रमादवश वह अवकाश कभी नहीं मिला।

दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ जी ने एक बार कहा था, "यह तुम बहुत अच्छा करते हो कि 'एक भारतीय हृदय' के उपनाम से लिखते हो। जिस दिन तुम्हारा नाम विज्ञापित हो जायेगा, चिट्ठियों का जवाब देते-देते तुम्हारी नाकों दम आ जायेगा।"

दीनबन्धु की भविष्यवाणी भयंकर रूप से सफल हुई और मेरे लिए यह नुसखा 80 से 90 रुपये महीने तक का आ बैठा। यही नहीं, महीने में बीस दिन पत्रोत्तर में ही जाने लगे और अभी तक यही विघातक क्रम चल रहा है।

एक बार एक कौवे ने हँस की चाल चलने का उपक्रम किया था, सो वह अपनी चाल भी भूल गया; और एक बार एक श्वान महोदय ने मुर्गे की बोली बोलने का प्रयत्न किया तो 'भूकरूँ भूँ' की ध्वनि निकली थी। वैसा ही दुष्परिणाम मुझे भी भोगना पड़ा है।

एक महाशय ब्रह्मचर्य पर किताब लिखते हैं और तत्सम्बन्धी पत्र व्यवहार में मैं उलझ जाता हूँ यद्यपि ब्रह्मचर्य के लाभों के बजाय उसकी हानियों से अधिक परिचित हूँ।

समाचारपत्रों के भोले-भाले पाठक, सम्पादक को सर्वज्ञ मान लेते हैं और उन्हें यह भ्रम भी हो जाता है कि सम्पादकों के पास फ़ालतू समय बहुत है। कोई नवयुवक महोदय लिखते हैं कि स्त्री से झगड़ा होता रहता है, क्या किया जाय? तो कोई महिला लिखती हैं, मेरे लड़की हुई है, उसका नाम आप बतलाइये; और लेखक बनने के इच्छुक नवयुवकों के तो अनेकों पत्र आया करते हैं। सहृदयतापूर्वक और सन्तोषजनक उत्तर न देना एक प्रकार से अशिष्टता ही होगी, इसी भावना से प्रेरित होकर वस्तुतः सहस्रों ही पत्र मुझे लिखने पड़े हैं। इसके सिवाय यह बात मैं कभी नहीं भूल पाया कि कभी मैंने इसी प्रकार विज्ञापित या सुप्रसिद्ध व्यक्तियों का समय लिया था। अतः अब जिज्ञासु छात्रों के पत्रों को रद्दी की टोकरी में फेंकना नालायक़ी होगी।

पत्रों के विषय में स्व० रामानन्द बाबू की नीति सर्वोत्तम थी। वह सप्ताह-भर की चिट्ठियों का जवाब केवल रविवार को दिया करते थे। और काम-विज्ञान के सर्वोच्च विशेषज्ञ हेवलाक ऐलिस ने यह नियम बना लिया था कि साल-डेढ़ साल में जब वह कोई लेख लिख पाते तब जिज्ञासु पत्र लेखकों को उस लेख का रीप्रिण्ट भेज देते थे। महात्मा जी अनेक पत्रों का उपयोग अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों में कर लेते थे। श्री अमरनाथ जी झा ने एक उत्तम युक्ति निकाल ली थी। मतलब की बात वह तीन-चार पंक्तियों में अत्यन्त सुन्दर अक्षरों में लिख भेजते थे।

बन्धुवर माखनलाल जी चतुर्वेदी और श्रीमती महादेवी वर्मा ने अनावश्यक पत्र-व्यवहार से तंग आकर शायद यह नियम ही बना लिया था कि पत्र का जवाब न देना ही उनका सर्वोत्तम उत्तर है। पर पूज्य द्विवेदी जी की तरह भाई श्री कृष्णदत्त पालीवाल जी प्रत्येक पत्रों का उत्तर देते थे यद्यपि वह उत्तर संक्षिप्त ही होता था। इस व्यसन के बारे में यह बात ईमानदारी के साथ स्वीकार करनी पड़ेगी कि यह

सौदा बिल्कुल घाटे-ही-घाटे का रहा हो, सो बात नहीं। जब साढ़े चौदह वर्ष तक मुझे कुण्डेश्वर में एकांत जीवन व्यतीत करना पड़ा, तब इस व्यसन ने शुष्क जीवन में रस का संचार किया है। पत्र व्यवहार एकाकीपन के रोग की एक औषधि अवश्य है। कितने ही लोग उस हर्ष और आनन्द का अनुमान भी नहीं कर सकते जो एक रुपये के छः कार्डों द्वारा दिया जा सकता है और बचा हुआ दस पैसा मुनाफ़े में, सो अलग। पर आनन्द का यह वितरण 'स्वान्तः सुखाय' ही होना चाहिए। परोपकार की भावना से जहाँ तक इस नशे का सम्बन्ध है, मूलतः ग़लत है।

जिन्हें पत्र-व्यवहार का रोग लगा हो उनसे हम कहेंगे कि यदि आप साहित्य के क्षेत्र में कोई उल्लेख योग्य रचनात्मक कार्य करना चाहते हैं, तो इस बीमारी को न पालिये। पर हम जानते हैं, चैत-क्वार में जैसे मलेरिया फैलता है उसी प्रकार जीवन के एक विशेष भाग में पत्र-व्यवहार का यह खसरा निकले बिना नहीं रहता। डाकख़ाने इसी से चलते हैं।

पत्र-व्यवहार, जैसा कि मैं कह चुका हूँ, मेरे लिए घाटे का सौदा नहीं रहा। विदेश के किसी महान् लेखक ने लिखा था : "यदि मुझे कोई ऐसा क़ुतुबनुमा (दिशासूचक-यन्त्र) मिल जाए, जो उस दिशा की ओर इशारा करता हो, जहाँ महापुरुष रहते हों, तो मैं सब घर-द्वार, सम्पत्ति तथा साधन बेचकर उसी दिशा की ओर चल पड़ूँगा।" यदि धृष्टता क्षन्तव्य मानी जाय तो मैं कहूँगा कि पत्र-व्यवहार के रूप में वह क़ुतुबनुमा मुझे मिल गया था। मैं प्रत्येक पत्र अच्छे से अच्छे काग़ज़ पर और अपने सर्वोत्तम अक्षरों में भेजा करता था। मैं फ़ाउण्टेनपेन से नहीं, बल्कि मिचल जी निब से बढ़िया काग़ज़ पर लिखा करता था। अच्छे अक्षरों से हम उस व्यक्ति का सम्मान करते हैं, जिसे पत्र भेजा जाता है और ख़राब अक्षरों से उसकी अवज्ञा। महात्मा गांधी का यह कथन सर्वथा सहृदय था कि : "ख़राब अक्षर लिखना भी एक प्रकार की हिंसा है।" भारत कोकिला सरोजिनी नायडू अपने पत्र घसीट देती थीं। इस कारण महात्मा जी के यहाँ उनके पत्रों को पढ़ाने के लिए कमीशन बिठलाया जाता था। मुझे अपने पत्रों तथा अक्षरों के लिए अनेक सर्टीफ़िकेट मिले थे। पण्डित मोतीलाल नेहरू एक बार काटजू साहब के चुनाव के सिलसिले में एतमादपुर जा रहे थे। टूण्डला स्टेशन पर जब वह गाड़ी का इन्तज़ार कर रहे थे, मैं उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। उस समय उन्होंने मज़ाक में कहा, "जब मेरे पास कोई ऐसा ख़त आता है जिसमें रेड और ब्ल्यू दोनों स्याहियों का प्रयोग किया गया हो तो फ़ौरन समझ लेता हूँ कि यह ख़त बनारसीदास का है।"

जब मैंने केन्द्रीय एसेम्बली में एमीग्रेशन कमेटी क़ायम करने का प्रस्ताव रखा था तो पं० मोतीलाल जी नेहरू तथा लाला लाजपतराय दोनों ने उसका सदस्य बनना स्वीकार कर लिया था। दोनों के स्वीकृति पत्र राष्ट्रीय अभिलेखागार दिल्ली में सुरक्षित हैं। माननीय श्रीनिवास शास्त्री ने एक पत्र में मुझे लिखा था : "आपका यह पत्र भी आपके अन्य पत्रों की भाँति बहुत सुन्दर है। वृन्दावन में मेरे सामने आचार्य गिडवानी ने भाई परिपूर्णानन्द जी से कहा था, "अच्छे अक्षर लिखना बनारसीदास से सीखिए।" जब मैंने साबरमती आश्रम में रहते हुए महात्मा जी से यह प्रार्थना की कि वह मुझे टाइप-राइटर ख़रीदने की अनुमति दे दें तो उन्होंने कहा, "तुम्हारे अक्षर तो मोती से जड़े हुए होते हैं, तुम्हें टाइप-राइटर की ज़रूरत ही क्या है?" जब 'लीडर' कार्यालय में मेरा कोई लेख पहुँचता था तो उसके संयुक्त सम्पादक श्री कृष्णाराम मेहता उसका सम्पादन किए बिना प्रेस में दे देते थे, क्योंकि कम्पोज़ीटरों को मेरे अक्षर पढ़ने में बहुत सुविधा होती थी।

एक बार जब मैं गुजरात विद्यापीठ में हिन्दी अध्यापक था, तो मैंने अपनी क्लास में अपना मज़ाक

उड़ाते हुए कहा था, "मेरे अक्षर इतने अच्छे हैं कि यदि मैं लड़की होता तो कोई कम्पोज़ीटर मुझसे शादी करने के लिए तुरन्त राज़ी हो जाता।" मेरी उस कक्षा में दो लड़कियाँ भी थीं—सरदार वल्लभ भाई पटेल की पुत्री कु० मणि बहिन, और सेठ अम्बालाल साराभाई की भतीजी सरला जी। वे दोनों लड़कियाँ हँसने लगीं और एक ने कहा, "पण्डित जी बड़े रसिक हैं।"

सहस्रों पत्र भेजने के कारण उत्तर में मुझे हज़ारों ही पत्र मिले हैं और वह मेरे संग्रहालयों की अमूल्य सम्पत्ति बन गये हैं। कुछ लोग तो मुझे पत्र-लेखन-कला का प्रवर्तक ही मान बैठे हैं पर दरअसल प्रवर्तक की उपाधि तो आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा को ही मिलनी चाहिए। हाँ, उसकी लोक-प्रियता को बढ़ाने में मेरा हाथ अवश्य रहा है। स्वयं मैंने स्व० भाई हरिशंकर जी की सहायता से पं० पद्मसिंह जी के लेखों का संग्रह प्रकाशित किया था। उसकी भूमिका में जो मेरा विस्तृत लेख है, पत्र लेखन कला, वह पुस्तक रूप में अलग भी प्रकाशित हो सकता है। इसके सिवाय मैंने सर्वश्री माखनलाल चतुर्वेदी, मुंशी अजमेरी जी, रामनरेश त्रिपाठी, पीर मुहम्मद मूनिस, शिवपूजन सहाय, रामवृक्ष बेनीपुरी, वासुदेव शरण अग्रवाल तथा हजारी प्रसाद जी द्विवेदी के पत्र भिन्न-भिन्न पत्रिकाओं में छाप दिये थे। भाई वृन्दावन दास जी ने वासुदेवशरण जी के पत्रों का संग्रह अलग से पुस्तकाकार में प्रकाशित करा दिया था। यही नहीं, उन्होंने मेरे डेढ़-सौ पत्र भी छपा दिये थे। मैंने स्वयं स्व० वंशीधर जी विद्यालंकार तथा भाई हरिशंकर शर्मा के तीन-तीन सौ पत्रों की चार-चार प्रतियाँ टाइप कराके सुरक्षित करा दी थीं। इसके सिवाय हिन्दी में अनेक पत्र-संग्रह पहले प्रकाशित हो चुके हैं—यथा; महर्षि दयानन्द के पत्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी के पत्र (बैजनाथ सिंह विनोद द्वारा संग्रहीत), श्री किशोरी दास वाजपेयी का पत्र-संग्रह इत्यादि।

मैंने सुना है कि उर्दू में पत्र-संग्रह की संख्या लगभग एक सौ होगी। उस भाषा में अनेक प्रतिष्ठित लेखकों के पत्रों का संग्रह हो गया है। जब मैं पानीपत में मौलाना हाली की शताब्दी पर गया था, तो एक पुस्तक विक्रेता के पास मौलाना हाली के उर्दू पत्रों की चार जिल्दें थीं। सुना है कि अलीगढ़ से उर्दू का कई पृष्ठों का संग्रह एक विशेषाँक के रूप में प्रकाशित हुआ था और अंग्रेज़ी में तो सैकड़ों ही पत्र-संग्रह हैं। लाखों ही पत्र डाकियों के हाथ से रोज़ निकला करते हैं और उनमें से अधिकाँश रद्दी की टोकरी में चले जाते हैं, जिनमें अनेक महत्त्वपूर्ण व संग्रहणीय हो सकते हैं। किसी अंग्रेज़ लेखक ने लिखा था: "केवल वे ही पत्र संग्रहणीय हैं जो कभी नहीं लिखे जाने चाहिए थे; और लिखे भी गये होते तो नष्ट कर दिये जाते।"

बन्धुवर बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के कुछ पत्र, जो उन्होंने मुझे लिखे थे, इस श्रेणी में आ सकते हैं। ऊटपटाँग जो भी विचार उनके मन में आते थे, उन्हें वह बिना संकोच के मुझे लिख भेजते थे। मैंने उनका एक भी पत्र नष्ट नहीं किया था और सबको नर्मदा के विशेषाँक में छाप दिया था।

23

जिन ग्रन्थों ने मुझे प्रभावित किया

यह बात मैं कई बार लिखा चुका हूँ कि मैं ज़्यादा पढ़ता नहीं। चलती-फिरती किताबों—सजीव मनुष्यों—को पढ़ने में मेरी रुचि है जब कि निर्जीव पुस्तकें मुझे आकर्षित नहीं करतीं।

प्राचीन ग्रन्थों में मुझे गीता और धम्म-पद निरन्तर प्रेरणा देते रहे हैं। महाभारत का एक संक्षिप्त संस्करण, जो इण्टर के कोर्स में था, मैंने पढ़ा था। स्व० चिन्तामणि वैद्य की लिखी महाभारत की समीक्षा मुझे बहुत पसन्द आयी, और शान्तिलाल नानूराम व्यास ने वाल्मीकि रामायण पर जो शोध-ग्रन्थ अंग्रेज़ी में तैयार किया था उसका हिन्दी अनुवाद मैंने ध्यानपूर्वक पढ़ा था। महाकवि तुलसीदास की रामायण का अयोध्या काण्ड तथा कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् का राजा लक्ष्मणसिंह कृत हिन्दी अनुवाद मैं पाठ्य-ग्रन्थ रूप में पढ़ चुका था। कविरत्न सत्यनारायणजी द्वारा किया गया उत्तररामचरित का हिन्दी अनुवाद भी मैंने पढ़ा था। सुभाषित रत्न भाण्डागार मेरी प्रिय पुस्तक थी। यह हुई प्राचीन साहित्य की बात।

आधुनिक साहित्य में भी मैंने बहुत कम पढ़ा है। प्रेमचन्द तथा सुदर्शन जी, दोनों की कहानियाँ मुझे प्रिय रही थीं और उनके असाधारण व्यक्तित्व से भी मैं प्रभावित था। स्व० आचार्य श्री वासुदेवशरण जी की पुस्तक 'पृथ्वीपुत्र' तो जनपदीय कार्यकर्त्ताओं के लिए बाइबिल की तरह है। मैं उन्हें, श्री हजारीप्रसादजी तथा राहुलजी को गुरुतुल्य पूज्य मानता हूँ यद्यपि वे तीनों उम्र में मुझसे छोटे ही थे—अग्रवालजी 11 वर्ष, द्विवेदीजी 15 वर्ष और राहुल जी कुछ महीने। कविवर दिनकर जी भी 'विशाल भारत' के ख़ास लेखक थे। उनकी रचनाएँ मैं बराबर पढ़ा करता था। स्व० रविशंकर जी का 'चहचहाता चिड़ियाघर' तथा श्री अन्नपूर्णानन्द जी का 'महाकवि चच्चा' दोनों मेरे प्रिय ग्रन्थ थे। कविवर बच्चन जी तया भाई मोहनलाल जी की कृपा 'विशाल भारत' पर थी और आदरणीय बहिन सत्यवती मलिक तथा स्व० कमला चौधरी की अनेक रचनाएँ मैंने 'विशाल भारत' में छापी थीं। बन्धुवर गुरुभक्तसिंह की 'नूरजहाँ' और राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' के भी अनेक अंश मैंने 'विशाल भारत' में प्रकाशित किये थे। भाई सियाराम शरण जी के बारे में मैंने एक लेख ही लिखा था—'हमारे रुचि के कवि', महाकवि रत्नाकर जी के साथ मैंने कलकत्ते में बारह दिन तक नित्य प्रति वार्तालाप किया था। कविरत्न सत्यनारायण तो मेरे प्रिय कवि थे, उनकी कीर्ति-रक्षा के लिए जो प्रयत्न मैंने किया था, उसकी चर्चा मैं कर चुका हूँ।

यह लिखने में मुझे किसी प्रकार की लज्जा का अनुभव नहीं होता कि मैं अपना मानसिक भोजन

विदेशी ग्रन्थकारों से लेता रहा हूँ। माता सरस्वती की आराधना में देशी-विदेशी का सवाल उठता ही नहीं। अनेक वर्षों तक एमर्सन को मैं स्वाध्याय के रूप में नित्य प्रति प्रातःकाल में पढ़ता रहा। एमर्सन के बारे में किसी विदेशी लेखक ने कहा था : "बौद्धिक दृष्टि से वह ब्राह्मण थे और उनका जन्म भारत में होना चाहिए था।" यह बात ध्यान देने योग्य है कि महात्मा गांधी एमर्सन और थोरो, दोनों के प्रशंसक थे। थोरो के कई निबन्ध, जिनमें एक सिविल डिसऑबिडिएन्स था, उन्हें प्रिय थे। थोरो की पुस्तक 'वाल्डेन' (Walden) ने तो विश्व साहित्य में स्थान पा लिया है और उसका हिन्दी अनुवाद 'वाल्डेन सरोवर' मेरे नाम से ही प्रकाशित हुआ था, यद्यपि यह मुख्यतया मेरे भानजे चि० प्रकाशचन्द्र चतुर्वेदी द्वारा किया गया था।

सुप्रसिद्ध आस्ट्रियन लेखक स्टीफन ज्विग मेरे अत्यन्त प्रिय ग्रन्थकारों में रहे और उनको हिन्दी में लाने का श्रेय भी मुझे ही प्राप्त हुआ था। बकौल रोमा रोलाँ ज्विग की लेखन-शैली आत्मा को जकड़ लेने वाली थी। संसार की 33 भाषाओं में उनके ग्रन्थों के अनुवाद हुए थे। लीग ऑफ नेशन्स की एक रिपोर्ट में ज्विग को 'दि मोस्ट ट्रान्सलेटिड ऑथर इन दि वर्ल्ड' (संसार का सबसे ज़्यादा अनुवादित) लेखक लिखा गया था।

स्वयं रोमा रोलाँ का सुविख्यात उपन्यास 'जीन क्रिस्तोफी' मेरा प्रिय ग्रन्थ रहा है। उसी ग्रन्थ पर उन्हें नोबुल पुरस्कार मिला था। रोमा रोलाँ से पत्र-व्यवहार भी मैंने किया था। उनके तीन पत्र मेरे पास थे जिन्हें मैंने राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित करा दिया है।

विलायत के एडवर्ड कारपेण्टर भी मुझे बहुत प्रिय थे। उनकी विख्यात पुस्तक 'टूवर्ड्स डेमोक्रेसी' मुझे अत्यन्त प्रिय थी और उनके आत्म-चरित—'माई डेज़ एण्ड ड्रीम्ज़'—का सारांश चार लेखों में मैंने 'विशाल भारत' में प्रकाशित किया था।

सुप्रसिद्ध रेखाचित्रकार ए० जी० गार्डनर के अनेक ग्रन्थों को मैंने पढ़ा है। उनसे बढ़िया स्केच कोई दूसरा नहीं लिख सकता था। सुप्रसिद्ध भारतीय लेखक के० ईश्वर दत्त उनके अनुयायी थे। मैं उनका भी प्रशंसक रहा हूँ। एच० डब्ल्यू० नेविन्सन युद्धों के संवाददाता थे। संसार में जहाँ कहीं भी अन्याय होता था वहाँ वह पहुँच जाते थे। मैं उन्हें संसार का सर्वश्रेष्ठ पत्रकार मानता हूँ। पत्रकारिता किसी देश विशेष में सीमित नहीं है, क्योंकि वह अन्तर्राष्ट्रीय विषय है। 'मैनचेस्टर गार्जियन' के सम्पादक सी० पी० स्कॉट हमारे लिए उतने ही पूज्य हैं जितने रामानन्द चट्टोपाध्याय।

हमें विश्व संस्कृति का निर्माण करना है। इसलिए हमारा दृष्टिकोण व्यापक होना चाहिए।

रूस के महान् उपन्यासकार तुर्गनेव का मैं प्रारम्भ से ही प्रशंसक रहा हूँ। उनकी कई रचनाओं का अनुवाद मैंने स्वयं किया और कई का दूसरों से कराया। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'फ़ादर्स एण्ड सन्स' के दो-दो अनुवाद हिन्दी में हुए थे। स्व० जगन्नाथ प्रसाद जी मिश्र द्वारा किये गये तुर्गनेव के दो लघु उपन्यासों के अनुवाद 'प्रेम प्रपंच' और 'स्वामीभक्त' मैंने सस्ता साहित्य मण्डल द्वारा छपवाए थे। तुर्गनेव का मैं इतना प्रेमी था कि उनके सब ग्रन्थ आगरे के सुप्रसिद्ध प्रकाशक स्व० रामप्रसाद के द्वारा ख़रीदवाकर पढ़े थे। जिनकी क़ीमत मैं बहुत वर्षों बाद अदा कर सका था। रूस में तुर्गनेव का आश्रम बहुत दूरी पर है। रात-भर रेल द्वारा यात्रा करने के बाद भी चालीस मील मोटर द्वारा जाना पड़ा था। रूसी सरकार ने उसे ज्यों का त्यों सुरक्षित रखा है। वह छोटे-से वन में था। वहाँ पहुँचकर मैंने उसके दर्शन किये थे और संग्रहालय के निदेशक से बातचीत भी की थी। उन्होंने कहा, "टॉल्स्टॉय यहाँ पधारा करते थे और उनके और तुर्गनेव के बीच इस बात पर विवाद हुआ करता था कि किसका आश्रम बेहतर है। किसी निर्णय पर न पहुँचकर उन्होंने यह फ़ैसला

दिया था कि भविष्य ही इसका निर्णय करे। भविष्य का फ़ैसला तुर्गनेव के पक्ष में था।"

चेख़व की कहानियों का भी मैं प्रशंसक रहा हूँ। 'विशाल भारत' का चेख़व अंक भी मैंने निकाला था। रूस से मैं चेखव शैलीकोव संग्रहालय तथा आश्रम में भी गया था। टॉल्स्टॉय के आश्रम यासनायापोलियाना की यात्रा मैंने दो बार की थी। वहाँ सरकार की ओर से एक निदेशक तथा 100 कर्मचारी नियुक्त हैं। टॉल्स्टॉय के समय में उस उपवन की जैसी स्थिति थी वैसी ही उन्होंने ज्यों की त्यों बनाए रखी है। उस आश्रम में एक छोटे-से पौधे को देखकर मैंने आश्चर्य प्रकट किया तो मेरे दुभाषिये ने कहा कि इसके पास का वृक्ष काफ़ी पुराना हो चुका है। चार-पाँच वर्ष में वह गिर जायेगा। उसके रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए कई वर्ष पहले यह पौधा लगा दिया गया था। हज़ारों विद्यार्थी प्रति वर्ष टॉल्स्टॉय के आश्रम को देखने जाते हैं।

गोर्की भी मुझे प्रिय रहे हैं। उनकी बहुत-सी रचनाओं का अनुवाद मैंने अपने भानजे प्रकाशचन्द्र से करवाया था। मास्को में गोर्की संग्रहालय एक अद्‌भुत वस्तु है। सरकार से उसे लाखों रुपया प्रतिवर्ष की आर्थिक सहायता मिलती है। चार-चार विदेशी भाषाओं के अनुवाद वहाँ से प्रकाशित होते हैं। मैं गोर्की की धर्मपत्नी की सेवा में भी उपस्थित हुआ था और उनकी पुत्रवधू से भी मिला था।

24

साहित्य-सेवियों की कीर्ति-रक्षा

साहित्य-सेवियों की कीर्ति-रक्षा भी मेरे जीवन का मिशन रहा है और उसमें मेरे कितने ही वर्षों के अवकाश का समय व्यतीत होता रहा है। यद्यपि स्वर्गीय पं० सत्यनारायण कविरत्न के दर्शन तो मैंने 1912 में किये थे, जब वह फीरोज़ाबाद पधारे थे पर उनसे निकट परिचय सन् 1918 में इन्दौर के अष्टम हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर हुआ था। मैंने ख़ास तौर पर उन्हें निमंत्रित किया था और सम्मेलन के अवसर पर उनके काव्य-पाठ ने दस-पन्द्रह हज़ार की जनता को मन्त्रमुग्ध-सा कर दिया था। उसी समय मैंने उनकी कविताओं का संग्रह करने का विचार किया था और उसका नाम भी 'हृदय-तरंग' रख दिया गया था। मेरी एक नोटबुक में उन्होंने अपनी कुछ कवितायें लिख भी दी थीं। दुर्भाग्यवश इन्दौर से लौटने के बाद 15-20 दिन के भीतर ही सत्यनारायण जी का स्वर्गवास हो गया था। 'हृदय-तरंग' उनके जीवन काल में छप न सकी। उसके बाद तो उसके दो संस्करण हुए। द्वितीय संस्करण का सम्पादन पं० अयोध्याप्रसाद जी पाठक ने किया था। पाठक जी बड़े काव्य-मर्मज्ञ थे और उर्दू-फ़ारसी तथा ब्रजभाषा के विशेषज्ञ थे। कविरत्न जी के तो वह संरक्षक थे। सत्यनारायण जी को उन्हीं के यहाँ आश्रय मिला था। तत्पश्चात् मैंने कविरत्न जी का जीवन-चरित भी लिखा जिसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने प्रकाशित किया। फिर (सम्मेलन) प्रयाग में सत्यनारायण कुटीर की भी स्थापना करवायी गयी। उसकी स्थापना का प्रस्ताव मैंने ही टण्डन जी के सामने रखा था। उन्होंने उत्तर में लिखा था : "कुछ रुपयों का प्रबन्ध आप कीजिये, शेष का मैं कर दूंगा।" मैंने चन्दा करके 1046 रुपये उन्हें भेज दिये और 4000 रुपये में उन्होंने एक कमरा बनवा दिया था। फिर तो बढ़ते-बढ़ते वह तितल्ला भवन बन गया और उसका उद्घाटन महात्मा गांधी जी ने किया था। कविरत्न जी के एक तैल चित्र का उद्घाटन सन् 1920 में दीनबन्धु एण्ड्रूज़ ने फीरोज़ाबाद पधार कर भारती भवन में किया था।

सत्यनारायण जी के समस्त ग्रन्थों का संग्रह दिल्ली में सन् 1980 में के० एम० मुंशी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा द्वारा प्रकाशित हुआ। तदर्थ मैं उसके निदेशक भाई डॉ० विद्यानिवास मिश्र का कृतज्ञ और ऋणी हूँ। इस प्रकार सत्यनारायण जी की कीर्ति-रक्षा के पुण्य कार्य में 62 वर्ष (1918 से 1980 तक) लग गये।

स्वर्गीय पं० श्रीधर पाठक का जन्म फीरोज़ाबाद से नौ मील दूर एक ग्राम जोंधरी में हुआ था और उनकी मिडिल तक की शिक्षा फीरोज़ाबाद के तहसील स्कूल में हुई थी। यहाँ पं० जयराम जी प्रधानाध्यापक

थे। मेरे पूज्य पिता जी उनके सहपाठी थे। इसलिए स्व० पाठक जी का शुभनाम मैं अपनी बाल्यावस्था से ही सुनता चला आ रहा था। अंग्रेज़ी के सुप्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ का काव्य ग्रन्थ 'ट्रेवलर' एफ० ए० में पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकृत था। मैंने कभी पाठक जी द्वारा किया हुआ उसका अनुवाद 'श्रान्त पथिक' में पढ़ ही नहीं लिया था, उसकी नक़ल भी अपने हाथ से कर ली थी। मैंने उनका जीवन-चरित लिखने का विचार किया और सन् 1920 में मैंने इस उद्देश्य से प्रयाग की यात्रा भी की। मैंने सोलह दिन तक पद्मकोट लूकरगंज, प्रयाग में रहकर पाठक जी के जीवन-चरित-सम्बन्धी पुराने पत्र-व्यवहार आदि की नक़ल की। पाठक जी उस समय जीवित थे। उनका व्यवहार मेरे प्रति अत्यन्त स्नेहपूर्ण रहा और अपने गुरु पं० जयराम के विषय में उन्होंने कई वाक्य स्वयं लिखाये। भाई गिरिधर जी और वागधर जी (पाठक जी के सपुत्र) उस समय बालक ही थे। यह बड़े दुर्भाग्य की बात हुई कि मैं उस बहुमूल्य सामग्री का सदुपयोग न कर सका। यद्यपि स्थानीय डी० ए० वी० कॉलेज की पत्रिका 'ज्योत्स्ना' का श्रीधर पाठक अंक मैंने प्रकाशित कर दिया था, जिसमें भाई मथुराप्रसाद मानव, जो वहाँ प्रवक्ता थे, ने उस कार्य में बड़ी सहायता दी थी। उन्होंने लगभग 20-25 दिन मेरे घर पर आकर मेरे निर्देशन में पाण्डुलिपि तैयार की थी। इसके सिवाय 'विशाल भारत' में भी स्व० पाठक जी के संस्मरण मैंने लिखे थे जो मेरी पुस्तक 'संस्मरण' में उद्धृत कर दिये गये। सन् 1944 में मैंने स्व० भाई सुनहरी लाल जी शर्मा तथा कविवर श्री सुकुमाकर जी के साथ जोंधरी की पैदल तीर्थयात्रा की थी। उसी दिन मुझे अठारह मील पैदल चलना पड़ा। मेरे पूज्य पिता जी जीवित थे और अस्वस्थ थे फिर भी उनसे अनुमति लेकर मैं गया था। इसके कुछ दिनों बाद पिता जी का स्वर्गवास हो गया था। उन्हीं दिनों भाई गिरिधर पाठक जोंधरी गये थे और मेरे घर भी पधारे थे। अकस्मात् मैं उस समय कक्का के फूल लेने के लिए श्मशान घाट पर, जमुना जी गया था और वहाँ से लौटने पर ही गिरिधर जी के आने का समाचार मिला। वह जल्दी में थे अत: प्रयाग लौट गये। मुझे भली-भाँति स्मरण है कि मैंने भाई गिरिधर जी के सामने पत्र-व्यवहार द्वारा यह प्रस्ताव रखा था कि हम दोनों मिलकर पाठक जी का जीवन-चरित लिखें। खेद है कि वह प्रस्ताव जहाँ का तहाँ पड़ा रहा।

62 वर्ष पहले इकट्ठी की हुई सामग्री का पर्चा-पर्चा सुरक्षित है। चि० रामगोपाल पाठक जी का जीवन-चरित लिखना चाहता था और उसने ही राष्ट्रीय अभिलेखागार को पाठक जी से सम्बन्धित सामग्री नहीं भेजने दी। यदि वह दिल्ली चली गयी होती तो उसकी नक़ल कराने में काफ़ी ख़र्चा पड़ जाता।

मेरा विचार है कि अब चि० रामगोपाल भाई मानव जी के सहयोग से इस कार्य को पूरा कर लें। मुझे पूरा विश्वास है कि पाठक जी के पौत्र डॉ० पद्मधर पाठक का सहयोग भी मेरे इस यज्ञ में प्राप्त होगा। इस ग्रन्थ से पैसा कमाने का उद्देश्य मेरा कभी नहीं रहा और अब भी नहीं है।

हाल में बन्धुवर पद्म जी ने एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक छपायी है जिसमें स्व० महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखे हुए पाठक जी के नाम अंग्रेज़ी के पत्र हैं। उनका सरल अनुवाद भी पाठक जी ने दे दिया है। अब आवश्यकता इस बात की है कि पाठक जी की समस्त रचनाओं को उनके जीवन-चरित के साथ छपा दिया जाये।

स्व० हरिशंकर जी से मेरा परिचय बहुत पुराना था। उससे भी पूर्व मैं महाकवि शंकर जी का भक्त बन चुका था। यद्यपि उनके दर्शनार्थ हरदुआगंज की यात्रा मैंने अपने अनुज रामनारायण के साथ सन् 1925 में की थी! भाई हरिशंकर जी मुझसे उम्र में दो-ढाई वर्ष बड़े थे और मेरे साथ वैसा ही व्यवहार करते

थे जैसा कोई अपने छोटे भाई के साथ करता है। कई महीने तक मैं 'आर्यमित्र' में उनका सहायक सम्पादक भी रहा था।

जब स्व० रामानन्द चट्टोपाध्याय ने 'विशाल भारत' का सम्पादन कार्य मुझे सौंपा तो मैंने उसे कलकत्ते के जलवायु ख़राब होने के डर से अस्वीकार कर दिया और अपनी जगह के लिए पं० जयचन्द्र जी विद्यालंकार के नाम की सिफ़ारिश की। रामानन्द बाबू ने वह नाम स्वीकार नहीं किया, इस पर भाई हरिशंकर जी ने मुझसे कहा, "आर्यसमाजी संस्थाओं में नौकरी की कोई पक्कायत नहीं है। व्यवस्थापक बदलने पर नौकरी छूट भी सकती है। जब तक पूर्णचन्द्र जी व्यवस्थापक हैं तब तक तो आपकी नौकरी को कोई ख़तरा नहीं है। इसलिए 'विशाल भारत' के काम को स्वीकार ही कर लीजिए।" मैंने भाई हरिशंकर जी की आज्ञा का पालन किया और 'विशाल भारत' के कार्य ने मेरे जीवन को एक नया मोड़ ही दे दिया। भाई हरिशंकर जी को मैंने बहुत निकट से देखा था। ब्रजभाषा और खड़ी बोली, दोनों पर उनका समान रूप से अधिकार था। वह घोर परिश्रमी थे और जब साइकिल से टकराकर वह गिर पड़े थे तो कई महीने तक खाट पर लेटे-लेटे उन्होंने 'आर्यमित्र' का सम्पादन किया था। वह हास्यरस के तो आचार्य ही थे। उनके साथ वार्तालाप करने में अत्यन्त आनन्द आता था। अर्थ के प्रति उनके हृदय में कोई आकर्षण नहीं था। दिल्ली के एक पत्र में उन्हें हज़ार-बारह सौ रुपये महीने की नौकरी मिल रही थी, पर मालिक लोगों का यह इशारा था कि वह महात्मा गांधी जी के ख़िलाफ़ लिखें। भाई हरिशंकर जी ने साफ़ मना कर दिया और तुरंत लौट आये।

जब पत्र के कार्यालय से प्रथम श्रेणी का दोनों ओर का किराया उन्हें दिया गया तो उन्होंने केवल थर्ड क्लास का किराया लिया, बाक़ी पैसा वापिस कर दिया। यह बात उन दिनों की है जब भाई हरिशंकर जी घोर आर्थिक संकट में थे। उनका जीवन एक साधक तपस्वी का था! महाकवि शंकर जी ने पचास वर्ष आर्य-समाज की सेवा की और इतनी ही दीर्घकालीन सेवा भाई हरिशंकर जी ने की भी थी, आर्यसमाज ने इस कुटुम्ब की शताधिक वर्ष की सेवा को कोई महत्त्व नहीं दिया। भाई शंकर जी के स्वर्गवास के बाद बन्धुवर श्री कुसुमाकर जी के बहुत प्रयत्न करने पर भी लखनऊ की आर्य प्रतिनिधि सभा से कुल जमा 114 रुपये मिल सके जो हरिशंकर जी की चिट्ठियों के टाइप कराने में ख़र्च कर दिये गये। हाँ, फीरोज़ाबाद के डी० ए० वी० कॉलेज ने अपनी पत्रिका 'ज्योत्स्ना' का एक विशेषांक निकाल दिया था जिसमें भाई मथुराप्रसाद मानव ने पूरा-पूरा सहयोग दिया था। वह आगरा शंकर सदन पर रहकर श्री विद्याशंकर जी से सामग्री नोट करके लाये थे। उनकी स्मृति-रक्षा के लिए और कोई प्रयत्न किया गया हो तो मुझे पता नहीं।

अभी कुछ दिन पहले श्रद्धेय राजा रणंजय सिंह (अमेठी के राजा) ने अपने एक पत्र में इस बात पर खेद प्रकट किया था कि 'शंकर सर्वस्व' पुनः प्रकाशित नहीं हो सका। स्वयं भाई हरिशंकर जी के भी कई ग्रन्थ ऐसे हैं जिनकी गणना हिन्दी के स्थायी साहित्य में होनी चाहिए पर उनके नवीन संस्करण प्रकाशित ही नहीं हो सके।

25

मेरे पूज्य

यह भी एक आकस्मिक घटना ही समझिये कि मैं उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के अनेक विद्वानों, कवियों, लेखकों और कार्यकर्त्ताओं के सम्पर्क में आ सका। श्रद्धेय काका साहब कालेलकर के साथ तो मैं साबरमती आश्रम में रहा ही था। वह भारत के सांस्कृतिक राजदूत थे और मराठी, गुजराती, हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेज़ी के महान् पण्डित थे। हिन्दी का जितना प्रचार उन्होंने किया उतना राजर्षि टण्डन जी को छोड़कर और शायद ही किसी ने किया हो। वह मौलिक लेखक भी थे और महात्मा गांधी के अनन्य भक्त भी। उनके लेखों तथा नोटों का यदि संग्रह किया जाये तो वह कम से कम 25 बड़ी ज़िल्दों में आवेंगे। जितने विषयों पर अधिकारपूर्ण ढँग से उन्होंने क़लम चलायी थी उतने विषयों पर हिन्दी जगत् में शायद ही किसी ने लिखा होगा! गुजराती और मराठी भाषा के तो वह शैलीकार ही माने जाते थे। वह बड़े स्पष्टवादी व्यक्ति थे और खरी बात कहने में कभी नहीं चूकते थे।

आचार्य श्री जे० बी० कृपलानी गिडवानी जी के बाद गुजरात विद्यापीठ के प्रिंसिपल बने थे। अपने हास्य और व्यंग्य के लिए वह तब भी प्रसिद्ध थे; काँग्रेस के तो वह जाने-माने नेता थे ही।

प्रोफ़ेसर मलकानी जी भी हमारे साथ ही थे। अछूतों के लिए उन्होंने बहुत काम किया था। मेहतरों के कार्य के बारे में सरकार ने जो कमेटी बनायी थी, उसके वह प्रधान थे। यह बड़े खेद की बात है कि उन जैसे रचनात्मक कार्यकर्त्ता को हम लोग बिल्कुल भूल गये। उनके स्वर्गवास पर केवल काका साहब कालेलकर ने अवश्य लिखा था।

बन्धुवर हरिभाऊ उपाध्याय तो मेरे साथ आश्रम में रहे ही थे। वह मराठी और गुजराती से हिन्दी में अच्छा अनुवाद कर लेते थे और उन्होंने शिक्षाप्रद तथा उपयोगी साहित्य की रचना की थी। अजमेर राज्य में वह मुख्यमंत्री रहे थे और राजस्थान सरकार के वित्तमंत्री भी। सस्ता साहित्य मण्डल ने उनके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित किये थे। मेरे द्वारा स्थापित नयी दिल्ली के हिन्दी भवन के लिए राजस्थान सरकार से उन्होंने काफ़ी आर्थिक सहायता दिलवायी थी। गांधी जी की विचारधारा के वह सुयोग्य समीक्षक थे। वह बड़े विनम्र व्यक्ति थे। जब मैं राजस्थान प्रान्तीय पत्रकार सम्मेलन का प्रधान बनकर जयपुर गया था तो मुझे लेने के लिए वह पौने पाँच बजे प्रातः स्टेशन पर पहुँच गये थे और उन्होंने मुझे अपने पास ही ठहरा लिया था। उनके अनुज स्वर्गीय मार्त्तण्ड जी से भी मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था।

स्व० सम्पूर्णानन्द जी से तो मेरा परिचय सन् 1915 से ही था, जबकि वह विज्ञान-शिक्षक के रूप में राजकुमार कॉलेज इन्दौर में पधारे थे। मैं वहाँ साल-भर पहले से ही हिन्दी अध्यापक था। ढाई वर्ष हम लोगों का साथ रहा। उन दिनों की स्मृतियाँ बड़ी मधुर हैं। श्री सम्पूर्णानन्द जी उच्च कोटि के विद्वान् थे और अनेक विषयों के विशेषज्ञ भी। वह उच्च मानसिक धरातल पर रहने वाले व्यक्ति थे और बौद्धिक अभिमान की भी उनमें अच्छी मात्रा थी। बहुत कम लोगों को वह अपना मित्र बना सकते थे। जिनसे वह खुलकर बात-चीत या पत्र-व्यवहार कर सकते थे, ऐसे आदमियों की संख्या तीन-चार से अधिक नहीं रही होगी। वह घोर परिश्रमी और अत्यन्त संयमी व्यक्ति थे। उन पर अनेक गार्हस्थिक विपत्तियाँ पड़ीं पर उन्होंने धैर्य कभी नहीं छोड़ा। हिन्दी के सुप्रसिद्ध हास्य रसाचार्य स्व० अन्नपूर्णानन्द जी उनके मँझले भाई थे और उनके सबसे छोटे भाई श्री परिपूर्णानन्द जी हैं जिनके महत्त्वपूर्ण लेख हिन्दी तथा अंग्रेज़ी पत्रों में प्रायः निकला करते हैं। सम्पूर्णानन्द जी अत्यन्त निःस्वार्थ कार्यकर्त्ता थे। जीवन के अन्त में वह राजस्थान के राज्यपाल भी रहे थे। उत्तर प्रदेश के शिक्षा मंत्री भी थे। मुख्यमंत्री तो रह ही चुके थे।

26

मैं जिनका ऋणी हूँ

पूज्य माता-पिता के ऋण से तो कोई यावत् जीवन उऋण हो ही नहीं सकता, इस कारण कक्का और अम्मा का ज़िक्र यहाँ नहीं कर रहा। उनके विषय में अलग से इस पुस्तक में लिखा जा चुका है। जब मैंने 1906 में हिन्दी मिडिल पास किया उस समय फ़ीरोज़ाबाद में एक मिशन स्कूल था जिसमें मिडिल तक ही पढ़ाई होती थी। मैट्रिक तथा आगे की पढ़ाई के लिए आगरे जाना पड़ता था। चूँकि पूज्य पिता जी को औसतन दस रुपये मासिक वेतन मिलता था और सम्पूर्ण कुटुम्ब का बोझ उन पर था इसलिए मुझे पढ़ाई के लिए आगरा भेजना उनके लिए असम्भव था। उस संकट के समय मेरे मौसा चौबे चौखेलाल जी ने ग्यारह रुपये मासिक की सहायता देकर मुझे आगरे पढ़ने के लिए भिजवाया था। उन दिनों के ग्यारह रुपये का मूल्य आजकल सौ-सवा सौ रुपये के बराबर तो होगा ही। उनकी सहायता चार वर्ष तक जारी रही। सन् 1913 में मैंने इण्टर परीक्षा पास कर ली। मौसा का विचार मुझे आगे पढ़ाने का भी था पर चूँकि मेरा विवाह कई वर्ष पहले हो चुका था इसलिए मैंने नौकरी करना उचित समझा। अगर मौसा मुझे एफ० ए० पास नहीं करा देते तो मैं कहीं तार बाबू या टिकट कलक्टर ही बन सकता था। इण्टर पास करने के कारण मुझे फर्रुख़ाबाद गवर्नमेण्ट हाईस्कूल में तीस रुपये मासिक पर अध्यापन कार्य मिल गया। मैं मौसा के इस ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकता।

संरक्षकों के मामले में मैं अत्यन्त सौभाग्यशाली रहा। आगे चलकर मुझे दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़, कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ, महात्मा गांधी, महाराज वीरसिंह जू देव ओरछेश का संरक्षण प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् काँग्रेस की कृपा से मुझे बारह वर्ष के लिए राज्यसभा की सदस्यता मिल गयी, जिससे मेरी आर्थिक चिन्ता दूर हो गयी। दलगत राजनीति से मैं सदैव दूर रहा था और राज्यसभा के बारह वर्ष मैंने शहीदों के श्राद्ध तथा क्रान्तिकारियों की कीर्ति-रक्षा में बिता दिये। काँग्रेस के पदाधिकारी मेरे कार्य से सन्तुष्ट थे और उन्होंने मुझे कार्य करने की पूरी स्वाधीनता दे रखी थी। बहुत वर्षों तक श्रीमन्नारायण जी काँग्रेस के महामंत्री थे। उनकी ननसाल हमारे नगर फ़ीरोज़ाबाद में ही थी और वह मुझे घर का बुज़ुर्ग ही मानते थे। उन्होंने दो बार सार्वजनिक सभाओं में इन्हीं शब्दों में मुझे सम्बोधित किया था।

प्रवासी भारतीयों तथा शहीदों का कार्य इतना व्यय-साध्य था कि वह मेरे वेतन से चल नहीं सकता था। पोस्टेज, टाईपिंग तथा स्टेशनरी पर काफ़ी व्यय करना पड़ता था। मेरा घर भिन्न-भिन्न पार्टियों के

व्यक्तियों के लिए खुला हुआ था। सभी दलों के व्यक्तियों के स्वागत तथा आतिथ्य का सौभाग्य मुझे प्राप्त होता रहता था। इस विषय में भाई सीताराम जी तथा भाई भागीरथ जी कानोड़िया की सहायता मुझे बराबर मिलती रहती थी। जब 1964 में मैं पार्लियामेण्ट से रिटायर हुआ, मेरे पास बैंक में कुल जमा 1346 रुपये थे जिनमें 1000 रु० भाई सीताराम सेकसरिया के थे।

अपने दिल्ली निवास के बारह वर्षों में मुझे हिन्दी भवन के लिए, जिसकी स्थापना मैंने 1953 में की थी, काफ़ी चन्दा करना पड़ा। श्रद्धेय जुगलकिशोर बिड़ला तथा उनके अनुज सेठ घनश्याम दास बिड़ला से मुझे 1600 रुपये प्राप्त हुए थे। हिन्दी भवन के दो कमरों का किराया इतना ज़्यादा था कि उसको अदा करना मेरे लिए अत्यन्त कठिन हो जाता था। पहले महीने के किराये के लिए मैंने 100 रुपये भाई राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह से लिये थे और उन्होंने 100 रुपये अपने अग्रज श्री चन्द्रेश्वर प्रसाद नारायण सिंह, वर्तमान राज्यपाल उत्तर प्रदेश, से दिलवाये थे। बहिन सत्यवती मलिक हिन्दी भवन की मंत्री थीं और आगन्तुकों के आतिथ्य की सारी ज़िम्मेदारी उन्हीं पर पड़ती थी।

11 वर्ष तक हिन्दी भवन का संचालन करने के बाद मैंने उसे श्री बाँके बिहारी भटनागर को सौंप दिया और कई वर्ष तक वह उसे चलाते रहे।

1964 में मैं अपने घर फीरोज़ाबाद लौट आया। यहाँ के साहित्यिक कार्यों में सबसे अधिक आर्थिक सहायता मुझे भाई बालकृष्ण गुप्त से मिली। वह मेरा जन्म-दिवस हर वर्ष मनाया करते हैं और मेरे द्वारा किये गये साहित्यिक उत्सवों का व्यय-भार वह ही वहन करते हैं और सहर्ष। प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के लिए उन्होंने अपने पास से लगभग 5000 रुपये ख़र्च कर दिये थे और मेरी पिछली वर्षगाँठ पर भी चार हज़ार रुपये। मेरे अतिथियों के आतिथ्य तथा आवभगत का भार तो उन्होंने ले लिया है। मेरे आवागमन के लिए उनकी कार सदैव प्रस्तुत रहती है। वह साहित्यिक रुचि के व्यक्ति हैं और कविवर रंग जी के संरक्षक भी। उनकी यह सेवा सर्वथा निःस्वार्थ भाव से ही होती है। यद्यपि इस नगर में उनके मुक़ाबले के और उनसे ज़्यादा भी कितने ही साधन-सम्पन्न उद्योगपति हैं पर उनमें गुप्त जी जैसा साहित्यिक तथा साँस्कृतिक प्रेम नहीं पाया जाता। हाँ, ऐसे व्यक्ति और भी हैं, जिनसे समय-समय पर मुझे सहायता मिली है जैसे चन्द्रकुमार जैन और चन्द्रभान मीतल। मेरी प्रार्थना पर भाई चन्द्रकुमार जी ने कई बार साहित्यिक तथा राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को सहायता दी थी और श्री मीतल जी ने शहीद अशफाक़ुल्ला ख़ाँ के भाई रियासततुल्ला ख़ाँ के स्वर्गवास पर 250 रुपये भेजे थे। हमारे नगर के अन्य पूंजीपति भी दान करते होंगे पर उसकी जानकारी न होने के कारण मैं उनका नामोल्लेख नहीं कर सकता। मेरे पिता जी प्रायः कहा करते थे :

जो तृन सम उपकार को जानत सदृश पहार।
ऐसे सुजन कृतज्ञ की होत न कबहूँ हार।।

महाराज वीरसिंह जू देव ने तो बहुत वर्षों तक मेरी आर्थिक सहायता की थी और मुझे आश्रय भी प्रदान किया था। उनकी सहायता से ही मैं एक कच्चा मकान ख़रीद सका। मेरे बच्चों की शिक्षा के लिए वह नियमित रूप से कई वर्षों तक आर्थिक सहायता भेजते रहे थे। उनकी ही संरक्षकता में मैंने कुण्डेश्वर (टीकमगढ़) में साढ़े चौदह वर्ष बिताए। यदि मैं वहाँ न रहता होता तो राज्यसभा का सदस्य भी नहीं बन सकता था। उनकी दी हुई 250 रुपये मासिक पेंशन मुझे मध्य प्रदेश सरकार से आज भी मिल रही है।

किसी भी भारग्रस्त कार्यकर्त्ताओं को बीसियों व्यक्तियों से सहायता लेनी पड़ती है। मुझे

डॉ० शिवप्रसाद जी गुप्त, सेठ जमनालाल जी बजाज तथा श्रद्धेय घनश्यामदास बिड़ला इन तीनों का ही कृपा-पात्र होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। गुप्त जी ने स्वयं ही बिना मेरे लिखे 50 रुपये मासिक तब तक के लिए भेजने का क्रम जारी रखा था जब तक मुझे नौकरी नहीं मिल गयी। साबरमती में मेरे प्रवासी भारतीयों से संबंधित कार्यों के लिए 250 रुपये मासिक सेठ जमना लाल बजाज से मुझे मिलता रहा था। बिड़ला जी ने दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ प्रेस के लिए मुझे 2000 रुपये दिये थे। इनके अतिरिक्त छुटपुट सहायता भी मुझे कभी-कभी मिलती रही है जैसे भाई सोहन लाल जी पचीसिया ने मुझे 50 रुपये महीने साल भर-तक भेजे थे।

बहुत-सी आर्थिक सहायता मुझे बिना माँगे ही मिली है; यद्यपि कभी-कभी याचना भी करनी पड़ी है। सार्वजनिक कार्यों के लिए याचना करने में मैं कोई बुराई नहीं समझता पर अपने लिए माँगना तो विषपान की तरह है। फिर भी मेरे मन में एक संतोष है कि मैंने पैसा जमा नहीं किया। किसी भी गृहस्थ के लिए पैसा जमा करना अनिवार्य है, पर मैं गृहस्थ धर्म का पालन न कर सका। इसे मैं अपने लिए एक जघन्य अपराध ही मानता हूँ।

27

नवयुवकों से

अपने 71 वर्षीय लेखक जीवन में अवश्य ही मुझे कुछ अनुभव ऐसे हुए हैं जिन्हें मैं नवयुवकों तक पहुँचा देना चाहता हूँ। मुझसे कुछ ऐसी ग़लतियाँ भी हुई हैं जिनकी चर्चा करके मैं नवीन लेखकों को सावधान कर देना चाहता हूँ।

पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश करने तथा सफलता प्राप्त करने का सर्वोत्तम तरीका है—'स्पेशियलाइज़ेशन', यानी किसी विषय का विशेषज्ञ बन जाना। पत्रकारिता के जीवन में सफलता का दूसरा 'गुर' है—लोक-संग्रह। क्षेत्र के प्रभावशाली नेताओं तथा प्रभावशाली कार्यकर्त्ताओं से परिचय प्राप्त कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। मुझे अपने पत्रकारी जीवन में सर्वश्री महावीर प्रसाद द्विवेदी, सी० वाई० चिन्तामणि, पद्मसिंह शर्मा, गणेशशंकर विद्यार्थी तथा पण्डित सुन्दरलाल जी से बड़ी सहायता मिली थी।

प्रतिभाशाली व्यक्तियों से प्रारम्भ से ही सम्बन्ध स्थापित कर लेना आगे चलकर लाभदायक होता है। मैंने लाला लाजपतराय जी के 'पीपुल' पत्र में बिलफ्रेड वैलक का एक लेख पढ़ा था। वह मज़दूर दल की ओर से विलायत में पार्लियामेण्ट के मेम्बर चुने गये थे और उन्होंने अपने अनुभवों पर एक लेख लिखा था। मैंने तुरन्त ही एक पत्र वैलक साहब की सेवा में भेजा जिसका आशय यह था : "आपके महत्त्वपूर्ण विचार देशी भाषाओं के पत्रों तक पहुँचने चाहिए। अंग्रेज़ी पत्र तो केवल चुने हुए व्यक्तियों तक ही पहुँचते हैं।" वैलक साहब को मेरा विचार पसन्द आया। इसके साल-भर बाद मुझे 'विशाल भारत' का सम्पादक बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और तब विलफ्रेड का परिचय मेरे लिए बड़ा लाभदायक सिद्ध हुआ। उन्होंने 'विशाल भारत' के लिए बारह-तेरह लेख भेजे और पारिश्रमिक भी नाम मात्र का ही लिया था यानी प्रति लेख एक पौण्ड। मैंने उनका सचित्र परिचय 'विशाल भारत' के द्वितीय अंक में छाप दिया था।

'नवीन लेखकों से निवेदन' नामक एक लेखमाला भी मैंने 'मधुकर' में शुरू की थी जिसके केवल चार लेख छपे थे। उसे पूरी करके पुस्तिका के रूप में छपा देने का विचार है।

मेरे पास हर सप्ताह नवीन लेखकों के पत्र आते ही रहते हैं। जिनमें वह परामर्श देने का अनुरोध करते हैं। मैं अब तक ऐसे पत्रों का उत्तर देता रहा था पर अब असम्भव हो गया है। विलायत के सुप्रसिद्ध लेखक हैवलॉक एलिस के पास भी ऐसे त्रीसियों पत्र आते थे। उन पत्रों में पूछे गये प्रश्नों पर जब एलिस साहब का कोई ट्रैक्ट छपता तो वह उसकी प्रति उन्हें भेज देते। पत्र-व्यवहार पर कम से कम 60-70 रुपये महीना मेरा ख़र्च होता है और अब सब पत्रों की स्वीकृति भेजना भी आर्थिक दृष्टि से असह्य हो गया है।

28

महत्त्व की खोज

संस्कृत का एक श्लोक है—

"घृतमिव पयसि निगूढ़ भूते-भूते च वसति विज्ञानम् ।
सततैमन्थतव्यम् मनसा मान दण्डेन ॥"

अर्थात् जिस तरह घी दूध में छिपा हुआ है, उसी प्रकार समझ-बूझ प्रत्येक प्राणी में छिपी हुई है। उसे मन-रूपी मथनिया से निरन्तर मथकर निकाल लेना चाहिए। इस दृष्टिकोण से यदि हम विचार करें तो हमें तथाकथित छोटे-छोटे व्यक्तियों में भी महत्त्व के गुण दीख पड़ते हैं। अभी कुछ दिन हुए पत्रों में एक समाचार छपा था। एक जेबकट ने किसी की जेब से 500 रुपये के नोट काट लिये पर एक दिन उसने एक चिट्ठी लिखकर उन्हें वे रुपये लौटा दिये। चिट्ठी में उस जेबकट ने लिखा था : "आपके नोटों के साथ एक चिट्ठी भी थी जिससे ज्ञात हुआ कि आप 500 रुपये किसी से लड़की की शादी के लिए उधार लाये हैं। मैं कई दिन से भूखा हूँ इसलिए 100 रुपये रखकर बाक़ी रुपये ज्यों के त्यों लौटाता हूँ।" निस्संदेह उस जेबकट ने एक समझ-बूझ का काम किया। उसका प्रायश्चित उसके अपराध से अधिक महत्त्वपूर्ण है। हमारे आसपास प्रत्येक ग्राम अथवा नगर में ऐसी बीसियों घटनाएँ घटा करती हैं जिनमें परोपकार तथा सेवा के उल्लेख योग्य दृष्टान्त उपस्थित होते हैं पर जिनकी रिपोर्ट समाचारपत्रों में कभी नहीं छपती। हमारे नगर फीरोज़ाबाद के एस० आर० के० कॉलेज के वयोवृद्ध चपरासी का लड़का मरणासन्न था और खाट से ज़मीन पर ले लिया गया था। जब यह समाचार कॉलेज के विद्यार्थियों को मिला; उन्होंने आपस में 60 रुपये चन्दा करके तुरन्त ही उसका इलाज कराया और 6-7 दिन की चिकित्सा के बाद वह बिल्कुल ठीक हो गया। इसकी ख़बर किसी अख़बार में नहीं छपी। यदि अपहरण और बलात्कार का मामला होता तो सभी पत्र उसे छाप देते।

हम लोगों को अपने जीवन में नित्य प्रति साधारण व्यक्तियों में भी अनुकरणीय गुण दीख पड़ते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम गुणों की क़द्र करें।

साबरमती आश्रम की एक घटना मुझे याद आ रही है। बापू प्रत्येक व्यक्ति से उसकी सामर्थ्य के अनुसार काम ले लेते थे। आश्रम के एक लूले-लंगड़े सज्जन को यह काम सौंपा गया था कि वह दूध लेने वालों को समय पर दूध दें और उसका हिसाब रखें। वह नियम-पालन में इतने कठोर थे कि उन्होंने माता कस्तूरबा को भी दूध देने से इन्कार कर दिया था क्योंकि वह निश्चित समय से कुछ देर से पहुँची थीं। और पूज्य 'बा' ने

इस बात का बुरा भी नहीं माना था।

फीरोज़ाबाद के एक मज़दूर बाज़ ख़ाँ को हम 15-20 वर्ष से जानते हैं। इसी बीच वह बहुत बार हमारे यहाँ काम कर चुका है। वह हमेशा समय से घण्टे-भर पहले आता है और घन्टे-भर बाद जाता है। यही नहीं, वह साथी-संगी मज़दूरों पर नियंत्रण रखता है।

मुझे अपने विस्तृत जीवन में पचासों ही बड़े-बड़े कार्यकर्ताओं के साथ काम करने का अवसर मिला, और उनमें हमने निःस्वार्थ सेवा, त्याग और बलिदान के अनेक गुण देखे हैं। स्वर्गीय नारायणदास खरे और स्वर्गीय प्रेमनारायण खरे अत्यन्त साधारण स्थिति के व्यक्ति थे। नारायणदास खरे साम्यवादी विचारों के अनुयायी थे और उनका कहना था कि "मैं नित्य प्रति भोजन पाने को ही स्वराज्य-प्राप्ति मानता हूँ। यदि मुझे आज का भोजन आज मिल जाता है तो मैं मानता हूँ कि मुझे स्वराज्य मिल गया है।" जब तक खरे जी को किसी तथाकथित निम्न-जाति-जाटव या वाल्मीकि के घर पर भोजन मिल जाता तब तक वह किसी अच्छे जातीय के यहाँ भोजन नहीं करते थे।

ओरछा राज्य में अत्याचारों के प्रति विद्रोह करते हुए वह शहीद हुए। सुना है कि ठाकुरों ने उन्हें गोली से उड़ा दिया था। वह मेरे पास प्रायः आया करते थे। एक बार मैंने उनसे पूछा, "अगर ओरछा राज्य में उत्तरदायी शासन हो जाये और आपको मन्त्री पद मिले तो आप क्या करेंगे?" उन्होंने तपाक से जवाब दिया, "मैं अपने वेतन पर तुलसी दल रख दूँगा और उसे सार्वजनिक कार्यों के लिए दान कर दूँगा। पर अपना काम मैं 20-25 रुपये किसी मज़दूरी से कमाकर चला लूँगा।" जब खरे जी शहीद हुए तो हमारे पास के गाँव के साधारण व्यक्ति भी बहुत दुखित थे। एक मेहतरानी ने स्वयं मुझसे कहा था, "अभी दो-तीन दिन पहले खरे जी ने हमारे यहाँ भोजन किया था।"

भाई प्रेमनारायण खरे जी जीवन-भर संघर्ष करते रहे और उत्तरदायित्वपूर्ण शासन मिलने पर भी उन्होंने कोई पद ग्रहण नहीं किया। अछूतों का काम करते हुए दिल का दौरा पड़ने पर उनका अकस्मात् देहान्त हो गया।

आये दिन हमारे देश में साम्प्रदायिक दंगे हुआ करते हैं। उनकी लम्बी-चौड़ी रिपोर्ट अख़बार में छप जाती है। इन उपद्रवों में कभी-कभी ऐसे उदाहरण भी सामने आते हैं कि एक हिन्दू ने मुस्लिम स्त्री-बच्चों और एक मुसलमान ने हिन्दू परिवार को सुरक्षित रखा है। स्वयं हमारे भानजे चि० डॉ० मिथिलेशचन्द्र ने पड़ौसी मुस्लिम कुटुम्ब को अपने साथ ले जाकर मुस्लिम मुहल्ले में पहुँचा दिया था जबकि कर्फ़्यू लगा हुआ था और बाहर जाना ख़तरे से ख़ाली न था।

यह दुनिया पारस्परिक सहयोग पर क़ायम है और नित्य प्रति उदारतापूर्ण घटनाएँ घटती रहती हैं। इस प्रसंग में हमें तुर्गनेव का एक गद्य याद आ रहा है। एक किसान की पत्नी पति से कह रही है, "यदि हम उस अनाथ लड़की को घर में रखेंगे तो बड़ी आर्थिक कठिनाई उपस्थित हो जायेगी। हमारे घर में नमक भी नहीं है।" किसान ने उत्तर दिया, "कोई परवाह नहीं है, हम अलोना ही खा लेंगे। पर उस अनाथ लड़की को तो आश्रय देना ही है।" संसार में बीसियों धन-कुबेर पड़े हुए हैं पर इस किसान की उदारता के सामने रॉथ्स चाइल्ड और कारनेगी की दानशीलता फ़ीकी पड़ जाती है।

अपने 71 वर्षीय लेखक जीवन में मैं बीसियों ही लेखकों, कवियों तथा कार्यकर्ताओं के सम्पर्क में आया हूँ और कुछ छोटे-मोटे कार्यकर्ताओं के शब्द-चित्र भी मैंने उपस्थित किये हैं। कौन महान् है और कौन

क्षुद्र इसका निर्णय करना कोई आसान नहीं है। सम्पादकाचार्य द्विवेदी जी से लेकर सात रुपये वेतन पाने वाले अध्यापक देवीदयाल गुप्त के रेखाचित्र मैंने उपस्थित किये थे। महाकवि रत्नाकर की सेवा में नित्य प्रति 12 दिन तक उपस्थित होकर मैंने उनका जीवन वृत्त पूछा था। स्वर्गीय सैयद अमीर अली मीर तथा पीर मुहम्मद यूनिस के स्केच तथा पत्र मैंने छापे थे। अपने 'संस्मरण' नामक ग्रन्थ में मैंने प्रेमचन्द जी तथा नाथूराम प्रेमी प्रभृति के विषय में लेख लिखे थे। यदि हम आँख खोलकर चलें तो हमें उदारता तथा भलमनसाहत के अनेक उदाहरण क़दम-क़दम पर मिले हैं, मिलेंगे।

● आचार्य श्री द्विवेदी के निवास स्थान की यात्रा मैंने तीन बार की थी। प्रथम यात्रा में मुझे एक मरघिल्ली गाय उनके दरवाज़े पर दीख पड़ी जिसके सामने हरी घास पड़ी हुई थी। अपनी नासमझी के कारण मैं द्विवेदी जी से पूछ बैठा, "यह गाय आपने क्यों पाल रखी है?" द्विवेदी जी बोले, "चौबे जी, इस गाय ने हमें वर्षों तक दूध पिलाया है। इसलिए वृद्धावस्था में हम इसका पालन-पोषण कर रहे हैं।" द्विवेदी जी के ग्राम के निकट के एक प्रतिष्ठित वैद्य मिले थे। उन्होंने मुझसे कहा, "अपनी ज़िन्दगी में मैंने अनेक राजाओं तथा ताल्लुक़ेदारों का इलाज किया पर द्विवेदी जी जैसा कृतज्ञ मरीज़ मुझे ज़िन्दगी में नहीं मिला। जब यह बम्बई से मन्दाग्नि लेकर लौटे थे तो मैंने इन्हें अपने इलाज से आराम पहुँचाया था। इसे बहुत वर्ष बीत गये पर यह हर वर्ष जाड़े के दिनों में मुझे कपड़े बनवा दिया करते हैं।" बहुत कम लोगों को इस बात का पता होगा कि 'कल्याण' के संस्थापक स्वर्गीय हनुमान प्रसाद पोद्दार ने निराश्रितों तथा संकटग्रस्तों की सहायता में एक करोड़ रुपये ख़र्च कर दिये थे। स्वयं उनके पास तो अधिक पैसा था नहीं पर वह दूसरों से दिलवा दिया करते थे। भाई सीताराम सेकसरिया भी बड़े उच्च कोटि के दानी थे और उनके साथी भाई भागीरथ जी कनोड़िया तो अपना नाम भी प्रकट कर देने के पक्ष में नहीं थे। इन दोनों ने लेखकों, कवियों, कार्यकर्ताओं और संस्थाओं की सहायता लाखों रुपयों से की थी। व्यक्तिगत रूप से मैं इन दोनों का अत्यन्त ऋणी हूँ। इन दोनों का हाल ही में स्वर्गवास हुआ है। स्वर्गीय शिवकुमार गुप्त ऐसे दानी थे कि दान देकर बिल्कुल भूल ही जाते थे। उन्होंने एक पत्र में मुझे लिखा था कि जब तक आपको कोई नौकरी नहीं मिलती, 50 रुपये महीने बराबर आपको भेजता रहूँगा। यह क्रम 7 महीने तक जारी रहा। जब मुझे 'विशाल भारत' का काम, अक्तूबर सन् 27 में मिला, तब कलकत्ते की यात्रा के लिए 50 रुपये उन्होंने ही भेजे थे। जब गुप्त जी बीमार थे तो मैंने यह बात श्री अन्नपूर्णानन्द को लिख भेजी थी। उन्होंने जब इसका ज़िक्र किया तो वह बोले, "चौबे जी यह क्या बात लिखते हैं। मुझे तो ख़्याल भी नहीं पड़ता कि मैंने कभी चौबे जी की कुछ मदद की थी।" अनेक क्रान्तिकारियों की सहायता भी उन्होंने की थी। उन्होंने 1200 रुपये गणेश जी को काकोरी केस के लिए भेज दिये थे।

हमारे देश में सहस्रों ही स्वतन्त्रता-संग्राम सेनानी ऐसे हुए हैं जिन्होंने अपने जीवन स्वाधीनता की बलिवेदी पर अर्पित कर दिये पर जिनका कोई नाम भी नहीं जानता। विदेशों में अनजाने योद्धाओं की स्मृति रक्षा के लिए स्तम्भ खड़े किये जाते हैं। अपनी बिहार यात्रा में मैंने सिवान ज़िले के एक गाँव में सात शहीदों की यादगार में एक स्तम्भ देखा। अकेले चम्पारन में 52 शहीद हुए थे और उनकी सूची एक पत्र में छपी थी। पटना सेक्रेट्रिएट के सामने शहीद हुए 7 बालकों की भव्य मूर्तियाँ भारत के एक महान् कलाकार (मूर्तिकार) ने बनायी थीं।

अमर शहीद चन्द्रशेखर आजाद की माता जी तो चौदह दिन तक हमारी अतिथि ही रही थीं। उनके 5 बच्चे हुए थे जिनमें 4 पहले जा चुके थे और पाँचवें चन्द्रशेखर आज़ाद भी शहीद हुए थे। वह

17 वर्ष तक भूखों मरती रही थीं। कोदों की खिचड़ी सबेरे बना लेती थीं, वही शाम को भी खाती थीं। जब झाँसी में आज़ाद को शरण देने वाले मास्टर रुद्रनारायण माता जी की सेवा में भावरा ग्राम में पहुँचे तो माता जी ने उनकी लड़की के लिए एक रुपया दिया और आठ आने आज़ाद को बर्फी खिलाने के लिए भी दिये। तब तक आज़ाद जीवित थे उन्होंने अपनी दो उँगलियाँ सुतली से बाँध रखी थीं और यह प्रण लिया था कि जब कोई आज़ाद की ख़बर देगा तब उन्हें खोलूँगी। उन्होंने पुत्र के जीवित होने का समाचार पाकर उँगलियाँ खोल दी थीं। कुण्डेश्वर में हमारे निवास स्थान पर वह रही थीं, तब भोजन बनवाने में मदद देती थीं। अपने एक पुत्र, जो आज़ाद से बड़ा था, के मरने पर वह सिर पटक-पटककर इतना रोयी थीं कि उनकी एक आँख ही जाती रही थी। और वह दृश्य भी मैंने अपनी आँखों से देखा था जबकि सातोर नदी के तट पर स्थित उस कोठरी में मैं उन्हें ले गया था जहाँ फ़रारी के दिनों में आज़ाद रह रहे थे। मास्टर रुद्रनारायण ने इस घटना के दिनों का ज़िक्र उनसे कर दिया था और वहाँ भी वह सिर पटक-पटककर रोयी थीं और कहती थीं : "चन्दू यहीं कहीं छिपा होगा, आता क्यों नहीं ?"

पूज्य माता जी ने अपने पाँचों बच्चों के चले जाने के बाद दिन कैसे काटे, उसकी कथा बड़ी हृदय-वेधक है। उनके अन्तिम वर्षों में स्वर्गीय भगवानदास माहौर तथा भाई सदाशिवराव जी ने उनकी जो सेवा की वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। उनकी माता जी अक्सर कहा करती थीं, "अगर चन्दू ज़िन्दा रहता तो भी वह मेरी सेवा सदू (सदाशिवराव) से अधिक नहीं कर पाता।" माता जी की इच्छा किसी बालक के विवाह में 'बन्ना' गाने की थी और उन्होंने मुझसे आग्रह किया था कि चि० बुद्धिप्रकाश जी की शादी में मुझे ज़रूर बुलाना। खेद की बात है कि मैं यह भूल गया और दूसरी बार जब माता जी पधारीं तो उन्होंने इस बात की शिकायत भी की।

पिछले इकहत्तर वर्षों में मुझे बीसियों लेखकों, कवियों, कार्यकर्त्ताओं और श्रमजीवियों के सम्पर्क में आने के अवसर मिले हैं और उनमें मैंने अनेक ऐसे गुण देखे हैं जो महापुरुषों में पाये जाते हैं। उनका वर्णन करने से इस अध्याय का आकार बहुत बढ़ जायेगा अतः इसे यहीं समाप्त करता हूँ।

29

मेरा दृष्टिकोण

प्रत्येक सजीव तथा प्रगतिशील व्यक्ति का एक दृष्टिकोण बन जाता है जिसे फ़िलासफ़ी ऑफ लाइफ़ या जीवन-दर्शन कहते हैं। यद्यपि मैं सजीव होने का दम्भ नहीं करता और न अपने को कोई विशेष व्यक्ति ही मानता हूँ तथापि अपने इकहत्तर वर्षीय साहित्यिक जीवन में किसी-न-किसी रास्ते पर चलता ही रहा हूँ और जीवन-संघर्ष ने मुझे एक दृष्टिकोण प्रदान कर दिया है। वह कितना सही है और कितना ग़लत, यह प्रश्न ही दूसरा है।

अंग्रेज़ी के महाकवि पोप ने कहा था : "द प्रॉपर स्टडी ऑफ मैन काइंड इज़ ए मैन।"

अर्थात् मानव-चरित्र ही किसी मनुष्य के लिए अध्ययन का उचित विषय है और हमारे यहाँ भी कहा गया है—"नाहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्" यानी मनुष्य से ऊँची कोई चीज़ नहीं है।

मेरे क्षुद्र जीवन का एक मुख्य उद्देश्य मानव-चरित्र का अध्ययन ही रहा है, और मैंने अनेक जीवन-चरित लिखे हैं और पचासों ही रेखाचित्र प्रस्तुत किये हैं। साहित्य-सेवियों की कीर्ति-रक्षा और शहीदों के श्राद्ध में छोटे-बड़े बीसियों ही मनुष्यों का चित्रण हुआ है। उनके चुनाव में मैंने जाति, देश और धर्म का कोई भेद-भाव नहीं रखा। जहाँ मैंने कवीन्द्र रवीन्द्र तथा महात्मा गांधी, माननीय श्रीनिवास शास्त्री और श्री रामानन्द बाबू जैसे भारतीयों को श्रद्धांजलि अर्पित की है वहाँ इंग्लैंड के एमर्सन, थोरो, गेरीसन, रूस के तुर्गनेव, टॉल्स्टॉय और गोर्की; फ्रांस के रोमा रोलाँ; आस्ट्रिया के स्टीफन ज्विग, जापान के गांधी कागावा का भी गुणगान किया है। मेरी सर्वाधिक श्रद्धा दीनबन्धु एण्ड्रूज़ में थी जो अंग्रेज़ होते हुए भी विश्व नागरिक थे। प्रिंस क्रोपाटकिन को मैं महात्मा गांधी के समकक्ष मानता हूँ। मेरी दोनों किताबें 'हमारे आराध्य' और 'सेतुबन्ध' मेरे इस कथन का प्रमाण हैं। 'हमारे आराध्य' में जो सत्रह रेखाचित्र हैं वे सब विदेशियों के हैं। इससे पाठकों को पता लग जायेगा कि मेरा दृष्टिकोण उतना राष्ट्रीय नहीं, जितना अन्तर्राष्ट्रीय है।

दलगत राजनीति में मेरी कोई रुचि नहीं है और किसी पार्टी की कंठी या घंटी अपने गले में बाँधना मैं पसन्द नहीं करता। इसलिए मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ था जब कांग्रेस की ओर से मेरा नाम राज्यसभा की सदस्यता के लिए रखा गया था। दिल्ली में जो मेरे बारह वर्ष बीते उनका अधिकांश भाग शहीदों के श्राद्ध में ही व्यय हुआ। दस वर्ष तक 'विशाल भारत' का सम्पादन करते हुए भी मैंने अपने को पार्टीबन्दी से सदा मुक्त रखा और अपने कंठ की स्वाधीनता की रक्षा भी की। जब 'विशाल भारत' के मालिक श्रद्धेय रामानन्द

बाबू हिन्दू महासभा के सभापति चुने गये तो मैंने उन्हीं के पत्र 'विशाल भारत' में इसका विरोध किया था। बड़े बाबू की यह असीम उदारता थी कि उन्होंने बुरा नहीं माना।

सत्याग्रह आश्रम साबरमती में मैं ही अकेला ऐसा व्यक्ति था जो सरकार से सहयोग करता था। वह स्वाधीनता मुझे महात्मा जी ने दे रखी थी। उनका कहना था: "रुपये-पैसे की ज़िम्मेदारी मेरी है और रहेगी पर नीति का निर्धारण करना तुम्हारे विवेक पर निर्भर है।" अहमदाबाद काँग्रेस के अवसर पर जब हकीम अजमलखाँ साहब साबरमती पधारे और मेरे कार्यालय के पास से गुज़रे तो काका साहब कालेलकर ने मेरा परिचय कराते हुए उनसे कहा था: "इस आश्रम में यही एक कॉपरेटर (सहयोगी) है।" मैं वहाँ चवन्नी का काँग्रेस का मेम्बर भी न था।

आश्रम में मैं चार वर्ष रहा और सरकार से बराबर सहयोग करता रहा। जब माननीय श्रीनिवास शास्त्री कनाडा तथा आस्ट्रेलिया की यात्रा से लौटे तो मैं उनके दर्शनार्थ बम्बई गया था और फिर उनके आग्रह पर मुझे दिल्ली भी जाना पड़ा जहाँ मैं उन्हीं के साथ लॉ मेम्बर सप्रू साहब के निवास स्थान पर ठहरा था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मिस्टर पोलक भी, जो दक्षिण अफ्रीका में महात्मा जी के सहयोगी रहे थे, सरकार से सहयोग की नीति में विश्वास करते थे। उन्हीं के आदेश पर मैंने भी श्री तेजबहादुर सप्रू साहब से सहयोग किया था। मैंने उनसे मिलने के लिए बम्बई तथा प्रयाग की यात्रा की थी।

जब मैं आश्रम में था, काँग्रेस का अधिवेशन गांधी जी की अध्यक्षता में बेलगाँव में हुआ था। पर मैं उसमें न जाकर लखनऊ के लिबरल फेडरेशन में शामिल हुआ था। वहाँ मैंने भाषण भी दिया था।

जब मैं सर सप्रू साहब से मिलकर बम्बई से लौटा था तो महात्मा जी ने मुझसे उनसे हुई बातचीत का विवरण पूछा था। मैंने उन्हें जनरल स्मट्स तथा सप्रू की झड़प की बात सुना दी थी। महात्मा जी ने हँसते हुए कहा था, "जनरल स्मट्स मुझे जानता है और मैं उसे जानता हूँ। वह सप्रू साहब जैसे व्यक्तियों को नगण्य मानता है।"

रूस की यात्रा का प्रस्ताव जब रूसी राजदूतावास के सांस्कृतिक मंत्री मिस्टर एफीमोव ने मेरे सामने रखा तो मैंने यही कहा, "मैं अनारकिस्ट (अराजकतावादी) हूँ, मुझे आप क्यों भेजना चाहते हैं?" एफीमोव साहब बड़े चतुर निकले। उन्होंने तुरन्त ही कहा, "आप अराजकतावादी बने रहिए। हमारे यहाँ मास्को में अखिल रूसी लेखकों का जो सम्मेलन हो रहा है, उसमें आप दर्शक की हैसियत से जाइये और जैसा मन में आये, बोलिये।" मैंने क्रेमलिन में जो भाषण दिया उसमें साफ़-साफ़ कह दिया, "मार्क्स और लेनिन के साथ-साथ आप क्रोपाटकिन और गांधी जी को भी लीजिए।" कृतज्ञतापूर्वक मुझे यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि अपनी रूस यात्रा में रूसी भाइयों ने मुझे पूरी-पूरी स्वाधीनता दी थी। क्रोपाटकिन के जन्म स्थान की मैंने यात्रा की थी और उनकी समाधि पर भी मैंने फूल चढ़ाये थे। इस प्रकार नदी की धारा के विरुद्ध तैरने में मुझे आनन्द मिलता रहा, पर कंठ की यह स्वाधीनता (फ्रीडम ऑफ एक्सप्रेशन) मुझे बहुत महँगी पड़ी। चरखे में श्रद्धा न होने के कारण मैंने गुजरात विद्यापीठ से इस्तीफ़ा दे दिया था और महक़मा बेकारी में मुझे साढ़े तीन वर्ष काटने पड़े थे। मेरी वह सनक सम्पूर्ण कुटुम्ब के लिए कष्टदायक सिद्ध हुई।

30

जीवन पर एक विहंगम दृष्टि

देखते-देखते मेरे जीवन के 90 वर्ष समाप्त हो चुके हैं। उन वर्षों पर जब विहंगम दृष्टि डालता हूँ तो उससे सन्तोष तो कम होता है पर खेद अधिक। प्रारम्भ में ही मैं एक बात कह दूँ, वह यह कि मैं अपने बारे में किसी भ्रम में नहीं हूँ। यद्यपि मुझे विज्ञापन आवश्यकता से अधिक मिल गया है—जो विशिष्ट विषयों पर निरन्तर लिखने का ही परिणाम है—पर लम्बे समय और प्रचुर साधनों के देखते ठोस काम बहुत कम हुआ है। अगर कोई यह कहे कि बिड़ला, डालमिया और गोइनका ने अमुक व्यापार में सौ-सौ रुपये का मुनाफ़ा किया है तो उसका वह कथन हास्यास्पद ही होगा। 71 वर्ष के लम्बे समय, अनेक महापुरुषों के सत्संग तथा साधनों की प्रचुरता की तुलना में वह सेवा जो मुझसे बन पड़ी है गौरवप्रद नहीं मानी जा सकती।

हममें से प्रत्येक को अपने जीवन के अन्तिम दिनों में अपनी पिछली जिन्दगी का मूल्यांकन बिना किसी रियायत के ख़ुद ही करना चाहिए। महात्मा जी ने एक वाक्य में कहा है: "आई एम परफॉमिंग ऐन ऑपरेशन विद ए हैंड दैट मस्ट नॉट शेक,"—यानी मैं हाथ के कम्पन के बिना एक ऑपरेशन कर रहा हूँ।

कविवर बच्चन जी की एक पंक्ति है "मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधू समझता।" बच्चन जी से क्षमायाचना करते हुए मैं इसे अपने पर यों लागू करता हूँ: "मैं छिपाना जानता हूँ जग मुझे साधू समझता।" अपने बारे में छपे प्रशंसात्मक लेखों को पढ़कर मेरे मन में यही धारणा उत्पन्न होती है कि अत्यधिक विज्ञापन—मैं उसे कीर्ति का भारी-भरकम नाम नहीं देता—लोगों को कितने भ्रम में डाल सकता है। विलायत के एक महान् लेखक हेवलॉक एलिस ने लिखा था: "कितने ही लोग चन्द्रमा की तरह अपने जीवन के शुक्ल पक्ष को ही जनता के सामने उपस्थित करते हैं और कृष्ण पक्ष को छिपाये रहते हैं।" बिना किसी, निजी प्रयत्न के यह उक्ति मेरे जीवन के बारे में चरितार्थ होती रही है। प्रवासी भारतीयों की सेवा, साहित्यिकों की कीर्ति-रक्षा, शहीदों का श्राद्ध तथा अनेक लोक-हितकारी आन्दोलनों के कारण मेरा नाम कई दशाब्दियों से निरन्तर जनता के सम्मुख आता रहा है। इसलिए मामूली पाठक का इस भ्रम में पड़ना स्वाभाविक ही है कि मैं भी कोई बड़ा आदमी हूँ।

मेरे कार्यों की अधूरी सफलताओं के कई कारण हो सकते हैं। पहला कारण यह है कि मैं कोई निश्चित योजना बनाकर काम नहीं कर सका। जो काम सामने दीख पड़ा उसी में जुट गया और पिछले आवश्यक तथा हाथ में लिये गये कार्य उपेक्षित रह गये। दूसरा कारण यह भी है कि मैं ऐसे साथी-संगी या

सहयोगी नहीं जुटा पाता जो मेरे कार्य के पूरक हों। तीसरा कारण यह भी है कि मैं संस्थाओं के चक्कर में फँस जाता हूँ। यद्यपि महात्मा गांधी और दीनबन्धु एण्ड्रूज़ ने मुझे बार-बार सावधान किया था कि संस्थाओं के मोह में न फँसना और अपने समानशील दो-तीन साथी लेकर जो भी काम कर सको करना पर मैं संस्थाएँ स्थापित करता रहा जिसमें समय और शक्ति का बड़ा अपव्यय हुआ। चौथा कारण है कि मैं अपने निजी कर्त्तव्य तथा परोपकार के बीच कोई सामंजस्य स्थापित नहीं कर सका। जीवन की सारी सफलता तथा संतुलन सामंजस्य पर ही निर्भर है। बहुत-सी औषधियाँ ऐसी होती हैं कि जिनमें सन्निहित चीज़ों के अनुपात में ज़रा-सी भी गड़बड़ होने पर वे हितकारी होने के बजाय हानिकारक हो जाती हैं। अपने आन्तरिक तथा बाह्य सम्बन्धों में सन्तुलन कायम रखते हुए आगे बढ़ना मानो "तलवार की धार पै धावनो है।"

परोपकार की धुन में मैं अपनी मानस-सन्तान (ग्रन्थ इत्यादि) तथा औरस-सन्तान (बाल-बच्चे) की निरन्तर उपेक्षा ही करता रहा। अपने जीवन में कम-से-कम एक लाख पत्र मैंने लिखे ही होंगे जिनमें से अधिकांश दूसरों के हित में लिखे जबकि घरवाले मेरे पत्रों के लिए तरसते ही रहे हैं। किसी ने कहा था : "बहुत से पत्र अपना उत्तर स्वयं ही दे देते हैं।" उसका अभिप्राय शायद यही था कि अनावश्यक पत्रों का उत्तर न देना ही यथोचित उत्तर है। पर मैं अब तक प्रायः प्रत्येक पत्र का उत्तर देता आ रहा हूँ। मज़ाक में मैं अक्सर कहा करता हूँ, "डाकखाने हमारे जैसे मूर्खों के बलबूते पर ही चलते हैं। पोस्टेज का अपव्यय करने वालों की मूर्खता से ही डाकिये की तनख़्वाह निकलती होगी।" यद्यपि मेरे द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण कवियों और लेखकों के पत्र पुस्तकाकार अथवा मासिक पत्रों में छप चुके हैं और वे जीवन-चरितों में सहायक भी सिद्ध हुए हैं तथापि लोग इस बात का अन्दाज़ नहीं लगा सकते कि यह सेवा मुझे कितनी महँगी पड़ी है। मैं पत्रों के विस्तृत उत्तर देने में अपने को उलझाता रहा। यद्यपि इससे मेरा नाम पत्र-लेखन विधा में अवश्य आ गया है तथापि यह सौदा बड़े घाटे का हुआ है।

कालिदास ने एक जगह कहा है—"शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्" यानी धर्म साधन का मुख्य माध्यम शरीर ही है। पर मैं शरीर की यथोचित रक्षा के लिए अभी भी प्रयत्नशील नहीं हूँ। श्रद्धेय बाबा पृथ्वीसिंह आज़ाद, जो इस विषय (शारीरिक स्वास्थ्य) के सबसे बड़े विशेषज्ञ हैं, अक्सर मज़ाक में कहते हैं कि "अगर महात्मा गांधी प्रतिदिन साढ़े तीन घंटे शरीर-रक्षा को न देते तो उनके सम्पूर्ण आध्यात्मिक उपदेश हवा में उड़ गये होते।" कुछ तो अपने प्रमाद के कारण और कुछ मजबूरियों की वजह से मेरा प्रातःकालीन घूमना भी बन्द-सा ही है। जिस नगर, फीरोज़ाबाद, में रहने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है वहाँ सड़कों पर निकलना या चलना ख़तरे से खाली नहीं है। मैं जब कलकत्ते में दस वर्ष, कुण्डेश्वर में साढ़े चौदह वर्ष, दिल्ली में बारह वर्ष और ज्ञानपुर तथा कोटद्वार में क्रमशः पाँच और तीन वर्ष रहा, मेरा टहलना नियमित रूप से चलता रहा, पर अपने जन्म-स्थान फीरोज़ाबाद में आकर वह पूर्ण रूप से अव्यवस्थित ही हो गया, अब तो प्रायः बन्द-सा ही है।

अपने कार्यालय की व्यवस्था मैं सुचारू रूप से कभी नहीं कर सका। महात्मा गांधी जी ने स्वर्गीय महादेव भाई देसाई के बारे में लिखा था कि वह मेज़ को हमेशा साफ़ रखते थे, यानी पत्रों का उत्तर ठीक समय पर देकर हर काम उचित समय पर निबटा देते थे। पर मेरी मेज़ हमेशा अस्वच्छ ही रही है। अनेक आवश्यक पत्र अनुत्तरित रह जाते हैं जबकि ग़ैर ज़रूरी चिट्ठियों के उत्तर चले जाते हैं।

इसका एक उदाहरण दे दूँ। मैं विश्व के महान् लेखक, सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् रोमा रोलाँ से

पत्र-व्यवहार करना चाहता था। डॉ० कालीदास नाग से मैंने कहा था कि कृपाकर मेरी सिफ़ारिश रो रोलाँ से कर दीजिए कि मेरे प्रश्नों के उत्तर भेज दिया करें। नाग साहब ने साफ़ मना कर दिया। वह न चाहते थे मैं उस वृद्ध साहित्यसेवी को कष्ट दूँ। तब मैंने दीनबन्धु एण्ड्रूज़ से सिफारिशी चिट्ठी लिखवाई। दी बन्धु ने उन्हें लिखा था कि "हिन्दी भाषा में आपका जीवन-चरित बनारसीदास चतुर्वेदी से बढ़कर कोई न लिख सकता। आप इनके प्रश्नों के उत्तर भेज दिया कीजिए।" रोमा रोलाँ ने उनकी बात मान ली। तं पत्र फ्रांसीसी भाषा में उन्होंने मुझे लिखे। वह अंग्रेज़ी नहीं जानते थे और उनकी बहिन अंग्रेज़ी अनुवाद क उन्हें सुना दिया करती थीं। मेरे सामने रोमा रोलाँ के फ्रेंच पत्रों के अंग्रेज़ी अनुवाद का प्रश्न आ खड़ा हुअ 'मॉडर्न रिव्यू' के सुप्रसिद्ध पत्रकार नीरद चौधरी फ्रांसीसी भाषा जानते थे। एक पत्र का अनुवाद उन्होंने क भी दिया पर साथ ही मुझे डाँट भी पिलाई कि उस विश्वविख्यात बुड्ढे आदमी को क्यों तंग कर रहा है दुर्भाग्यवश इसी कारण उनके दो पत्रों का उत्तर मैं नहीं दे सका। रोमा रोलाँ ने इस बात की शिकायत की थी। यदि मैं भरपूर प्रयत्न करता तो कलकत्ते में फ्रेंच भाषा जानने वाले विद्वान् मिल ही जाते। मैं निरा होकर बैठ गया। इसी बीच मैंने सैकड़ों ही पत्र मामूली आदमियों को लिखे होंगे पर रोमा रोलाँ को पत्रोत्त न दे सका।

सफलता का मूल मन्त्र है—सर्वप्रथम आवश्यक कार्य को करना—फर्स्ट थिंग्स फर्स्ट—पर मैं इ मूल मन्त्र को प्रायः भूल ही जाता हूँ। नतीजा यह होता है कि ज़रूरी काम पड़े रह जाते हैं। मैंने किसी प्रसि लेखक के बारे में पढ़ा था कि वह दूसरे दिन के प्रातःकाल के स्वाध्याय की सामग्री रात को ही इकट्ठी करके र देता था, ताकि समय की बचत हो जाये। मैंने बीसियों बार इसकी प्रतिज्ञा तो की पर दूसरे दिन के लि पाठ्य-सामग्री रख न सका।

अत्यन्त विज्ञापित होने के कारण मेरे पास प्रति मास पचासों ही पत्र आते हैं। उन्हें निबटाकर रद्दी की टोकरी में डाल देने की बुद्धिमानी मैंने कभी नहीं की। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि कभी-कभी महीनों और वर्षों के अनुत्तरित पत्र निकल पड़ते हैं और वह मुझे अपनी अक्षम्य अव्यवस्था की याद दिला देते हैं।

उपर्युक्त त्रुटियों के बावजूद कुछ सेवा पिछली सात दशाब्दियों में मुझसे बन पड़ी है, यद्यपि वह विशेष महत्त्व नहीं रखती।

31

मेरा भावी कार्यक्रम

अपने भावी कार्यक्रम के बारे में क्या कहूँ ? किसी कवि का कथन है :

कर बैठे ऐन वक्त पर जो कुछ भी बन सका,
पहले से कोई बात दिल में ठानते नहीं ।

मेरा जीवन तो प्रायः इसी पद्धति पर चलता रहा है। अनेक आवश्यक कार्य वक्त पर न हो सके और अनावश्यक कामों में उलझता रहा। पर जब जग जाये तभी सवेरा है। इसलिए "बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुधि लेय" सिद्धान्त के अनुसार मैं अपने जीवन के शेष वर्षों का सदुपयोग कर लेना चाहता हूँ।

मेरे द्वारा अपनी औरस और मानस सन्तानों की जो उपेक्षा हुई है, इसका मुझे प्रायश्चित्त करना ही है। अपने ग्रन्थों का संशोधन करके उन्हें फिर से छपाना चाहता हूँ। मेरे लिखे कई ग्रन्थ अब सर्वथा अप्राप्य हो चुके हैं। 'रेखाचित्र,' 'संस्मरण' और 'हमारे आराध्य' इन तीनों ग्रन्थों को भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ने छापा था। इनमें 'संस्मरण' की कुछ प्रतियाँ शेष हैं बाक़ी दोनों अब नहीं मिलते। सस्ता साहित्य मण्डल ने जो मेरी किताबें छापी थीं वे भी अब प्राप्य नहीं हैं। पिछले बीसियों वर्षों में मैंने जो लेख पत्रों में लिखे हैं उनसे कई किताबें तैयार हो सकती हैं, एक पुस्तक तो देश तथा विदेश के महान् पत्रकारों के रेखाचित्रों के संग्रह से बन सकती है।

सी० पी० स्कॉट, गेबिन्सन, लार्ड नॉर्थक्लिफ़, ए० जी० गार्डनर, विलियम लॉयड गेरीसन—इन पाँच विदेशी पत्रकारों तथा, रामानन्द बाबू, सी० वाई० चिन्तामणि, महावीर प्रसाद द्विवेदी, पराड़कर जी और गणेशशंकर विद्यार्थी ये दस रेखाचित्र तो तैयार हैं ही। सेंट निहाल से मैंने एक लेख डब्ल्यू० टी० स्टैड (W. T. Stad) पर भी लिख लिया था, और महादेव गोविन्द रानाडे के जीवन-चरित भी मैंने लिखे थे।

पहली पुस्तक को गंगा पुस्तक माला ने छपाया था और दूसरी को स्व० लक्ष्मीधर वाजपेयी ने तरुण भारत ग्रन्थ माला में। क्रान्तिकारियों के जो रेखाचित्र मैंने प्रस्तुत किये हैं उनसे भी दो-तीन किताबें बन सकती हैं। शहीदों और क्रान्तिकारियों के विषय में जो ग्रन्थ और विशेषाँक मैंने छपाए हैं, उनमें काट-छाँटकर कई किताबें बनाई जा सकती हैं। 'विशाल भारत' तथा 'मधुकर' के पुराने लेखों से भी कई ग्रन्थ तैयार हो सकते हैं। एक पुस्तक मेरे आन्दोलनों पर भी लिखी जा सकती है। अपने नगर फीरोज़ाबाद के बारे में

जो लेख लिखे है उनमें भी एक पुस्तक का मसाला है। 'विशाल भारत' में प्रकाशित सर्वोत्तम लेखों से भी दो-तीन संग्रह तैयार कराये जा सकते हैं।

अपने संग्रहालयों को, जो दिल्ली के राष्ट्रीय अभिलेखागार तथा आगरा विश्वविद्यालय के चतुर्वेदी ब्रज केन्द्र में सुरक्षित हैं, समृद्ध और अपटूडेट बनाना है। इन सब कामों के लिए समय, शक्ति और साधनों की आवश्यकता है। बिना किसी सुयोग्य सहायक के ये पूरे नहीं हो सकते। जैसे कोई सिद्धहस्त चित्रकार अपने चित्र को सम्पूर्ण करने के लिए उसमें यथोचित काट-छाँट करता है --उसमें 'फिनिशिंग टच' देता है, उसी प्रकार मैं भी अपनी रचनाओं का संशोधन करना चाहता हूँ पर इसके लिए सबसे आवश्यक है स्वस्थ रहना, जो इस नगर में कोई आसान काम नहीं।

सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी बाबा पृथ्वीसिंह आज़ाद ने मुझे एक मन्त्र दिया है: "जब आराम करते-करते थक जाओ तब कुछ काम करो।" मैंने जब उनसे कहा, "मैं तो इस ऊबड़-खाबड़ नगर में टहलने भी नहीं जा पाता।" तो उन्होंने उत्तर दिया, "मैं तो काले पानी की कोठरी में, जो 6 × 8 फ़ीट थी, बराबर टहल लिया करता था जबकि आपका घर तो काफ़ी लम्बा-चौड़ा है।" श्रद्धेय बाबा मुझसे उम्र में सवा तीन महीने बड़े हैं—मेरे अग्रज हैं और पूर्ण स्वस्थ हैं। उनके आदेशानुसार रहने का प्रयत्न मैं करूँगा।

घरेलू फ्रन्ट पर अपनी असफलता मैं स्वीकार कर चुका हूँ।

"दाई लव अफ़ार इज़ स्पाइट ऐट होम"—अर्थात् तुम्हारा दूसरों से प्रेम निकटस्थों के प्रति द्वेष है। यह उक्ति मुझ पर प्रायः चरितार्थ होती रही है। अधीनस्थों के प्रति जो उपेक्षा मुझसे बन पड़ी है उसका प्रायश्चित्त मुझे करना ही होगा। इससे अधिक मैं क्या कहूँ?

स्व० वेदमूर्ति सातवलेकर जी ने अपनी आयु के 90वें वर्ष में नार्थ एवेन्यू में मेरे निवास स्थान पर स्वयं पधार कर दर्शन दिये थे। उस समय उनके सुन्दर स्वास्थ्य को देखकर मुझे आश्चर्य हुआ था। उस समय उन्होंने अपने भावी जीवन के 25 वर्षों के लिए कार्यक्रम बना रखा था। जब वह मेरे यहाँ पधारे और अपना परिचय दिया तो मैंने उन्हें प्रणाम कर कहा, "आपने तो मुझ पर जुल्म किया है। आप जहाँ ठहरे हुए हैं, वहाँ से ही फ़ोन कर देते तो मैं स्वयं ही हाजिर हो जाता।" श्रद्धेय सातवलेकर जी ने मुस्कराकर कहा, "मैं इधर से निकल रहा था, सोचा आपसे मिलता चलूँ।" उन्होंने यह भी शिकायत की थी कि अमरीका का हरबर्ट विश्वविद्यालय वेदों पर जितना ख़र्च कर रहा है, उतना भारत सरकार ख़र्च नहीं कर रही।

मैं तो एक साधारण व्यक्ति हूँ और मेरी साधना सातवलेकर जी की साधना के मुकाबले शतांश भी नहीं है। मेरा जीवन कुछ व्यवस्थित और संयमित नहीं रहा। इसलिए दीर्घ आयु की आशा भी नहीं रखता। पर मेरे मन में कोई पछतावा नहीं है।

अपने दीर्घ साहित्यिक जीवन में मेरी जितनी रुचि दूसरों के साहित्यिक विकास में रही है, उतनी अपनी साहित्यिक उन्नति में नहीं। पर मैं घाटे में नहीं रहा। आचार्य वासुदेवशरण अग्रवाल, पं० हजारी-प्रसाद द्विवेदी जी तथा राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त और राष्ट्रकवि दिनकर जी के जीवन-चरितों में कहीं न कहीं मेरा उल्लेख आता ही है और तब "ज्यों पलाश संग पान के पहुँचे राजा हाथ," वाली उक्ति चरितार्थ हो जाती है। मेरा अनुमान है कि हिन्दी में पत्र-साहित्य तथा प्रवासी भारतीयों का ज़िक्र करते हुए भी मेरे नाम का उल्लेख हो सकता है। इसके सिवाय राष्ट्रीय अभिलेखागार 'दिल्ली' में तथा ब्रज केन्द्र, आगरा विश्व-विद्यालय में मेरे संग्रहालय बहुत वर्षों तक मुझे जीवित रखेंगे। यह भी एक आकस्मिक घटना समझिये कि

दीनबन्धु ऐण्ड्रूज जैसे विश्वविख्यात महापुरुष के साथ मेरा नाम जुड़ गया है। राष्ट्रीय अभिलेखागार में मेरा जो संग्रह है उसे अधिकारी व्यक्तियों ने अमूल्य कहा है। और लंकास्टर विश्वविद्यालय के प्रोफेसर टिंकर साहब ने दीनबन्धु का जो नवीन जीवन-चरित लिखा है उसमें 50 से अधिक स्थानों पर मेरा उल्लेख है। फ्राँस में वेज़िल गेट नामक एक लेखक हुए हैं जिनका सम्पूर्ण जीवन दूसरे फ्राँसीसी लेखकों के व्यक्तित्व के विकास ही में बीता। विश्वविख्यात आॅस्ट्रियन लेखक स्टीफ़न ज्विग ने अपने जीवन-चरित में वेज़िल गेट की प्रशंसा की थी।

मैं यह जानता हूँ कि मेरे पास अब समय कम ही बचा है फिर भी 'अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्' इस उक्ति के अनुसार मैं भी कुछ करते रहना चाहता हूँ। संग्रहालयों को भेजने के लिए जो सामग्री अव्यवस्थित दशा में मेरे यहाँ पड़ी है, उसकी उचित व्यवस्था करना भी एक कठिन कार्य है। जैसे बैठे-ठाले दूकानदार बाटों को तौला करता है, मैं भी शेष बची सौ-सवा सौ फ़ाइलों को उलटा-पलटा करता हूँ।

एक बात और भी कहनी है। शहीदों और क्रान्तिकारियों के विषय में मैंने जो 22-23 चीज़ें निकाली हैं, वे ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही महत्त्वपूर्ण न हों फिर भी इतिहास का कच्चा मसाला अवश्य हैं। हिन्दी में क्रान्तिकारियों के विषय में लिखने वालों को मेरे द्वारा संगृहीत सामग्री से कुछ न कुछ मदद अवश्य मिलेगी। शहीद ग्रन्थमाला में मेरी छः किताबें तो दिल्ली के प्रकाशक आत्माराम एण्ड सन्स ने छापी थीं। उनके सिवाय 15-17 विशेषांक और ग्रन्थ भी हैं। मेरे द्वारा संगृहीत तथा सम्पादित 22-23 ग्रन्थों में कुछ ऐसे अवश्य हैं जिन्हें पुनः मुद्रित किया जा सकता है।

मेरे द्वारा प्रस्तुत 200-300 रेखाचित्रों तथा संस्मरणों से कई ग्रन्थ तैयार हो सकते हैं।

अन्त में मुझे इतना ही कहना है कि मुझे किसी से भी शिकायत नहीं है। योग्यता तथा साधनों की कमी होने पर भी जो थोड़ी-बहुत सेवा मेरे द्वारा बन पड़ी वह असन्तोषजक नहीं है।

●●

परिशिष्ट

बनारसीदास चतुर्वेदी : कुछ अनकहे प्रसंग : 1

फूलों से कोमल वज्र से कठोर

□ जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी

फीरोज़ाबाद में भारती भवन में पं० बनारसी दास चतुर्वेदी की 'श्री तोताराम सनाढ्य से भेंट हुई। श्री तोताराम सनाढ्य ने फ़ीजी में गये हुए प्रवासी भारतीयों का जो वर्णन किया तो नवयुवा बनारसी दास चतुर्वेदी का हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने तोताराम जी से कहा कि आप इन घटनाओं को, अपने अनुभवों को लिख दीजिये जिससे दूसरों को पता लगे। तोताराम जी ने कहा कि मैं लेखक नहीं हूँ, कोई लिख दे तो मैं बोल सकता हूँ। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने स्वयं यह काम अपने ऊपर ले लिया। वह उस समय डेली कॉलेज, इन्दौर के, जो महाराज कुमारों का कॉलेज था, अध्यापक थे और उन्हें उस समय 80 या 100 रुपये के करीब वेतन मिलता था। लड़ाई का ज़माना था और उस समय अंग्रेज़ों की नौकरी करते हुए साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के घोर अपराधों का इस प्रकार से वर्णन करना अत्यन्त साहस का काम था। 'फ़ीजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष' ने प्रवासी भारतवासियों के लिए वही काम किया जो रुसो और वाल्टेयर की पुस्तकों ने फ्रांस की क्रांति को प्रारम्भ करने के लिए किया। परन्तु श्री बनारसीदास चतुर्वेदी यहीं पर ही नहीं रुके। उन्होंने यह संकल्प कर लिया कि इस प्रथा को समाप्त कराना है। उसके लिए उन्होंने कार्य भी किया। डेली कॉलेज की प्रोफ़ेसरी करते हुए, जहाँ उनके चेले भावी राजा-महाराजा थे, उन्होंने गिरमिट प्रथा को समाप्त करने के लिए आन्दोलन किया, 'प्रवासी भारतवासी' जैसी पुस्तक लिखी और देश के बड़े-बड़े नेताओं से मिलकर उस आन्दोलन को इतना बढ़ाया कि अंग्रेज़ सरकार को फ़ीजी में तथा अन्य उपनिवेशों में भारत से गिरमिटिया, यानी बंधुआ मज़दूर भेजना बंद करना पड़ा। फ़ीजी में भारतीयों की दुर्दशा से श्री बनारसीदास चतुर्वेदी इतने द्रवित हो गये कि उन्होंने इस कार्य में सहायता देने के लिए श्री सी० एफ० एण्ड्रूज़ के कहने से अपनी नौकरी छोड़ दी और अपना जीवन प्रवासी भारतवासियों की सेवा में लगा दिया। यद्यपि वह लिखते हैं कि आर्थिक कारणों से वह बाईस वर्षों के पश्चात् इस कार्य को जारी नहीं रख सके, पर यह उनकी विनम्रता ही है। उनका कार्य बराबर जारी रहा। जब वह संसद सदस्य थे तब उन्होंने फ़ीजी में लोतोका के बैरिस्टर श्री सुरेन्द्र प्रसाद के सहयोग से 'फ़ीजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष' को पुनः मुद्रित कराया और उसे ऐसे व्यक्तियों के पास पहुँचाया जो उससे प्रेरणा लेकर प्रवासियों का कार्य आगे बढ़ाएँ। इसी सिलसिले में और विशेषतः प्रवासी भवन की स्थापना के लिए श्री जवाहर लाल नेहरू से श्री प्रकाशवीर शास्त्री का पत्र व्यवहार करवाया जिसके परिणामस्वरूप श्री प्रकाशवीर शास्त्री को नेहरू जी ने अपनी मृत्यु से तीन दिन पहले देहरादून

से अपना ऐतिहासिक पत्र लिखा था।

मेरे सामने श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के उस पत्र की प्रतिलिपि है जो उन्होंने 2 सितम्बर, 1973 को प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी को लिखा था। उस पत्र में उन्होंने लिखा था :

"आप फ़ीजी जा रही हैं, यह जानकर हर्ष हुआ। सन् 1914 से—59 वर्ष पूर्व से—मेरा सम्बन्ध फ़ीजी से रहा है, जब मैंने पं० तोताराम सनाढ्य के लिए 'फ़ीजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष' लिखी थी।

उसकी प्रति अलग से सेवा में भेज रहा हूँ। बाईस वर्ष तक प्रवासी भारतीयों की कुछ सेवा मुझसे बन पड़ी थी—महात्मा गांधी तथा दीनबन्धु एण्ड्रूज़ के अधीन वर्षों तक मैंने यहीं काम किया था और मेरी पूर्व अफ्रीका यात्रा का व्यय सन् 1924 में पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने मुझे नैरोबी भेजा था।

कानपुर कांग्रेस में मैंने कांग्रेस में प्रवासी विभाग क़ायम कराया था। मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप—

(1) फ़ीजी के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज़ तथा मि० पियरसन की सेवाओं का उल्लेख कर दें।

(2) फ़ीजी की मुख्य देन मल्टी-रैशियल यूनिटी के रूप में हो सकती है। फ़ीजी प्रवासी भारतीयों को उसके लिए भरपूर कोशिश करनी चाहिए।

(3) महात्मा गांधी जी के 26 पत्र नेशनल आर्काइव्स में हैं। उनमें 24 पण्डित तोताराम जी तथा उनकी फ़ीजी बोर्न पत्नी के नाम हैं और 2 रा० स० मनसुख के नाम। उन पत्रों की फ़ोटो-कॉपीज़ यदि आप भेंट स्वरूप फ़ीजी की आर्काइव्स को दे सकें तो यह अत्युत्तम भेंट होगी।

(4) दिल्ली में प्रवासी भवन की स्थापना यदि हो सके तो बड़ा काम हो। पूज्य पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने अपने स्वर्गवास के तीन दिन पहले ही देहरादून से श्री प्रकाशवीर शास्त्री को इस बारे में लिखा था।

(5) मैंने एक लेख आपकी फ़ीजी की यात्रा के बारे में लिखा है। वह साथ में नत्थी है। इस लंबे पत्र के लिए क्षमा प्रार्थी

ह०—बनारसीदास चतुर्वेदी

इस पत्र की प्रतिलिपि मुझे भेजते हुए उन्होंने लिखा, "यदि आपके फ़ीजी जाने का कोई गुन्ताड़ा लग सके तो अच्छा।"

गुन्ताड़ा तो लग गया, अनायास ही फ़ीजी के हाई कमिश्नर श्री भगवान सिंह ने संभवतः बनारसी दास जी की ही प्रेरणा से प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी को सुझाव दिया कि मुझे वह पत्रकारों की पंक्ति में, जो उनके साथ जाने वाले हों, सम्मिलित कर लें और ऐसा हुआ भी, परन्तु बाद में न श्रीमती गांधी जा पायीं और न मैं। इसके बाद जनता पार्टी की सरकार आयी और श्री अटल बिहारी वाजपेयी विदेशमंत्री बने। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने उन्हें पत्र लिखा कि फ़ीजी में 15 मई, 1979 को भारतीयों के प्रवेश की शताब्दी हो रही है। इस अवसर पर भारत सरकार को फ़ीजी में भारतीयों के योगदान पर एक पुस्तक तैयार करानी चाहिए। श्री वाजपेयी स्वयं फीरोज़ाबाद गये और उन्होंने चतुर्वेदी जी से आग्रह किया कि इस काम को वह स्वयं उठा लें। भारत सरकार पूरी सहायता करेगी। परन्तु बनारसी दास जी ने यह सुझाव दिया कि यह काम युवा लेखकों पर छोड़ा जाए और बाद में उनके सुझाव के ही फलस्वरूप यह काम मुझे सौंपा गया।

इस पुस्तक को लिखने के लिए श्री बनारसी दास जी चतुर्वेदी ने अपनी सामग्री मुझे दे दी। सारे पत्र-व्यवहार के विषय में बताया जिसे राष्ट्रीय अभिलेखागार में देखा गया और जब पुस्तक तैयार हो गयी तो उसकी भूमिका भी लिखी। इसी सिलसिले में जब मुझे फ़ीजी जाने का अवसर मिला और मैं फ़ीजी के अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे नान्दी में मई, 1980 में पहुँचा तो कस्टम्स रेखा से बाहर आते हुए मुझे एक सज्जन मिले जिनको मैंने कभी नहीं देखा था, न उनसे मेरा पत्र-व्यवहार था। परन्तु श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने उनको पत्र लिख दिया था, और जब उन्हें फ़ीजी के हाई कमिश्नर के यहाँ मेरे आगमन का समय मालूम हुआ तो वह मुझसे मिलने अपने नगर लोतोका से 15 मील दूर उस हवाई अड्डे पर अपने परिवार के साथ आ गये। फ़ीजी के निवासियों में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी का कितना मान है, इसका पता मुझे तब लगा जब उन सज्जन, लोतोका के प्रसिद्ध बैरिस्टर श्री सुरेन्द्र प्रसाद ने मुझसे कहा कि आपको देखकर हम यही अनुभव कर रहे हैं कि जैसे हम श्री बनारसीदास चतुर्वेदी का स्वागत कर रहे हैं जिन्होंने हमारे लिए इतना प्रयत्न किया। श्री सुरेन्द्र प्रसाद लोतोका के मेयर रह चुके हैं और संसद सदस्य भी। वह फ़ीजी की आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान हैं। उन्होंने कभी श्री बनारसीदास चतुर्वेदी से भेंट नहीं की थी और मैं तो उनके लिए एकदम अपरिचित था परन्तु श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के एक पत्र ने उन्हें मेरे लिए अत्यन्त सहायक बना दिया। उन्होंने आग्रह किया कि जब मैं सूबा से उस नगर में आऊँ तो उनके यहाँ ही ठहरूँ। और जब मैं ठहरा तो उन्होंने स्वयं मुझे अनेकों भारतीयों से मिलाया और अन्य स्थानों पर मिलने की व्यवस्था की।

जब श्रीमती इन्दिरा गांधी पुनः प्रधानमंत्री बनीं और फ़ीजी यात्रा पर गयीं तब श्री बनारसीदास जी ने फीरोज़ाबाद के 'युग-परिवर्तन' पत्र में अपने जन्म-दिवस के अवसर पर एक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने लिखा था कि "मेरे कई स्वप्न पूरे हो चुके हैं, कितने ही अभी अधूरे पड़े हैं—जैसे नई दिल्ली में प्रवासी भवन की स्थापना। मेरा दृढ़ विश्वास है कि शीघ्र ही भारत सरकार द्वारा इस विषय में कुछ काम होगा।" पत्र की प्रति भेजते हुए उन्होंने मुझे लिखा था कि श्रीमती इन्दिरा गांधी ने लोतोका की मीटिंग में बड़ी भावपूर्ण बातें कही थीं। आशा है कि वह प्रवासी भवन के लिए दिल्ली में भूमि-खंड-प्रदान करेंगी। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने जो भूमि खंड दिया था उसे बीच में ही एस० के० पाटिल ने हड़प लिया था। पुराने रिकार्ड में यह बात मिल जाएगी। एक करोड़ प्रवासी भारतीयों के लिए दिल्ली में प्रवासी भवन की स्थापना होनी ही चाहिए। पिछले वर्ष जब उनकी पुस्तक 'नब्बे वर्ष' निकली और फीरोज़ाबाद में जब हमने उनका जन्म-दिवस मनाया तो उन्होंने फिर श्रीमती इन्दिरा गांधी को एक पत्र लिखा जिसके साथ श्री जवाहर लाल नेहरू के पत्र की फ़ोटोकापी भी निकलवाकर भेजी और उस पत्र पर अभी भी उनका पत्र-व्यवहार चल रहा है। सही बात तो यह है कि प्रवासी भारतीयों का कार्य उन्होंने कभी छोड़ा नहीं। जब मैं पुस्तक लिख चुका तो उन्होंने मुझे लिखा था कि मुझे अब इस विषय को अपना मिशन बना लेना चाहिए। यह विस्तार से मैंने इसलिए लिखा है कि पूज्य दादा जी यानी श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने जो कार्य अपने हाथ में उठाया, उसे छोड़ा नहीं।

पत्रकारों का आन्दोलन एक ऐसा विषय है जिसके लिए उन्होंने मुझे प्रेरणा दी और मुझसे कुछ सेवा भी करवाई। श्री बनारसी दास चतुर्वेदी की कथनी और करनी में कोई अंतर नहीं होता। सन् 1945 में मथुरा के अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार सम्मेलन में उन्होंने जो अध्यक्षीय भाषण दिया था उसमें इस ख़तरे की ओर आगाह किया था कि पत्रकारिता के क्षेत्र में पूँजीपतियों का प्रवेश बढ़ रहा है। पर यह कोरी

व्याख्यानबाज़ी नहीं थी। उन्होंने अपने इन विचारों के लिए ख़ासी क़ीमत अदा की। इस अधिवेशन के लगभग एक वर्ष पश्चात् ऐसा अवसर आया कि दिल्ली में एक पत्र के संचालक ने उन्हें पत्र का संपादक होने के लिए आमंत्रित किया। श्री बनारसी दास चतुर्वेदी बातचीत करने के लिए दिल्ली आये। उस समय उन्हें संचालक की ओर से बताया गया कि वेतन के रूप में उन्हें 700 रुपये मिलेंगे और उनको इस बात का अधिकार होगा कि जिस किसी को चाहें वह अपना सहायक नियुक्त कर सकेंगे और उस पर नियंत्रण रख सकेंगे। साथ ही यह भी बताया गया कि पत्र किसी ख़ास पार्टी का न होगा और न वाद-विशेष का प्रचारक। ये सारी शर्तें श्री बनारसी दास चतुर्वेदी के गौरव को ध्यान में रखकर निर्धारित की गयीं। लेकिन उन्होंने इस प्रस्ताव को भी अस्वीकार कर दिया। वह 18 नवम्बर, 1946 को दिल्ली से वापस टीकमगढ़ लौटे और 20 नवम्बर को उन्होंने उस पत्र के कार्यकारी निदेशक को जो चिट्ठी लिखी उसके कुछ अंश इस बात का परिचय देते हैं कि वह किस प्रकार के पत्रकार हैं। उन्होंने लिखा, "13 तारीख को आप और मेरे बीच जो बातचीत हुई थी, उसका सारांश निम्नलिखित है, 1. आप मुझे···के संपादन के लिए 700 रुपये मासिक वेतन देंगे, 2. पत्र की नीति सर्वथा मेरे अधीन रहेगी, अपने सहायक मैं स्वयं नियुक्त कर सकूँगा और उन पर नियंत्रण भी ख़ुद करूँगा, 3. यह पत्र किसी ख़ास पार्टी का न होगा और न वाद-विशेष का प्रचारक।

"पेशेवर पत्रकारों को यह शर्तें स्वीकार हो सकती हैं, और इसके लिए मैं उनकी आलोचना नहीं करता और मेरा ख़्याल है कि पूँजीपतियों की दृष्टि से ये शर्तें युक्तिसंगत भी हैं, पर विनम्रतापूर्वक मैं निवेदन करूँगा कि शर्त न० 3 का पालन करना मेरे लिए संभव नहीं। मेरे द्वारा संपादित पत्रिका का अराजकतावादी होना अनिवार्य है। अपने विचारों को दबाना मेरे लिए बहुत ही मुश्किल है। मैं न ख़ुद धोखा खाना चाहता हूँ और न आपको धोखे में रखना चाहता हूँ।

"अपने प्रथम पत्र में मैंने आपको स्पष्टतः निवेदन किया था कि पूँजीपतियों के इस क्षेत्र में प्रवेश से मैं आशंकित हूँ। मेरा अब भी यही मत है। यदि पत्र मेरे हाथ में आया तो उसका प्रथम लेख होगा 'पत्रकार क्षेत्र में पूँजीपतियों का प्रवेश'। लीजिये पहले ही अंक से हमारा और आपका झगड़ा शुरू हो गया। यह उदारता स्वर्गीय श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय में ही थी कि दस वर्ष तक वह मेरे स्वतन्त्र विचारों को सहन ही नहीं करते रहे, उन्हें प्रोत्साहन भी देते रहे। क्या आप और आपके साथी मुझे उतनी स्वतंत्रता दे सकते हैं कि मैं पूँजीपतियों के पत्रकार क्षेत्र में प्रवेश के विरुद्ध इस पत्र में आन्दोलन उठाऊँ और उसे ज़ोर-शोर के साथ चलाऊँ? यदि आपका पत्र पूँजीवाद के विरोध और साम्यवाद के प्रचार को सहन कर सकता है तो फिर कहना ही क्या है, मैं हाज़िर हूँ।

"किसी व्यक्ति विशेष से मेरा विरोध नहीं। यह प्रश्न दरअसल सिद्धांत का है। और सिद्धांतों की हत्या करके मैं पत्र-संपादन नहीं कर सकता। यह मैं स्वीकार करता हूँ कि जीवन में अनेक समझौते करने पड़ते हैं। मैं तो बहुत ही कमज़ोर हूँ, मैंने बहुत समझौते किये भी हैं। राज्याश्रय में अराजकतावादी का रहना ही घोर विडंबना है। यद्यपि यह बात ईमानदारी के साथ मुझे स्वीकार करनी है कि श्रीमान ओरछेश ने मुझ पर किसी भी प्रकार का नियंत्रण नहीं रखा, फिर भी वहाँ से मैंने इस्तीफ़ा दे दिया है। मिले रूखी रोटी जो आज़ाद रहकर तो है ख़ौफ़े जिल्लत के हलवे से बेहतर—भविष्य के लिए यही मेरा मूल मंत्र है। किसी चौबे के लिए हलवे का मोह छोड़ देना मुश्किल ही है।"

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को टीकमगढ़ में 280.00 रुपये मिलते थे। दूसरी तरफ दिल्ली में,

जहाँ दो महीने पहले ही श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में अंतरिम सरकार स्थापित हो गयी थी (यह दिखाई दे रहा था कि दिल्ली शीघ्र ही एक बहुत बड़े स्वतंत्र देश की राजधानी बनने जा रही है)। एक साधन-संपन्न समाचार-पत्र के संपादक का पद और उस समय किसी भी हिंदी पत्रकार के लिए अलभ्य 700 रुपये का वेतन छोड़कर रूखी रोटी के लिए तैयार रहना बड़े साहस की बात थी, परंतु जिस व्यक्ति ने अपने विचारों की ख़ातिर राजकुमार कॉलेज, इन्दौर की, महात्मा गांधी द्वारा स्थापित गुजरात विद्यापीठ की नौकरियाँ छोड़ दी हों, उसके लिए बेकारी की हालत में भी इस महत्त्वपूर्ण अवसर को छोड़ देना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

श्री बनारसी दास चतुर्वेदी पत्रकारिता के लिए एक विशेष दृष्टिकोण रखते हैं और उनकी दूर-दृष्टि में वह सब बातें बहुत पहले दिखाई देने लगी थीं, जो हम आज के पत्रकार-जगत् में देख रहे हैं। उन्होंने 24 दिसम्बर, सन् 1945 को अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार सम्मेलन के मथुरा अधिवेशन में जो भविष्य-वाणी की थी, वह आज सही दिखाई दे रही है। उन्होंने कहा था : "विचारों की स्वाधीनता हमारा मूल मंत्र है और जो स्वतंत्रता हम अपने लिए चाहते हैं उसे हमें दूसरों को भी भोगने देना चाहिए। हमें इस विषय में बहुत सतर्क रहना चाहिए कि किसी पत्र को अपने विचारों के कारण किसी अनाचार का शिकार न होना पड़े, चाहे वह अनाचार सरकार की ओर से हो, या जनता की ओर से। चाहे वह सरकार द्वारा ज़मानत माँगे जाने की शक्ल में हो या कार्यालय पर भीड़ द्वारा हमला होने या हॉकरों को पीटे जाने के रूप में। इस प्रकार के प्रत्येक अनाचार के प्रति हमें अपनी आवाज़ बुलन्द करनी चाहिए। जो पत्रकार यह समझे हुए हैं कि शासकों के परिवर्तन से, गोरों की जगह भूरे शासक आ जाने से, पत्रकारों को विचारों की स्वाधीनता मिल जायेगी, वे भयंकर भ्रम में हैं। शासन और स्वतंत्रता दोनों परस्पर विरोधी शब्द हैं और हम शासकों को, चाहे वे किसी रंग, जाति या मुल्क के क्यों न हों, महात्मा नहीं मानते। स्वाधीनचेता पत्रकारों का जीवन निरन्तर संघर्ष का जीवन है और जब तक मनुष्यों में दूसरों पर शासन करने की इच्छा विद्यमान है तब तक स्वाधीन-चेता पत्रकारों को विश्राम नहीं मिल सकता। प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं—बाबा तुलसीदास ने बिल्कुल ठीक कहा था। हमें इस विषय में अत्यंत सतर्क तथा सावधान रहने की जरूरत है। स्वदेशी सरकारों से भी पत्रकारों को काफ़ी ख़तरा रह सकता है। अपने विरोधियों का दमन करना प्रत्येक सरकार के लिए सर्वथा स्वाभाविक है।"

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी की करुणा अति विशाल है छोटे-से-छोटे साहित्यिक कार्यकर्ता के प्रति उन्हें प्रेम है। 'विशाल भारत' और 'मधुकर' के द्वारा उन्होंने अनेकों लेखकों को प्रोत्साहन दिया। जब उन्हें यह पता लगता है कि कोई संकटग्रस्त है तो अपने मित्रों और शुभचिंतकों से कहकर उसके लिए सहायता एकत्र करने में उनका सारा समय लग जाता है। मुझे स्मरण है कि जब हम टीकमगढ़ में साथ-साथ काम कर रहे थे, उस समय उन्हें दो पत्रकार बंधुओं की बीमारी का पता लगा। एक विनोद शंकर पाठक जो 'विचार' के सहायक संपादक रह चुके थे, भरी गर्मियों में ग्वालियर के एक अस्पताल में तपेदिक से पीड़ित थे। श्री पाठक की सहायता के लिए उन्होंने पचासों व्यक्तियों को लिखा कि आप दस-दस, पाँच-पाँच रुपये उन्हें भेजिये और सहायता पहुँचाइये। इसी तरह श्री विष्णु दत्त मिश्र तरंगी के भाई श्री चन्द्रशेखर मिश्र को इलाज के लिए सहायता पहुँचाई। यद्यपि वे दोनों बंधु जीवित नहीं रह सके, परन्तु मरते-मरते उन्हें यह सन्तोष रहा कि उनकी भी सुध लेने वाला कोई है। हाल ही में जब उन्हें पता लगा कि श्री सत्यभक्त बीमार हैं तो उनकी सहायता के लिए उन्होंने श्रीमती इन्दिरा गांधी को लिखा जिसकी प्रति मुझे भी भेजी और श्रीमती गांधी की

ओर से ढाई हज़ार रुपये उन्हें भेज भी दिये गये। परन्तु उनकी सहानुभूति यहाँ तक ही सीमित नहीं थी। उन्होंने 5 मार्च, 1960 में देवरिया के भाटपार रानी के उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए कहा था कि "सबसे मुख्य सवाल यह है कि अपनी आयोजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए नवीन कार्यकर्त्ता हमें कैसे मिलें ? यह बात हमें खेदपूर्वक स्वीकार करनी पड़ेगी कि हमारे साहित्य-क्षेत्र में आदर्श-वादिता की कमी है। हमारे प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित लेखक और कवि प्रायः आत्म-केन्द्रित हो गये हैं। आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, समालोचक शिरोमणि पं० पद्मसिंह शर्मा और अमर शहीद गणेशशंकर जी विद्यार्थी की परम्परा प्रायः ख़त्म हो चुकी है। और नई पीढ़ी को प्रोत्साहन देने का कार्य शायद ही कोई कर रहा हो। जिस तरह बड़े-बूढ़े पहलवान ख़लीफ़ा बनकर नये पट्ठों को तैयार करते हैं उसी प्रकार यदि वयोवृद्ध साहित्यिक नवयुवकों को अपने समय का कुछ भाग दे दें तो साहित्य क्षेत्र में उत्साह की एक लहर फैल सकती है। अन्ततोगत्वा सारा प्रश्न साहित्य-तपस्वियों पर निर्भर होगा।"

श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने स्वयं अपने को साहित्यिक तपस्वी बनाया। उन्होंने उदीयमान लेखकों की रचनाएँ छापीं ही नहीं, उन्हें प्रोत्साहित भी किया। आज हिन्दी साहित्य जगत् में कुछ बहुत बड़े नाम हमारे सामने हैं—स्व० डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, स्व० डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, स्व० श्री रामधारी सिंह दिनकर, स्वर्गीय श्री मती कमला चौधरी, स्व० श्री वंशीधर विद्यालंकार और वर्तमान लेखकों में श्री हरिवंश राय बच्चन, श्री अज्ञेय, श्री सोहनलाल द्विवेदी और डॉ० शिवमंगलसिंह सुमन। इन महान् लेखकों में अपनी शक्ति थी पर उसका विकास, उसका निखार और प्रोत्साहन श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के द्वारा मिला। एक तरफ़ उन्होंने साहित्य की महान विभूतियों को आगे बढ़ाया और उनका उचित मूल्यांकन किया, दूसरी तरफ़ उन्होंने ऐसे साहित्य का जमकर विरोध भी किया जिसको वह उचित नहीं समझते। घासलेटी साहित्य के विरुद्ध उनका अभियान इतना सफल रहा कि साहित्य जगत् में बड़े-बड़े लोग श्री बनारसी दास चतुर्वेदी के डंडे से काँपते थे।

श्री बनारसी दास चतुर्वेदी को अपने काल में जितनी देशीय और अंतर्देशीय ख्याति मिली, किसी हिन्दी लेखक या पत्रकार को नहीं मिली। फ़ीजी से लेकर गयाना तक उनके नाम से प्रत्येक भारतवंशी परिचित था, और जब उन्होंने 'विशाल भारत' का संपादन किया तो निस्संदेह वह अपने समय के सर्वश्रेष्ठ संपादक माने जाते थे। श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने हिन्दी लेखन और पत्रकारिता को अन्तर्राष्ट्रीय आयाम दिया। संसार की विभिन्न दिशाओं में क्या उपलब्धियाँ थीं, इसकी सूचना 'विशाल भारत' से मिलती थी। उन्होंने न केवल एमर्सन और थोरो जैसे अमेरिकी विचारकों से भारतवासियों को परिचित कराया, बल्कि लेव टॉलस्टॉय, प्रिंस क्रोपाटकिन, तुर्गनेव, मेक्सिम गोर्की और एण्टन चेख़व जैसे रूस के महान् विचारकों और लेखकों का परिचय हिन्दी पाठकों को दिया। यद्यपि 'विशाल भारत' ने कभी दावा नहीं किया कि वह एक प्रगतिशील पत्रिका है, परन्तु उस जैसी प्रगतिशील पत्रिका हिन्दी जगत् में तो क्या, अन्य भारतीय भाषाओं में भी आसानी से नहीं मिलती। 'विशाल भारत' में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अर्थशास्त्र, विज्ञान, नाटक, कहानी, कविता सभी के उच्च कोटि के नमूने प्रदर्शित किये गये जिन्होंने भावी पत्रकारों को मार्गदर्शन प्रदान किया। सन् 1933 में श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने 'विशाल भारत' में एक लेख लिखा—'कस्मै देवाय', जिसके द्वारा यह सूत्र प्रचारित किया गया कि हमें किसके लिए लिखना है, अपने लिए नहीं, जनता के लिए। यह आश्चर्य की बात है कि सन् 1943 में यह लेखा छपा था और सन् 1936 में श्री प्रेमचन्द की अध्यक्षता

में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। स्वयं श्री प्रेमचन्द को साहित्य जगत में उचित स्थान दिलाने में और उनको बराबर प्रोत्साहित करते रहने में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी की प्रमुख भूमिका रही है, जिसे प्रेमचन्द साहित्य से परिचित लोग भली भाँति जानते हैं। अच्छे लेखकों का प्रचार हो, उसके लिए ज़रूरी था कि जो शिष्ट नहीं है उसे ताकत के साथ दबाया जाए। यदि श्री बनारसी दास चतुर्वेदी के काल में पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र या श्री चतुरसैन शास्त्री और राधेश्याम कथावाचक बहुत आगे न बढ़ सके तो उसका कारण श्री बनारसी दास चतुर्वेदी के वे लेख थे जो 'विशाल भारत' में उनकी रचनाओं के बारे में छपे थे। दूसरी तरफ जब श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने 'मधुकर' का प्रकाशन शुरू किया तो न केवल बुन्देलखण्ड का लोक साहित्य प्रकाश में आया बल्कि अन्य भाषाओं के लोक साहित्य में भी असाधारण गति आयी। यद्यपि हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने जनपदीय कार्यक्रम स्वीकार कर लिया था परन्तु उस समिति के संयोजक श्री चंद्र-बलि शर्मा अपने आग्रह के कारण समिति का कार्य नहीं बढ़ा सके और दुखी होकर श्री बनारसी दास चतुर्वेदी को उस समिति से त्याग-पत्र देना पड़ा। परन्तु बाद में उसी साहित्य सम्मेलन ने भोजपुरी तथा हिन्दी की अन्य बोलियों पर शोध और संग्रह ग्रंथ प्रकाशित किये। बुन्देलखण्डी लोक कहानियों के ढंग की विभिन्न क्षेत्रों की लोक कहानियाँ प्रकाशित हुई और जिन लेखकों को साहित्य में पहचाना नहीं जाता था उनके नाम दूर-दूर तक फल गये। छोटे-छोटे केन्द्रों को विकसित करने की उनकी कल्पना आज भी उनके मन में बलवती है। ब्रज साहित्य मंडल के एक अधिवेशन में उन्होंने ब्रज साहित्य परिषद् की अध्यक्षता करते हुए जो विचार प्रकट किये थे वे राष्ट्रीय कार्य में साहित्य के योगदान तथा किसान और मज़दूर की बराबरी दोनों का सही प्रतिबिम्ब देते हैं। उन्होंने कहा था :"बकौल श्री कृष्ण दत्त पालीवाल हमारा मुल्क आज़ाद हो गया है, उसे आबाद करना है, हरा-भरा बनाना है। और उस महान् यज्ञ के लिए सहस्रों-लक्षों कार्यकर्ताओं की ज़रूरत पड़ेगी। ये कार्यकर्ता भिन्न-भिन्न कोटि के होंगे, जिनके बीच में छोटे बड़े का भेद नहीं हो सकता। किसान-मज़दूर के शारीरिक श्रम तथा लेखक व कवि के मानसिक श्रम में छोटाई-बड़ाई का मापदंड क्या कोई हो सकता है? किसी भवन के निर्माणार्थ इंजीनियर, कारीगर और मज़दूर सभी का पारस्परिक सहयोग आवश्यक है। दंभी हैं वे, जो अपने कार्य को महत्त्वपूर्ण समझते हैं और दूसरों के कार्य को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। निस्संदेह आज की सबसे बड़ी समस्या हमारे लिए अन्न वस्त्र की है 'भूखे भजन न होइ गुपाला। हमें स्वयं स्वेच्छापूर्वक अपने साहित्य को ही नहीं अपने जीवन क्रम को भी युगधर्मानुकुल बना लेना चाहिए।···आपने चारों ओर के वातावरण के प्रति संवेदनशील होने में ही सजीवता है और हमारे देश को सजीव साहित्यिकों की जितनी आवश्यकता इस समय है उतने पहले कभी नहीं थी।"

अन्न वस्त्र की समस्या के हल हो जाने के बाद मानसिक भोजन का प्रश्न आता है। इसका अभि-प्राय यह हर्गिज़ नहीं है कि जब तक दस फ़ीसदी अनाज की कमी पूरी न हो जाय तब तक के लिए हम सत-साहित्य के निर्माण का कार्य ही स्थगित कर दें। यह ज़बरदस्त भूल होगी, दोनों कार्य साथ-साथ चल सकते हैं और चलाये जाने चाहिए। एकांगी विचारधारा हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए विघातक ही सिद्ध होगी।

श्री बनारसी दास चतुर्वेदी संसार प्रसिद्ध पत्रकार हैं, सरकार ने उन्हें पद्मभूषण, देश ने उन्हें राज्य सभा की सदस्यता, विश्वविद्यालय ने उन्हें डॉक्टर की उपाधि दी या किसी सरकार ने किसी पुरस्कार से सम्मानित किया परन्तु उन्होंने अपने तपोनिष्ठ जीवन के 90 वर्षों में हमारी प्रेरणा के लिए अपनी कथनी और करनी द्वारा जो संदेश दिया है क्या उसका कोई प्रत्युपकार हो सकता है, हर्गिज़ नहीं। दादा जी का असंख्य लेखकों पर जो अयाचित प्रेम बरसता रहा है वह भारतीय साहित्य की एक अमूल्य पाती है, सो अलग।

ज्ञान-गंगा में विनोद-निर्झर

☐ नरेश चन्द्र चतुर्वेदी

श्रद्धेय दादा जी (पं० बनारसी दास जी चतुर्वेदी) देश-विदेश में विख्यात हिन्दी के ऐसे महान् लेखकों में हैं जो अपनी स्वाधीनता की रक्षा हेतु सब कुछ अर्पित कर देते हैं तथा उन महापुरुषों में से हैं जो अपनी महानता का प्रदर्शन नहीं होने देते। दादा जी अपने व्यवहार में किसी को भी छोटे होने का अहसास न होने देकर, समानता का स्तर प्रदान करके साथ-साथ चलने का सम्मान देते हैं। मानव मात्र के प्रति उनकी श्रद्धा और प्रेम स्पृहणीय है। व्यक्ति को छोटे-बड़े के स्थूल भेद से बाँटने के बजाय वह उसके मानवीय गुणों के प्रशंसक एवं पारखी हैं। संसार के अनेक महापुरुषों की भाँति दादा जी में विनोद-वृत्ति (ह्यूमर) भी ग़ज़ब की है। ज्ञान की गंगा में विनोद के निर्झर प्रवाहित करने की कला में वह अद्वितीय हैं। विनोद वृत्ति की सर्वोच्चता को उन्होंने स्पर्श किया है। स्वयं हँसते हुए दूसरों को हँसाने की प्रवृत्ति कमोबेश बहुत-से सत्पुरुषों में मिल सकती है किन्तु स्वयं पर हँसना और अपने पर दूसरों को हँसने का अवसर प्रदान करने की कला बहुत कम लोगों को आती है। दादा जी इस कला के आचार्य हैं। स्वयं पर व्यंग्य करना, दूसरे को व्यंग्य करने देना और कभी-कभी स्थिति को हास्यास्पद होने देना असाधारण क्षमता का द्योतक है।

दूसरों के व्यंग्य-विनोद को प्रसन्नतापूर्वक झेलने वाले दादा जी दूसरों के सद्गुणों तथा उनके द्वारा किये गये उपकारों की भूरि-भूरि प्रशंसा खुलकर करते हैं। वह परनिन्दा से जितने ही दूर रहते हैं, कृतज्ञता ज्ञापन में उतने ही सहृदय बन जाते हैं। अच्छे विचार और कामों की चर्चा करने में वह सदैव और सर्वत्र मुखर रहते हैं। लेकिन किसी के विरुद्ध षड्यन्त्र, दुरभिसन्धि तथा जोड़-तोड़ करके उसे नीचा दिखाने में उनकी कोई रुचि नहीं रहती। यद्यपि उन्होंने अपने साहित्य, पत्रकारिता तथा समाज जीवन के विस्तृत क्षेत्र में अनेक व्यक्तियों, विचारों, कार्यों एवं कृतियों का समय-समय पर डटकर विरोध किया और उसके परिणामस्वरूप उन्हें वैर-विरोध तथा तीखी आलोचनाओं का शिकार बनना पड़ा है; परन्तु आज उन कटु प्रसंगों की चर्चा भी वह नहीं करना चाहते। मैंने उनसे निवेदन किया था कि वह अपनी आत्मकथा में उन ऐतिहासिक व्यक्तियों, कृतियों, विचारों तथा घटनाओं का स्पष्ट रूप से उल्लेख कर दें ताकि लोग तत्कालीन परिस्थिति को समझ सकें। उनके द्वारा चलाये गये साहित्यिक वाद-विवाद, घासलेटी साहित्य के विरुद्ध आन्दोलन, हिन्दी-हिन्दुस्तानी, निराला एवं उग्र जैसे लेखकों की वृत्तियों की आलोचना के प्रसंग मार्मिक तो हैं ही ऐतिहासिक महत्त्व के भी हैं। परन्तु दादा जी ने उन कटु प्रसंगों पर बहुत कम लिखा है। यत्र-तत्र कहीं चर्चा की भी है तो नाम

और संदर्भ को उद्धृत किये बिना ही की है। उपर्युक्त अवसरों पर दादा जी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर जो हमले हुए उनकी भी विस्तृत चर्चा उन्होंने नहीं की।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि दादा जी को सामान्य जीवन में सफलता समझे जाने वाले अनेक अवसर मिले और साधन भी। दादा जी ने सदैव ही कहा और लिखा कि जितने साधन और अवसर उन्हें मिले उनका सदुपयोग वह नहीं कर सके। परन्तु दादा जी का कथन उनकी विनम्रता का द्योतक है, वास्तविकता नहीं। सच तो यह है कि जो भी अवसर उन्हें मिले उन्होंने सार्वजनिक महत्त्व के कई काम सम्पन्न किये और उन साधनों तथा अवसरों का सदुपयोग किया। मैं यहाँ उनके कुछ प्रसंगों की चर्चा कर रहा हूँ।

दादा जी ने हिन्दी के स्थान पर गांधी जी की हिन्दुस्तानी का साथ दिया फलस्वरूप कानपुर निवासी हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि स्वर्गीय जगदम्बा प्रसाद मिश्र 'हितैषी' ने उन पर तीखे व्यंग्य करते हुए एक लम्बी कविता लिखकर छपायी थी जिसमें महात्मा गांधी और उनके साबरमती आश्रम को भी लपेट लिया गया था। उसकी कुछ पंक्तियाँ देखें :

श्रम करने से जन होते न विरत थे।
युवती युवक सब काम में ही रत थे।।

× × ×

हिन्दी का न हित करें उर्दू के जो हामी हों।
गांधी सेवासंघ आरमी के जो कि टामी हों।।

इतना ही नहीं, हितैषी जी ने दादा जी का सिर अपने डंडे से फोड़ देने की घोषणा भी कर दी थी।

दादा जी ने उग्र और निराला के विरुद्ध जो कुछ लिखा उसके उत्तर में उग्र ने भी लिखा और निराला ने भी। निराला के विरोध में लिखने के कारण ही डॉ० रामविलास शर्मा ने चतुर्वेदी जी की खिंचाई का कोई भी अवसर नहीं छोड़ा। डॉ० शर्मा के 'निराला की साहित्य साधना' और 'भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद' इत्यादि में चतुर्वेदी जी पर की गयी चोटें देखी जा सकती हैं।

दादा जी संसद (राज्यसभा) के बारह वर्ष तक सदस्य रहे। परन्तु संसदीय कार्यकाल में रुचिपूर्वक हिस्सा लेना तो दूर वह संसद में बहुत कम बैठते थे। अपने सहयोगी साथियों से भी आग्रह किया करते थे कि संसद की नीरस कार्यवाही में समय बर्बाद न करके अपनी प्रतिभा के अनुसार कार्य करो। वह उन्हें स्वास्थ्य के लिए दोपहर को सोने का अचूक नुस्खा बताते रहते थे। उनकी इस बात को संसद सदस्य कविवर दिनकर ने अपनी एक कविता में लिख भी दिया था—

कहाँ फँसे हम सब बनारसीदास सदा कहते हैं
जंगल छोड़ कभी योगी क्या शहरों में रहते हैं।
अगर आन ही फँसे यहाँ तो समय नहीं खोओ रे
जैसे मैं सोया रहता तुम भी सुख से सोओ रे।।

पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' यद्यपि दादा जी से उम्र में छोटे थे परन्तु वह बहुत छूट ले लेते थे, डाँट-फटकार के साथ बीहड़ मज़ाक करने से नहीं चूकते थे। नवीन जी दादा जी के साथ सदैव ही मुक्त मन से बिना किसी प्रकार का संकोच रखे व्यंग्य विनोद करते रहते थे और दादा जी एक प्रकार से नवीन जी के

मनोविनोद की भोज्य सामग्री ही बन जाते थे।

कानपुर के प्रसिद्ध शिक्षाविद् श्री हीरालाल खन्ना के अभिनन्दन के अवसर पर साहित्यिकों का भी अच्छा जमाव हो गया था। दादा जी सहित राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, आचार्य नरेन्द्र देव, श्रीनारायण चतुर्वेदी इत्यादि उपस्थित थे। नवीन जी ने अपने निवास (स्व० श्री हरिशंकर विद्यार्थी के बँगले) पर एकत्रित मंडली में एक दोहा यह कहकर सुनाया कि सियाराम शरण गुप्त ने बनारसीदास जी पर एक दोहा बनाया है।

दोहा सुनकर भोले-भाले, सीधे, सरल, विनयी सियाराम शरण जी परेशान, और यार लोगों में हँसी का ज़ोरदार ठहाका !

बाबू सम्पूर्णानन्द जी से दादा जी की मित्रता सन् 1915 मे डेली कॉलेज 'इन्दौर में' जहाँ दोनों महानुभाव अध्यापक थे, हुई थी। बाबू जी बड़ी गम्भीर प्रकृति के थे। बहुत थोड़े-से व्यक्ति ऐसे होंगे जिन्होंने उन्हें ठहाका मारकर हँसते देखा हो अथवा जिनके साथ मज़ाक या छेड़-छाड़ का सम्बन्ध रहा हो। दादा जी बाबू सम्पूर्णानन्द के ऐसे ही घनिष्ठ मित्र थे जिनसे छेड़-छाड़ करने में, व्यंग्य करने में बाबू सम्पूर्णानन्द जी भी कोई अवसर नहीं चूकते थे। सम्पूर्णानन्द जी अपने पत्रों तक में विनोदपूर्वक दादा जी को संबोधित करते हुए 'श्रीयुत् टिप्पणी जी' अथवा टिप्पणी जी महाराज, लिखते थे। इस टिप्पणी की भी एक कहानी है। चतुर्वेदी जी के शब्दों में ही देखें :

"उन दिनों हमने एक पुस्तक प्रारम्भ की थी, जिसका नाम था 'चतुर्वेदियों की हीनता पर एक दृष्टि'। उस पुस्तक की रूपरेखा मैंने एक नोटबुक में दर्ज कर ली थी। एक दिन अपना क्लास पढ़ा के लौटा तो क्या देखता हूँ कि उक्त नोटबुक में ऊपर एक कविता लिखी हुई है। पद्य संस्कृत में था—

वर्षान्ते तु यथा दंशाः ग्रीष्मादौ हिमराशयः।
चतुर्वेद्याख्या भूदेवाः प्रणश्यन्ति कलौ युगे॥
त्यक्तधर्मा गता दैन्य, कालिन्दीकूलसेविनः।
कच्छवच्चाश्रुतिज्ञास्ते, मल्लकर्म्मविशारदाः॥
वयः प्राप्तस्वकन्यानाम्, प्रतिदानकराः खलु।
छिन्नाभ्रस्य गतिस्तेषाम्, आर्यधर्म्ममहाद्विषाम्॥ (इति भविष्त्खण्डे)

अर्थात् जिस प्रकार वर्षा के अन्त में दंश इत्यादि नष्ट हो जाते हैं और गर्मी के प्रारम्भ में बर्फ़, उसी प्रकार चतुर्वेदी नामक ब्राह्मण कलियुग में नष्ट हो जायेंगे। ये लोग अपने धर्म को छोड़कर दीनता को प्राप्त हो चुके हैं, जमना किनारे पड़ा रहना इनका काम है और वेद के विषय में इन्हें उतना ही ज्ञान है जितना कछुओं को। कुश्ती लड़ने में ये कुशल हैं। अपनी बड़ी उम्र की लड़कियों की सगाई ये बदले से करते हैं आर्य-धर्म के महान् द्वेषी इन चतुर्वेदियों की वही गति होगी जो तितर-बितर हो जाने वाले बादलों की होती है।

—भविष्यपुराण

"इस कविता से भी बड़ी दिल्लगी रही। अध्यापक मंडली ने इसे ख़ूब पसन्द किया। उन दिनों मैं 'विद्यार्थी' नामक पत्र के लिए कभी-कभी सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिख दिया करता था। एक दिन मुसलमान अध्यापक बन्धु ने पूछा, 'यह क्या कर रहे हो?' मैंने कहा, 'टिप्पणी लिख रहा हूँ।' उसने अन्य अध्यापकों से पूछा, 'यह टिप्पणी क्या बला है?' सम्पूर्णानन्द जी ने कहा, 'यह ख़ुद ही टिप्पणी हैं।' बस उस दिन से

हमारा नाम ही टिप्पणी पड़ गया। सम्पूर्णानन्द जी बहुत वर्षों तक पत्रों में इसी शब्द का प्रयोग करते रहे।"

सन् 1952 में जब चतुर्वेदी जी राज्य सभा के सदस्य बने तो बाबू जी ने उनके अराजकतावादी और क्रोपाटकिन के भक्त होने पर व्यंग्य करते हुए लिखा : "नर्क में प्रिंस क्रोपाटकिन की आत्मा के साथ मेरी सहानुभूति है जिनके अनुयायी का ऐसा नैतिक पतन हुआ।"

पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी दादा जी के समवयस्क अर्थात् कुछ महीने ही छोटे हैं परन्तु वह दादा जी से व्यंग्य करने का कोई भी अवसर नहीं चूकते। पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी महान् विद्वान् होने के साथ हिन्दी के श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य-लेखक भी हैं। विनोद शर्मा के नाम से उन्होंने गहरे व्यंग्य किये हैं। दादा जी के सतत् अभिनन्दन कार्य से खीझकर उन्होंने विनोद शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ जैसी उच्चकोटि की व्यंग्य कृति लिखकर प्रकाशित करायी थी। दादा जी की सादगी, सहज, सरल, सामान्यजनों से घुलने-मिलने की आदत के फलस्वरूप घटित एक घटना पर उन्होंने बड़ा ज़ोरदार विनोदात्मक लेख लिख दिया जिस्में मूँगफली बेचने वाली एक स्त्री ने दादा जी के मूँगफली का भाव पूछने पर उन्हें मूँगफली बेचने वाला समझकर बातचीत की।

दादा जी स्वयं के विषय में ख़ुद भी व्यंग्य-विनोद करने से नहीं चूकते। ओरछा नरेश वीरसिंह देव के यहाँ होली के हुड़दंग पर उन्होंने एक छन्द लिखा जिसकी अंतिम पंक्ति थी :

'डूब गयो चौबे रस रंग के चबच्चा में'

और जब आगरा विश्वविद्यालय ने उन्हें डी० लिट् की मानद उपाधि से सम्मानित किया तो दादा जी ने ख़ुद ही लिखा—

बड़े-बड़ेन की अकल हू चरन लगी है घास।
फोकट में डी० लिट्० भये श्री बनारसीदास ॥

कभी-कभी वह ऐसी बातें भी मज़ाक में कर देते हैं जिनसे अपरिचित लोगों को ग़लतफ़हमी हो जाना स्वाभाविक है। ऐसा ही एक मज़ाक उन्होंने फीरोज़ाबाद के हिन्दी लेखक श्री रतनलाल बंसल से कर दिया। बंसल जी ने देर रात घर लौटते हुए दादा जी से पूछा, "दादा जी इतनी रात को आप कहाँ से आ रहे हैं?" दादा जी ने उत्तर में कहा, "हमें ऐसी बातें पसन्द नहीं। किसी विधुर आदमी से यह पूछना कि रात्रि के समय वह कहाँ से आ रहा है, भला कोई शिष्टता की बात है।" कहना न होगा कि गम्भीरता से किये गये इस मज़ाक के अर्थ का अनर्थ भी हुआ।

दादा जी चाहे पत्र लिखें अथवा बातचीत करें सर्वत्र उनके विचार सहज अनुभूति से भरे एवं मार्मिक होते हैं। विनोद प्रसंगों की चर्चा करते हुए इतिहास के पृष्ठ जोड़ते जाते हैं। दादा जी के जीवन का क्षितिज इतना विस्तृत और बहुरंगी है कि वह जो भी बोलते-लिखते हैं, वह सहज अनुभूति से ओत-प्रोत तथा मार्मिक होता है।

अपने हाल के मुझे लिखे लम्बे पत्र में उनकी कुछ पंक्तियाँ उदाहरण स्वरूप देखें :

"दोपहर को दो या ढाई घंटे विश्राम करने की मेरी आदत तीन, अगस्त 1920 से ही पड़ी हुई थी। नवीन जी ने एक कविता की थी :

संसद में पशु बहुत हैं सिंह भेड़िया स्यार
चौबे जी तिन में लसत अजगर के अवतार।

"पूज्य दद्दा राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त से भी अच्छा मज़ाक रहता था। मैं अपने हस्ताक्षर

अंग्रेज़ी में 'बी० दास' किया करता था। दद्दा कहते थे कि तुम किस 'बी०' के दास हो, यह तो बताओ। एक बार मैंने कुछ झुँझलाहट के साथ दद्दा से कहा, 'मुझसे सभी मज़ाक करते हैं। ग़रीब की जोरू सब की भाभी।' उस पर दद्दा बोले, 'यही तो हम जानना चाहते हैं कि तुम किस गरीब की जोरू हो।'

चतुर्वेदी जी उपदेश नहीं देते परन्तु सभी को आनन्दपूर्वक जीवन जीने की बात कहते रहते हैं। लगभग 35 वर्ष पूर्व मुझे कुण्डेश्वर में उन्होंने प्रकृति के दर्शन कराये थे—वृक्ष, नदियों, झरने, पशु-पक्षी और गहन वन कान्तार के दर्शन लोक—साहित्य, लोक संस्कृति और जनपदीय आन्दोलन का महत्त्व समझाया था। कुछ वर्ष बाद राज्यसभा का सदस्य बन जाने पर दिल्ली में जब मैं उनके पास ठहरा तो वह दोपहर को सोने, कुकर का पकाया भोजन करने तथा जवाकुसुम तेल से सिर की मालिश कराने का महत्त्व समझाते थे।

मानव-चरित्र का अध्ययन वह अपना व्यसन मानते हैं। यह कार्य साधारण नहीं है। खुली आँख, मुक्त मन और सहज भाव से जीवन को जांचना-परखना कोई मामूली कार्य नहीं है। परन्तु इस ग़ैर मामूली काम को दादा जी ने सफलतापूर्वक किया है। उनके रेखाचित्र, संस्मरण, लेखों और पत्रों में इस कठिन साधना के दर्शन क़दम-क़दम पर किये जा सकते हैं। दादा जी ने अपने जीवन में महापुरुषों की खोज तो की है परन्तु सामान्य पुरुषों की भी कहीं उपेक्षा नहीं की। जो विशिष्टता उनमें देखी उसके प्रति श्रद्धा से सिर झुकाने में उन्होंने कभी मुँह नहीं मोड़ा और यही कारण है कि जहाँ देश-विदेश के महापुरुषों पर उनकी क़लम चली है वहीं रामधन चपरासी, देवीदयाल गुप्त, लल्लू कब लौटेंगे, अन्धी चमारिन जैसे चरित्र भी उन्होंने लिखे हैं।

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की इस सहज भावना ने ही हिन्दी के महानतम विद्वानों, लेखकों से उनके जीवन की ऐसी अन्तरंग सामग्री भी निकलवा ली है जो इतिहास की अन्यतम सामग्री बन सकी। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इत्यादि महापुरुषों के जीवन की बड़ी ही प्राणवान और प्रामाणिक सामग्री उन्होंने हिन्दी जगत् को उपलब्ध करायी है।

अपनी छोटी से छोटी कमी को पर्वत की ऊँची चोटी पर खड़े होकर घोषित करना और दूसरे के छोटे से छोटे उपकार तथा गुण का सहस्र मुख होकर बखान करना तो मानव क्या देवों के लिए भी दुर्लभ होता है। गोस्वामी तुलसीदास तो मानव जीवन और चरित्र के अन्यतम चितेरे थे। उन्होंने लिखा था :

निज कवित्त केहि लाग न नीका,
सरल होउ अथवा अति फीका।
परन्तु जे पर भनिति सुनत हरषाहीं,
ते वर पुरुष जगत बहु नाहीं।

मुझे सदैव ऐसा लगता रहा है कि जगत् में जो थोड़े-से वर पुरुष दूसरे की भनिति पर हर्षपूर्वक कुछ कहते हैं उनमें से एक को मैं भी पहचानता हूँ और उसी महापुरुष का नाम है—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी।

'महापुरुषों की खोज में' जीवन अर्पित करने वाले इस सत्पुरुष को यदि श्रद्धा और सम्मान मिला है तो व्यंग्य, विरोध, गालियाँ और कटूक्तियाँ भी कम नहीं मिली हैं। मैं समझता हूँ कि सामान्य में विशिष्टता की खोज, व्यक्ति के अन्तर में व्याप्त सर्वोत्तम की पूजा, निकृष्टता पर उत्कृष्टता की विजय—बस यही तो है पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की जीवन-यात्रा।

महर्षि दयानन्द शताब्दी पर मेरा प्रस्ताव

फरवरी सन् 1925 में महर्षि दयानन्द की जन्म-शताब्दी के अवसर पर मथुरा में निम्नलिखित प्रस्ताव मैंने उपस्थित किया था जो सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ था :

(क) प्रत्येक आर्य सामाजिक शिक्षा-सम्बन्धी संस्था यथाशक्ति एक अथवा एकाधिक प्रवासी विद्यार्थियों को निःशुल्क भरती करने और उनका पूर्ण व्यय सहन करने की आयोजना करे।

(ख) उपनिवेशों में शिक्षा प्रचार अथवा धर्म-प्रचार के लिए एक कार्यक्रम तैयार करने के लिए एक कमेटी नियत की जाय, जिसमें विशेषतः औपनिवेशिक भारतीयों के प्रतिनिधि भी सम्मिलित हों।

(ग) विदेशों में अब तक आर्यसमाज द्वारा जो-जो कार्य हुए हैं उनका पूर्ण विवरण शीघ्र ही प्रकाशित किया जाय।

(घ) जो आर्य सामाजिक संस्थाएँ अथवा पत्र उपनिवेशों में धर्म-प्रचार कर रहे हैं, उन्हें समुचित सहायता दी जाय।

(च) भारतवर्ष का प्रत्येक आर्य समाज उपनिवेशों से लौटे हुए प्रवासी भाइयों को अपने-अपने समाज में स्थान दिलाने के लिए भरपूर प्रयत्न करे।

यह प्रस्ताव 58 वर्ष पहले रखा गया था। इस बीच में मेरे विचारों में परिवर्तन हो गया है और मैं सर्व-धर्म-समन्वय के पक्ष में हूँ। वैसे वर्तमान समाज व्यवस्था में आमूल परिवर्तन ही हमारा युग-धर्म है।

पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी : जीवन-क्रम

जन्म तिथि : 24 दिसम्बर, सन् 1892 ई०; तदनुसार तिथि पौष शुक्ल 2 सम्वत 1949 वि०।

जन्म स्थान : फीरोज़ाबाद, ज़िला आगरा, उत्तर प्रदेश ।

पिता जी : श्री गणेशीलाल चौबे, मुर्दरिस प्राइमरी स्कूल, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, आगरा ।

शिक्षा : इण्टरमीडिएट, सन् 1914 ई०

अध्यापन : गवर्नमेंट हाई स्कूल फर्रुख़ाबाद में—सन् 1913-14 ई० (सहायक अध्यापक के रूप में)

हिन्दी अध्यापक राजकुमार कॉलेज, इन्दौर—सन् 1914 से 1920 तक ।

शान्ति-निकेतन में दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के साथ—1920 से 1921 तक ।

साबरमती आश्रम में महात्मा गाँधी के सान्निध्य में—सन् 1921 से 1925 तक।

पूर्व अफ्रीका की यात्रा—सन् 1925 ई० में ।

स्वतन्त्र पत्रकारिता के प्रयोग—सन् 1925 से 1926 ई० तक ।

इस बीच कुछ समय 'आर्य मित्र' में सहायक सम्पादक; पण्डित हरिशंकर शर्मा, प्रधान सम्पादक के अधीन कुछ दिन (21 दिन) दैनिक 'अभ्युदय' का सम्पादन ।

विशाल भारत का सम्पादन : सन् 1928 से 1937 तक ।

टीकमगढ़ में निवास तथा 'मधुकर' और 'विंध्यवाणी' का सम्पादन, सन् 1936 से 1952 तक ।

राज्यसभा में सदस्य : सन् 1952 से 1964 ई० तक ।

रूस की यात्राएँ : सन् 1959 तथा 1966 में ।

सार्वजनिक सेवाएँ :

1. अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार संघ के प्रधान (मथुरा अधिवेशन)
2. अखिल भारतीय श्रमजीवी पत्रकार संघ के प्रधान (मद्रास में)
3. ब्रज साहित्य मण्डल की स्थापना
4. जनपदीय कार्य तथा अन्तर-जनपदीय परिषद का संगठन ।

साहित्यिक आन्दोलन :

1. अश्लील साहित्य के विरुद्ध 'घासलेट साहित्य विरोधी आन्दोलन'
2. 'कस्मै देवाय' आन्दोलन ।

कार्य-क्षेत्र :

1. प्रवासी भारतवासियों की सेवा
2. शहीदों का श्राद्ध
3. साहित्य-सेवियों की कीर्ति-रक्षा

4. तथाकथित छुटभइए साहित्यकारों को प्रोत्साहन
5. नगर फीरोज़ाबाद की स्वच्छता तथा सफ़ाई के लिए प्रयत्नशील।

साहित्यिक सामग्री की सुरक्षा :

1. राष्ट्रीय अभिलेखागार, जनपथ, नयी दिल्ली द्वारा
2. श्री के० एम० मुंशी विद्यापीठ, आगरा में चतुर्वेदी ब्रज केन्द्र द्वारा।

ग्रन्थ-रचना तथा विशेषांक सम्पादन :

1. फ़ीजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष (श्री तोताराम के नाम से)
2. प्रवासी भारतवासी
3. फ़ीजी की समस्या
4. फ़ीजी में भारतीय
5. रेखा-चित्र
6. संस्मरण
7. हमारे आराध्य
8. विश्व की विभूतियाँ
9. प्रिंस क्रोपाटिकन का आत्म-चरित
10. भारत-भक्त ऐण्ड्रूज़
11. दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ मिस मार्जोरी साइक्स के साथ
12. चाँद, विशाल भारत, मर्यादा तथा नवचेतन (गुजराती) के प्रवासी अंक
14. **जनपदीय पत्रिकाएँ** : ज्योत्सना (डी० ए० वी०), अमृत (पी०डी० जैन) तथा इस्लामिया आदि कॉलेजों की पत्रिकाओं के विशेषांकों का सम्पादन।
15. **मुख्य व्यसन** : पत्र-व्यवहार।

●●●